भारतीय-आर्य भाषा

हिन्दी समिति ग्रन्थ-माला — १७

ज्यूल ब्लॉख़ कृत

भारतीय-आर्य भाषा

(वेदों से लेकर आधुनिक समय तक)

मूल फ्रेंच से अनूदित

अनुवादक
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम्० ए०, डी० फ़िल०, डी० लिट्०
हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक
हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण, १९६३ ई०

मूल्य रु० १० ५०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय प्रयाग

प्रकाशकीय

प्रोफ़ेसर ज्यूल ब्लॉख कृत 'ल'आँदो एरियाँ' (भारतीय-आर्य भाषा) नामक पुस्तक का भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विशेष महत्व है। इसमें भारतीय-आर्य भाषा सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों का विवेचन करते हुए प्राकृत अपभ्रंश और गुजराती मराठी हिन्दी आदि मध्य-भारतीय भाषाओं के विकास और साम्य-वैषम्य तथा प्रमुख विशेषताओं की चर्चा की गयी है। लेखक ने इनके काल-निरूपण अथवा स्थान-निरूपण आदि के फेर में न पड़कर मुख्य रूप से इनके भाषा-विज्ञान सम्बन्धी तथा व्याकरण सम्बन्धी तथ्यों का ही वर्णन करने का प्रयास किया है। पुस्तक बड़ी खोज और बड़े परिश्रम से लिखी गयी है और इसके अनुवादक डॉ० वार्ष्णेय ने भी हिन्दी में मूल के भावों का यथानुरूप समावेश करने का यथाशक्ति भर प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं छपते समय इसका प्रूफ स्वयं देख लेने का कष्ट भी आपने उठाया है जिसके लिये हम आपके अनुगृहीत हैं।

यद्यपि पुस्तक बहुत पहले ही छपने के लिये दे दी गयी थी फिर भी कितने ही संकेत और नये टाइप तैयार कराने की कठिनाई के कारण इसके प्रकाशन में बहुत समय लग गया। आशा है समिति की एक अन्य पुस्तक "भाषा सर्वेक्षण" की तरह इसका भी हिन्दी के विद्वानों और भाषा-मर्मज्ञ पाठकों में यथेष्ट समादर होगा और वे भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन में इससे समुचित लाभ उठा सकेंगे।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

अनुवादक की ओर से

गार्सां द तासी कृत 'इस्त्वार द ल लितेरात्यूर ऐंदूई ए ऐंदूस्तानी' के हिन्दी से संबंधित अंशों का अनुवाद (१९५२ ई०) पूर्ण कर लेने के पश्चात् मेरा ध्यान प्रो० ज्यूल ब्लॉख कृत 'ल'ऐंदो एरियाँ' ('भारतीय-आर्य भाषा') की ओर गया। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का महत्त्व सर्वविदित है। अतएव मैं इस ग्रन्थ का अनुवाद करने का लोभ-संवरण न कर सका। अनुवाद अक्तूबर, १९५६ ई० में पूर्ण हो गया था। किन्तु औपचारिक कारवाइयों के पूर्ण होने, मुद्रण के लिये विशेष टाइपों के ढालने और फिर मुद्रित होने में जो समय लगा उसके बाद अब यह सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हिन्दी के विज्ञ पाठकों के सामने प्रस्तुत है। उत्तर प्रदेशीय सरकार की हिन्दी समिति ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया एतदर्थ मैं उसका अत्यन्त आभारी हूँ।

अनुवाद-कार्य अत्यन्त कठिन है—विशेषतः किसी यूरोपियन भाषा से हिन्दी में अनुवाद करना और जब कि हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली की समस्या भी सामने हो। यद्यपि मूल की सहज-स्वाभाविक शैली का अनुवाद में लाना सरल नहीं है, तो भी प्रस्तुत अनुवाद में मूल के अधिकाधिक निकट रहने की चेष्टा की गयी है और शब्दों के रूपान्तरण तथा उनके वर्ण-विन्यास में एकरूपता रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है। मूल से यदि कोई असामंजस्य रह भी गया होगा तो विश्वास है कि पाठकों को उसके समझने में कठिनाई न होगी।

जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों का संबंध है, कुछ पारिभाषिक शब्द तो ऐसे हैं जिनके लिये उपयुक्त हिन्दी-शब्दों का अभाव नहीं है। किन्तु ऐसे पारिभाषिक शब्द भी मिले जिनके हिन्दी प्रतिशब्दों का अस्तित्व ही नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अधिकारी विद्वानों के साथ परामर्श द्वारा और कुछ उपलब्ध शब्द-कोशों की सहायता से हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों का चयन किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिये अन्त में हिन्दी-अँगरेजी और अँगरेजी-हिन्दी पारिभाषिक शब्द-कोश संलग्न है। प्रस्तुत अनुवाद में व्यवहृत शब्द तो उनमें हैं ही, साथ ही ऐसे शब्द भी हैं जिनका प्रयोग अनुवाद में नहीं किया गया यद्यपि ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। विविध उपलब्ध शब्द-कोशों से सहायता लेते समय यह भी पाया गया कि दो भिन्न अँगरेजी-शब्दों के लिये एक ही हिन्दी-शब्द चुना गया है। ऐसे शब्द भी प्रस्तुत

अनुवाद के साथ संलग्न कोष्ठों में दे दिये गये हैं। आशा है हिन्दी के भाषा-विज्ञान के विद्वान् इस संबंध में अपना अंतिम निर्णय देंगे और हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली को अनिश्चितता की व्यथा से मुक्त करेंगे। हिन्दी प्रदेश में भाषा-संबंधी स्थिति को ध्यान में रखते हुए फ्रेंच-शब्दों के आधार पर कोश प्रस्तुत करना उपयुक्त नहीं जान पड़ा।

इसके अतिरिक्त अनुवाद के संबंध में मैं जिन अन्य बातों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ वे इस प्रकार हैं

१ अनुवाद में मूल के स्वर-भेदक चिह्न ज्यों-के-त्यों ग्रहण कर लिये गये हैं। इन चिह्नों सहित नये टाइप ढलवाने में प्रेस को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। जहाँ कठिनाई दुःसाध्य प्रतीत हुई वहाँ मूल के स्वर-भेदक चिह्न नहीं दिये जा सके—विवशतावश। किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

२ स्वर भेदक चिह्नों की कठिनाई के कारण ही उदाहरणों के टाइप के और सामान्य टाइप के आकार-प्रकार में अन्तर नहीं किया जा सका। उदाहरण यदि इटैलिक्स या अन्य किसी प्रकार के टाइप में दिये जाते तो स्वर-भेदक चिह्नों के टूट जाने या न उभरने की आशंका थी। ह्रस्व तथा दीर्घ ए, ओ पर स्वर-भेदक चिह्न इसलिए नहीं लगाये गये क्योंकि संस्कृत और आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं तथा बोलियों में उनकी क्या स्थिति है, यह भाषा-विज्ञान के विद्वानों को विदित ही है।

३ विराम-चिह्नों के प्रयोग और वाक्य-संगठन की दृष्टि से मूल के ही निकट रहने की चेष्टा की गयी है।

४ मूल में भारतीय-आर्य भाषाओं के उदाहरण-क्रम में दिये गये शब्दों का फ्रेंच में अनुवाद दिया गया है। प्रस्तुत अनुवाद में फ्रेंच में दिये गये ऐसे अनुवादों का, कुछ अपवादों को छोड़कर, अनुवाद नहीं किया गया क्योंकि हिन्दी तथा अन्य भारतीय-आर्य-भाषा-भाषियों की दृष्टि से ऐसा करना पुनरावृत्ति मात्र होता और प्रस्तुत अनुवाद का व्यर्थ ही कलेवर बढ़ता। मूल लेखक ने तो सम्भवतः फ्रेंच भाषा-भाषियों को दृष्टि-पथ में रखते हुए उदाहरण-क्रम में दिये गये शब्दों का फ्रेंच में अनुवाद किया था। इसी प्रकार ग्रीक लैटिन आदि शब्दों को ग्रीक और रोमन लिपियों में भी देना अनावश्यक समझा गया। किन्तु कुछ विदेशी विद्वानों, उनके ग्रन्थों और साथ ही शब्दों के कुछ उदाहरणों आदि को रोमन लिपि में भी प्रस्तुत करना इसलिए उचित समझा गया ताकि भ्रम के लिये कोई गुंजाइश न रह जाय।

वास्तव में संदिग्ध और अस्पष्ट स्थलों के न रहने देने की यथाशक्ति चेष्टा करना अनुवादक का मुख्य उद्देश्य रहा है।

५ मूल का अनुवाद करते समय सबसे बड़ी कठिनाई अनेक संक्षिप्त रूपों के हिन्दी-रूपान्तरों के संबंध में रही। खेद है, प्रो० ज्यूल ब्लॉख़ ने केवल भाषाओं से संबंधित थोड़े-से संक्षिप्त रूपों को छोड़कर, पुस्तक में कहीं भी उनके पूर्ण रूप नहीं दिये। एक ही संक्षिप्त रूप के हिन्दी में दो या तीन पूर्ण रूप तक हो सकते हैं। प्रो० ज्यूल ब्लॉख़ के निकट रहकर अध्ययन करने वाले कुछ विद्वानों से भी इस संबंध में कोई विशेष सहायता प्राप्त न हो सकी। अतएव जिनके पूर्ण रूप निश्चित समझे गये उन्हें हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया गया है। संदिग्धपूर्ण रूपों को ज्यों-का-त्यों रहने देना ही उचित जान पड़ा। उदाहरणार्थ Sn. हो सकता है 'सुत्तनिपात' का संक्षिप्त रूप हो किन्तु निश्चितता के अभाव में वह अनुवाद में ऐसा ही मिलेगा। किन्तु ऐसे स्थल कम हैं।

६ फ्रेंच ग्रन्थों में विषय-सूची अन्त में और सहायक ग्रन्थों की सूची प्रारंभ में मिलती है। अनुवाद में ग्रन्थ-सूची तो प्रारंभ में ही रहने दी गयी है, किन्तु विषय-सूची भी प्रारंभ में रख दी गयी है, क्योंकि अँगरेजी-ग्रन्थों के अधिक सम्पर्क में आने के कारण हम हिन्दी भाषी विषय-सूची को अन्त में रखने के अभ्यस्त नहीं रहे हैं। अनुवाद में अनुक्रमणिका भी जो मूल में नहीं है दे दी गयी है। और कोई विशेष परिवर्तन पुस्तक के मूल रूप में नहीं किया गया।

श्रीमती ब्लॉख़ और मूल ग्रन्थ के प्रकाशक ने अनुवाद करने के लिये अपनी अनुमति प्रदान की इसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना मेरा कर्तव्य है।

मैं श्री डॉ० धीरेन्द्र जी वर्मा (सम्प्रति, सागर विश्वविद्यालय में लिंग्विस्टिक्स के प्रोफ़ेसर), डॉ० उदयनारायण तिवारी (सम्प्रति, जबलपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफ़ेसर), श्री माताबदल जायसवाल (हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) और अपने विश्वविद्यालय के फ्रेंच भाषा के प्राध्यापक डॉ० ए० के० मिश्र का उनके विद्वत्तापूर्ण सत्परामर्शों के लिये आभारी हूँ। इतने पर भी अनुवाद में यदि कोई दोष रह गया है तो उसका उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर है।

हिन्दी विभाग
विश्वविद्यालय, प्रयाग
१९ दिसंबर, १९६२ ई०

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

विषय-सूची

चतुर्थ खण्ड

संक्षिप्त रूप

भाषा-नामों के संक्षिप्त रूप

(पु० — पुरानी)

अं० — अंग्रेज़ी
अप० — अपभ्रंश
अ० मा० — अर्ध-मागधी
अव० — अवधी
अशोक० — अशोक के अभिलेख गि० (गिरनार) का० (कालसी) शा० (शाहबाजगढ़ी)
पू० 'पूर्वी' समुदाय
अस्क० — अस्कुन
उ० — उड़िया
क० — कन्नड़
कश्० — कश्मीरी
खो० — खोवारी
गा० — अवेस्ता की गाथा
गु० — गुजराती
ग्री० — ग्रीक
छ० — छत्तीसगढ़ी
ज० — जर्मन
त० — तमिल
ती० — तीराही
ते० — तेलेगू
तोर० — तोरवाली
ने० — नेपाली
पं० — पंजाबी
पश० — पशाई

पा० — पाली
पु० फ़ा० — पुरानी फ़ारसी
पु० रा० — टेसिटरी की पुरानी पश्चिमी राजस्थानी'
प्रभु० — प्रभुम (बेरोन)
प्रा० — प्राकृत
फ़ा० — फ़ारसी
बं० — बंगाली
ब्र० — ब्रजभाषा
म० — मराठी
मा — मागधी
मार० — मारवाड़ी
रा० — राजस्थानी
स — सहूँया
शि० — शिना
शौ० — शौरसेनी
सं० — संस्कृत
सिंह० — सिंहली
सि० — सिगान (जिप्सी-भाषा) (यू० — यूरोप की ए — एशिया की)
दु० रु० — दु० दुत्रल द र्‍यूँ (Dutreuil de Rhins)
हि० — हिन्दी

स्वरान्तरों के सम्बंध में कोई बात नहीं कहनी सिवाय इसके कि भारतीय-आर्य भाषा के 'ए' (o) और 'ओ' (o) लिखने के लिए केवल दीर्घ रूप में लिखे गये हैं और बोलियों में जहाँ वे कुछ ह्रस्वों के विपरीत हैं नहीं लिखे गये।

अनुवादक द्वारा प्रयुक्त संक्षिप्त रूप

अथर्व० — अथर्ववेद
अशोक० — अशोक के अभिलेख
आ० गृ० — आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आ० श्रौ० — आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
इंडि० ऐंटी० — इंडियन ऐंटीक्वेरी
ऋ० — ऋग्वेद

ऐ० ब्रा०—ऐतरेय ब्राह्मण
पू० ए०—पूर्वी एशियाटीक (J As.)
तुल०—तुलनीय (cf.)
तै० प्राति०—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता
दश०—दशकुमार चरित
ब्रा०—ब्राह्मण ग्रन्थ
महा०—महाभारत
मृच्छ०—मृच्छकटिक
मै० सं०—मैत्रायणी संहिता
यजु०—यजुर्वेद
लै०—लैटिन
वा० सं०—वाजसनेयी संहिता
शकु०—शकुन्तला नाटक
श० ब्रा०—शतपथ ब्राह्मण
सह०—सहवाकनरी
साम०—सामवेद

(जिन शब्दों के आगे ० है, वहाँ ० के स्थान पर वचन कारक आदि पढ़ना चाहिए।)

मूल लेखक द्वारा

भूमिका

भारतीय आर्य भाषा, जिसका मैं यहाँ विकास प्रस्तुत करना चाहता हूँ, उन दो समुदायों में से एक की भाषा है जो भारतीय-ईरानी नाम से पुकारी जाने वाली प्रागैतिहासिक भारत-यूरोपीय भाषा और जिसे बोलने वालों के नाम के आधार पर आर्य कह सकते हैं (अ० ऐर्य, पु० फ़ा० अरिय, सं० आर्य से मिलता है)। इस भाषा की विशेषताओं का उल्लेख मेइए (Meillet) की पुस्तक 'दाइलेक्त आँदो-यारोपिएँ' अध्याय २ में मिलेगा (तुल० राइशेल्ट, 'अवेस्ता० ऐलीमें० § ८)। प्राचीनतम आर्य पोथियों से प्रकट होता है कि ये भाषाएँ उसी समय विभक्त हो गयी थीं और इनके प्रणेता ईरान की सीमा से लगे हुए भारतीय भूमि भाग को छोड़ कर, क्रमशः ईरान और भारत में बस गये थे।

भारत से बाहर उपलब्ध उसके कुछ और प्राचीन, किन्तु परोक्ष प्रमाण मिलते हैं। ईसा पूर्व चौदहवीं शताब्दी में फ़राओं से विवाह तथा राजनीति द्वारा संबंधित मितन्नी (उत्तर फ़रात) के राजकुमारों के अर्थ-पक्ष के नाम आर्यों जैसे मालूम होते हैं। उनमें से एक ने १३८० (ई० पू० ? -अनु०) के लगभग हित्ती राजा के साथ संधि करते समय अपने देवताओं का साक्षी रूप में आह्वान किया था जो इस प्रकार युग्म रूप में हैं: मित्र और वरुण (वरुन ? -अनु०), इन्द्र और नासत्य। ऋग्वेद में भी मित्र और वरुण दोनों साथ-साथ चलते हैं और अश्विन् संबंधी ऋचा में एक स्थान पर 'इन्द्र नासत्या' में दोनों संयुक्त रूप में मिलते हैं, किन्तु ईरान में वरुण देवता नहीं है और अवेस्ता में नाओंहैथ्य और इन्द्र असुर हैं।

तब भी देवताओं के नाम ऐसे होते हैं जो सर्वत्र उधार लिये जा सकते हैं, लेकिन हित्ती भाषा में अश्व-पालन पर लिखित एक पोथी में एक, तीन, पाँच, सात, नौ घुड़दौड़ों का प्रश्न है; उन्हें प्रकट करने वाले शब्द आर्य हैं; विशेषतः ऐक-वर्तन 'एक चक्कर' 'एक' संख्या में -क- प्रत्यय लगा कर बना है जो अब तक इस संख्या के लिए केवल संस्कृत में ज्ञात है।

तो १४वीं शताब्दी से पूर्व के एशिया माइनर में आर्यों का केवल चिह्न ही नहीं पाया जाता, वरन् वास्तव में उसी जाति के चिह्न मिलते हैं जो भारत में संस्कृत लायी। किन्तु अभी यह निश्चित करना असंभव है कि भारत पर आक्रमण बाद में हुआ अथवा बाद में

आने वाली जातियों के लोगों द्वारा हुआ अथवा वे ही भारत से लौट गये थे। ये ही समुदाय थे जिनके कारण संभवत फ़िनो-उग्रीय भाषाओं (finno-ougrien) में संस्कृत में ज्ञात शब्दों का प्रचार और प्रत्यक्षत ईरानी में अभाव कहा जा सकता है मौरदावक तोर्‌र्भंग् सं० तृण—'घास का तिनका'—(भारत-यूरोपीय शब्द संस्कृत में विशेष अर्थ) वोगुल पक्‌, सं० पशु(ई० सेबी Ungar Jahrb vi ९१ के अनुसार)।

ये परोक्ष प्रमाण भारत में बस गये आर्यों के अत्यन्त प्राचीन प्राप्त ग्रन्थों अर्थात् वेदों के प्रकाश में स्पष्ट हो जाते हैं।

इन ग्रन्थों की भाषा यद्यपि सर्वप्राचीन ईरानी के बहुत निकट है तो भी वह ध्वनि-प्रणाली पर आधारित कुछ स्पष्ट और निश्चित विशेषताओं के कारण उससे पृथक हो जाती है।

भारतीय-आर्य भाषा की दो विशेषताएँ हैं प्रथम मूर्धन्यों के नवीन वर्ग की उत्पत्ति द्वितीय ष् और ॑ का लोप यद्यपि उनके समकक्ष अघोष ध्वनियाँ बनी हुई हैं। शेष के लिए, प्रमुख विशेषताएँ ईरानी में हैं प्रथम सोष्म ध्वनियों का यथेष्ट विकास महाप्राण अघोष ध्वनियों का सोष्मीकरण सामूहिक दृष्टि से अघोष ध्वनियों का सोष्मीकरण (उदा० फ़, सं० पेम प्र—पहले—सी प्रो) द्वितीय स् का ह् में परिवर्तन होना तीन महाप्राण ध्वनियों का अ-महाप्राणत्व तत्सम्य ध्वनियों का दन्त्य ध्वनियाँ हो जाना (अ सत्र्गम् फ़ा० सद् सं० शतम्—'सौ' अ जात फ़ा० जाद सं० जात—'पैदा हुआ') व्यंजनों के मध्य में भारोपीय *ə से उत्पन्न इ का लोप। स्वर ॠ की दृष्टि से भी दोनों भाषाओं में अन्तर है।

इसके विपरीत रूप-विचार की दृष्टि से इतनी समानता है कि उसे लगभग पूर्ण (समानता) कहा जा सकता है जो थोड़ी-सी विभिन्नता है वह किसी प्रधान बात पर आधारित नहीं है अनेक प्रमुख बातों में ■ एक अति प्राचीन अ० मन पु० फ़ा मना के विरुद्ध संबंध० एकवचन सं० मम्—'मेरा' के पुनर्निर्माण की क्रिया में है। शब्दावली-संबंधी विभिन्नता को आँकना कठिन है क्योंकि अन्य कारणों के अतिरिक्त प्राचीन पोथियाँ दुर्लभ हैं और शैली नितान्त रूप से याज्ञिकों की है।

इस अंतिम कथन से कम-से-कम एक बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों भाषाओं की प्राचीन पोथियाँ काफ़ी निकट हैं वास्तव में वे नैसर्गिक रूप से प्राचीन हैं। ऋग्वेद विभिन्न युगों का संग्रह है जिसकी कुछ बातें संभवत भारत में आर्यों के बस जाने से पहले की हैं उसमें शैली और व्याकरण की एकता रखी गयी है किन्तु शब्दावली प्रकट करती है कि यह एकता कृत्रिम है ग्रामीण ध्वनि-विशेषतायुक्त शब्दों का अस्तित्व और साथ ही उनकी विरलता से यह प्रमाणित होता है कि उनका चयन हुआ था। ज्यों-ज्यों

इन प्राचीन ऋचाओं को समझना तेजी के साथ कठिन होता गया, विभिन्न संप्रदायों ने उनका पाठ सुरक्षित रखा, व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताओं का अध्ययन किया, अभिव्यंजनाओं का भाष्य किया। अथर्ववेद या जादूगरों का वेद, संभवतः उतना ही प्राचीन है जितना ऋग्वेद, किन्तु अपने विषय के कारण अधिक लोकप्रिय, अनेक बातों के संबंध में भाषा की अत्यन्त प्रारंभिक अवस्था का द्योतन करता है।

हम देखते हैं कि भारतीय-आर्य भाषा के प्राचीनतम साक्ष्य एक मूलभूत कठिनाई प्रस्तुत करते हैं जो प्रत्येक युग के संबंध में पैदा होती है। वे केवल आंशिक रूप में भाषा का रूप प्रदर्शित करते और शैली-विधि बताते हैं तथा वे असम्बन्धित हैं। उतना ही अधिक वे भारतीय-आर्य भाषा के उस रूप का अत्यन्त अपूर्ण आभास देते हैं जो मूलतः भारत में प्रचलित हुआ था। उनमें नेताओं के अपने पुरोहितों और चारणों के साथ नगर-दुर्गों में या कम-से-कम उन दुर्ग-रक्षित गाँवों में जो गंगा की घाटी में बिखरे हुए निवास-स्थानों की दृष्टि से अब तक पंजाब की विशेषता है, बसने की झलक मिलती है, गाँवों में, दुर्गों और नहरों से सींचे जाने वाले खेत स्थायी निवास और धरती पर रम जाने के प्रमाण हैं। किन्तु आबादी के विभिन्न स्तरों ने किस भाग में कृषि-कर्म ग्रहण किया, किस सीमा तक आर्यों और मूल निवासियों में पारस्परिक घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ था? इसके संबंध में बिल्कुल ज्ञात नहीं होता। हर हालत में नेताओं ने बर्बरों से मिलते जुलते नाम ग्रहण किये जिससे उसी समय कुलीन वर्ग तक में मिश्रण हो जाना स्वीकार किया जा सकता है।

वैदिक ऋचाओं से भाष्य-साहित्य की ओर आने से भौगोलिक सीमाओं के पूर्व की ओर फैलने और विस्तृत भाषा-संबंधी नवीनताओं के प्रमाण तुरन्त मिलने लगते हैं। ये अंतिम बातें क्या स्थानीय लोगों में आर्य भाषा के प्रचार के कारण थीं? यदि धान की खेती का मतलब एक घनी और निरन्तर फैली हुई आबादी से सूखे प्रदेशों के पशु पालन और कृषि-कर्म की अपेक्षा अधिक घने सामाजिक संगठन से है, तो ऐसा मान लेने का लोभ होता है, थी स्लिमों गंगा के भूमि-भागों में 'मिश्रण के उन प्रदेशों का, जहाँ भारतीय सभ्यता का जन्म हुआ जहाँ वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ' अनुमान करते हैं (दे० 'एशी ई मूसी' II पृ० १९ वाँ अध्याय)। किन्तु यदि भाषा का बाद का इतिहास इसका प्रमाण नहीं देता, तो हमें उसे अस्वीकार करने का अधिकार है। जो पोथियाँ हमने देखी हैं उनसे उसके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं होता वे सांप्रदायिक साहित्य की हैं। भाषा जो मंत्र—छंदस्—आदि का विरोध करते समय पाणिनि का प्रतिनिधित्व—निरंतर—करती है, ब्राह्मण वर्ग की शैली के अनुरूप है और वह पाणिनि के जन्म-स्थान शलातुर के लोगों की नहीं है ईसा से १५० वर्ष पूर्व की शैली जो

उसके भाष्यकार दक्षिण-निवासी पतंजलि का प्रतिनिधित्व करती है मध्य देश में शिक्षा-प्राप्त ब्राह्मणों की शैली का उदाहरण है। संस्कृत एक वर्ग की संपत्ति और सांस्कृतिक भाषा है। क्योंकि उसी समय कलिंग का राजा खारवेल अपने वीर-कृत्य एक ऐसी मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा बताता है जो उसी समय परिष्कृत हो चुकी थी एक शताब्दी पूर्व, वे अभिलेख जिनमें अशोक ने अपनी जनता को संबोधित किया है विभिन्न बोलियों की विशेषताओं से युक्त मध्यकालीन भारतीय भाषा से प्रकट हुई हैं, और उससे भी पहले संभवत प्राचीन साहित्य की निस्सन्देह हर हालत में ब्राह्मण कार्यों के विषय में रचना-विधि के समकालीन महान् धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों बौद्ध जैन धर्मों का इसी सामान्य भाषा में प्रचार हुआ था।

उस समय के बाद संस्कृत निर्जीव नहीं हो जाती वरन् नवीन प्रयोग ग्रहण करती है। विदेशी विजेता राजकीय अभिलेखों के लिए उस पर अधिकार प्राप्त करते थे १५० (?—अनु०) का ईरानी खशामन का शिला-लेख संस्कृत में है, जब कि उसके सातकनी (सातकर्णी ?—अनु०) प्रतिद्वन्द्वी भारतीय माध्यम का प्रयोग करते हैं (एस० लेवी जे ए० एस० १९०२ I, १०९) कुछ बौद्ध संप्रदायों ने अपने धार्मिक नियम संस्कृत में लिखे हैं स्वयं ब्राह्मणों ने उसका भौतिक विज्ञान जैसे चिकित्सा या अर्थ के लिये ऐसे साहित्य महाकाव्य के लिये जिसके द्वारा सर्वसाधारण को उपदेश दिया जा सकता है, प्रयोग किया। किन्तु इन धर्मों अथवा नये बसे हुए लोगों को संबोधित करने के लिए, संस्कृत की प्राचीन रहस्यात्मकता दूर करना अनिवार्य था।

उसका व्याकरण सरल हो जाता है, जैसा कि एक ऐसी भाषा में होना चाहिए जो देशी (native) नहीं रह जाती और जिसका समझना अनिवार्य हो जाता है, उदाहरणार्थ उसमें विकरणयुक्त संज्ञाओं के करण० और कर्ता० बहुवचन में केवल प्रत्यय रह जाता है यह सरलता क्रिया में विशेषत प्रकट होती है जहाँ परिवर्तन रूप पूर्णत लुप्त होने लगते हैं जब कि दूसरी ओर वाच्य में सामान्य रूप पाये जाते हैं। रूप-विचार के विपरीत प्राचीन शब्दों के अप्रचलित हो जाने पर भी शब्दावली अत्यधिक समृद्ध हो जाती है और यह न केवल क्योंकि पोथियों में नये विषयों का निरूपण होता है, वरन् क्योंकि नयी आर्य बोलियाँ और देशी भाषाएँ नवीन शब्द ले आती हैं। इस प्रकार संस्कृत समाज के उच्च वर्गों की भाषा रह गयी किन्तु इस संस्कृत और वैदिक (संस्कृत) के बीच अन्तर मिलता है।

इसका निष्कर्ष है कि यह भाषा किसी प्रकार का ऐसा साक्ष्य नहीं है जिसका भाषा विज्ञानी सीधे-सीधे उपयोग कर सकता हो यह उसे यह प्रदर्शित करने की सुविधा प्रदान करती है कि संस्कृत के रूप में पुरानी भाषा परिवर्तन के लक्षण ग्रहण किये हुए भी किन्तु

यह मध्यकालीन भारतीय भाषा के परिवर्तन-क्रम के रूप में माना जाना चाहिए। यह कोई संयोग नहीं है कि महाभारत में अनेक ऐसे छन्द मिलते हैं जो बौद्ध धार्मिक नियम की छन्द-सूची में फिर मिलते हैं साथ ही अधिक उचित रूप में, जो अवेस्ता और वेद से मेल नहीं खाते एक ही भाषा के ये दो परिवर्तन क्रम हैं, जिनका विकास वास्तव में क्लैसीकल संस्कृत छिपाये हुए है और जिनकी प्रवृत्ति ठीक-ठीक रूप म मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रतिबिंबित होती है।

तब भी महाभारत स्मृतियाँ आदि की संस्कृत एक ऐसी मध्यकालीन भारतीय भाषा पर आधारित है जिसे वह कुलीन रूप प्रदान करती है। बाद का क्लैसीकल साहित्य साधारण बोलने वालों से पूर्णतः पृथक् हो जाता है, इस काल म मध्यकालीन भारतीय भाषा अत्यन्त प्रचलित रूप में विविध भाषाओं की सामग्री प्रस्तुत करती है— गीति-कविता की नाटक की उपदेश की संस्कृत फिर से एक संप्रदाय की भाषा बन जाती है जिस तक केवल श्रेष्ठ वर्ग की पहुँच रही, 'देववाणी' ने अधिक सामान्य प्रयोग ग्रहण किये किन्तु वह 'ऊँचाई स पृथ्वी का केवल स्पर्श करती है' (एस० लेवी)। उसका व्यवहार करने वाले विशिष्टवर्गीय लोग उसके साथ मनमौजी तरीके से खेल करते हैं वे उसके परंपरागत व्याकरण का पूर्ण कट्टरता और भद्देपन तक के साथ प्रयोग करते हैं जैसा कि संधि और सामान्य यौगिक शब्दों के अत्यधिक विस्तार में पाया जाता है, जहाँ तक उसके शब्द-भंडार का संबंध है, वे कुछ शब्दों को उनका वैदिक अर्थ प्रदान करते हैं (श्लोक—'पद्य'), वे शाब्दिक पर्यायवाचियों की तुलना पर अर्थ-विस्तार करते हैं (इन्दु- के अनुसार मृग 'चौपा' अम्बर- के अनुसार वस्त्र आकाश') वे उससे मनमाने व्युत्पन्न (धातु) निकालते हैं श्री वाकरनागेल (Wackernagel) ने दिखाया है कि वे किस प्रकार एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से एक शब्द में अर्थ-विभाजन करते हैं (धारण—'विरोध, रक्षित' धारण—'आश्रय देना रक्षा करना', ग्रभ्—'ग्रहण करना' ग्रम्—जाना, लेना', शुक्र—'ग्रह विशेष' 'वीर्य, शुक्र-'शक्र')। किसी भी जीवित भाषा में ऐसी विचित्रताओं पर नियंत्रण नहीं होते, भाषाविज्ञानी यदि क्लैसीकल संस्कृत में शैली के इतिहास के अतिरिक्त कुछ और खोजता है तो उसके हाथ लगभग कुछ भी नहीं लगता।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की ओर फिर से आइए, हमने देखा कि जिसका विकास उस युग से पहले का है जिसे महाभारत नामक महाकाव्य स द्योतित किया जा सकता है। बौद्ध सम्राट अशोक क शिलालेखों के रूप म (ईसा पूर्व २७० या २५० के लगभग) हमें उसका एक सु-तिथि साक्ष्य मिलता है और साथ ही संपूर्ण भारतीय इतिहास का प्रथम सु-तिथि साक्ष्य है। उनकी तिथि और उनकी सापेक्षिक निष्कपटता

के अतिरिक्त अनेक वास्तविक भाषाओं का तत्कालीन ज्ञान कराने में उनका लाभ है जो सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत 'लिंग्विस्टिक सर्वे' के संपादन होने के समय तक विद्यमान है।

ये चार वर्गों में विभाजित हैं : भारत के उत्तर-पश्चिम की ओर सीमा पर खरोष्ठी (अथवा खरोष्ट्री : आरमेनी कृत हस्तलिपि से उत्पन्न) लिपि में शिलालेख जिनमें संस्कृत ऊष्म विद्यमान हैं जिनमें ष्व का ऊष्म+व् का ईरानी रूप है, जिनमें विकरणयुक्त रूप पुल्लिंग संज्ञाओं का अधिकरण -ए या -स्मि में है : गिरनार के शिलालेख, जिनमें 'स्त् स्त्' 'स्थ् स्त्' हो जाते हैं जिनमें संज्ञाओं का अधिकरण -ए या -म्हि में है : गंगा की घाटी और महानदी के उद्गम के शिलालेख जिनकी विशेषता र् के स्थान पर ल् के प्रयोग, संस्कृत अंतिम -अः से उत्पन्न -ओ का -ए में परिवर्तन, मध्य वर्तमान कालिक कृदन्त -अ(स्)सि में सामान्य एकवचन अधिकरण आदि में है। अंत में दक्खिन का शिलालेख जो इसके अतिरिक्त कि उसमें र् कम-बढ़ रूप में ल की ओर समस्त पड़ता है अंतिम से साम्य रखता है : भाबरा के शिलालेख [स्वर-मध्यग ल र् एक साथ किन्तु बैरट (बैराट ?-अनु०) वाला अंश बिल्कुल समीप नहीं है] सांची का स्तंभ अपवाद और दूर दक्षिण में तुंगभद्रा (मस्की सिद्धपुर, कोपबल एरागुडी) की घाटी का संपूर्ण (सोपारा ?-अनु०) समुदाय अत में पश्चिम की ओर सोपरा का संबंध इसी समुदाय से है।

यह विभाजन ज्ञात साहित्यिक बोलियों में से कुछ के साथ नितान्त सादृश्य-विहीन नहीं है : उत्तर-पश्चिमी समुदाय का ह० दुमु से साम्य है : गिरनार बौद्ध पाली के निकट है : गंगा वाला समुदाय क्लैसीकल नाटकों की मागधी के; अन्त में दक्खिन में सुरक्षित र् और -ए में कर्ता एकवचन का सहअस्तित्व जैन धर्म नियम की याद दिलाता है। किन्तु इन समानताओं को गंभीरतापूर्वक लेने से दो मुख्य क्लैसीकल प्राकृतों की यद्यपि उनके भौगोलिक नाम हैं तुल्यता का अभाव मिलता है : शौरसेनी और महाराष्ट्री। इसके अतिरिक्त अशोक के समय के लगभग निकट के कुछ शिलालेख मिलते हैं जिनकी विशेषताएँ उनके शिलालेखों से केवल आंशिक रूप में मिलती हैं। ऐसा मगध (की बोलियों) के संबंध में समीप के ऊष्मों की विविध अनुलेखन-पद्धतियां में (सोगौड़ा में उससे पौत्रता में तालिम्ब किन्तु रामगढ़ में दुतनक बराबर में दशलथ अशोक के पौत्र का नाम) मिलता है। कुषाणों के शिलालेखों और शहबाजगढ़ी की बोलियों में भी समानता है किन्तु कुछ विरोध भी है जिन्हें बताने में समय का व्यवधान यथेष्ट है। 'गंगा की' अशोक-शैली में लिखित सोपरा वाला अंश एक ऐसे प्रदेश में मिलता है जहाँ र् और कर्ताकारक -ओ वाले शिलालेख प्राप्त हैं (नासिक नानाघाट कार्ले कुड़ा) मध्य भाग में भी स्वयं मथुरा मिलता वेसनगर, सांची में यही बात है। पूर्व की

ओर, धौली के अति निकट उदयगिरि में अशोक से एक शताब्दी बाद खारवेल की प्रशस्ति यही विशेषतायें प्रदर्शित करती है।

भौगोलिक स्थानीयता की अपेक्षा और बातें भी विचारणीय हैं, किन्तु समूचे द्रविड़ प्रदेश में कृष्णा के निम्न भाग में शिलालेख धारण किये हुए स्तूपों की भांति—जिनमें ९ और भी हैं—पूर्णतया समुदाय का अस्तित्व उस बात की ओर संकेत करने के लिए यथेष्ट होगा।

दो प्राचीन उत्कीर्ण लेखों से यह तुरंत ज्ञात हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा विभाजित थी और कुछ भाषाएँ अपने प्रधान क्षेत्रों से बाहर फैल गयी थीं। किन्तु नक्शे में विस्तार के उन केन्द्रों को बताना असंभव है। केवल मागधी का विस्तार स्पष्ट है। इस दृष्टि से अशोक की बोली को, जिसके चिह्न पश्चिम में दिल्ली और उसके बाद तक मिलते हैं, पूर्वी कहना उचित होगा। अन्य सामग्री विभाजन के केवल नवीन प्रमाण देती है, और स्थानीयता की नयी समस्यायें प्रस्तुत करती है।

बौद्धों की कृपा से, हमारे पास उन भाषाओं के संबंध में कई प्रमाण मिलते हैं जो ऐसा प्रतीत होता है, वैयाकरणों द्वारा व्यवस्थित नहीं हुई और किसी भी हालत में गंगा की घाटी वाले भारत से आयी हुई भाषाओं द्वारा परिमार्जित नहीं हुई। सुदूर पश्चिम में—शहबाजगढ़ी के भूमि-भाग में—अनेकानेक कुषाण शिलालेखों का उल्लेख किया जा चुका है किन्तु जो दक्षिण में मोहेंजोदड़ो तक और पूर्व में मथुरा तक मिलते हैं वे प्रत्यक्षतः आपस में संबंधित हैं, जो एक ओर शहबाजगढ़ी के शिलालेख की लिखावट में और दूसरी ओर दु॰ की हस्तलिखित पोथी में, ईसवी सन् के लगभग पंजाब से खोतान लाये हुए एक धर्मपद के अंश अंत में कुछ विस्तार की दृष्टि से उसी समय तुर्किस्तान में, निय (Niya) और लोप-नोर (*Lop-nor*) तक प्राप्त अभिलेखों की भाषा की लिखावट में स्पष्ट—और संभवतः कुछ-कुछ उस लिपि की विधि पर निर्भर—है। किन्तु यह अंतिम क्योंकि यह व्यावहारिक बातों की भाषा है अनुरूप और साहित्य से स्वतंत्र है और ईरानी के संसर्ग से बहुत विकसित हुई है। इसके अतिरिक्त कुछ स्पष्ट अन्तर हैं। अशोक वाला अधिकरण एकवचन -अस्ति फिर अन्य शाखाओं में नहीं पाया जाता और कुषाणों का -अ(य)मि निय का -अमि भी धम्मपद में विभक्त दीर्घ रूप के स्थान पर संबंधवाचक हो जाता है नहीं है जिससे पा॰ अस्मिम् लोके परम्हि च—इस लोक में तथा दूसरे में—के विरुद्ध अस्मि लोकि परसवि होता है। केवल हु॰ कुमु॰ में अनुनासिक के बाद आने वाली स्पर्श ध्वनि का घोषीकरण हो जाता है जब कि अशोक के शिलालेखों में पूर्वकालिक कृदन्त -ति अथवा -तु में कुषाणों के में -त(वति) में है तो हस्तलिखित पोथी

किस्व (पा० करवा) पितृवन (पा० पेतृयान) बनाये रखती है और कुषाण लिपि के विरुद्ध नहीं निहै (पा० निमाय) प्रस्तुत करती है। विकरणयुक्त रूप का कर्ताकारक एकवचन पुल्लिंग अशोक के लेखों में -ओ, कुषु० में -ओ या -उ में होता है, किन्तु वरदक (Wardak) वाले को छोड़ कर सिन्धु के पश्चिम वाले शिलालेखों में -ए (बुरे कुए 'बुरे हुए कूँए') है। जिस वाले में कर्ताकारक का अन्त अवल आता है। किन्तु तबे (तत: जैसा कि अशोक वालों में) प्रकार और सुवेमि 'मैंने सुन लिया है' का नवीन रूप प्राचीन -ओ के परिवर्तन को ही प्रदर्शित करते हैं।

क्या यह अंतिम परिवर्तन स्थानीय प्रभावों के कारण है (दे० कोनाव 'खरोष्ठी इंस्क्रिप्शन्स' पृ० cxii)? इस परिस्थिति में अशोक के गया की घाटी वाले शिलालेखों (अशोक० उत्तशिलाते मुखठे तसो पछा की लिय कोसंनवे तवे तवो पचा ७२२ की ८ से समानता द्रष्टव्य है) में मिलने वाली एक ही बातों के परिवर्तन से उसे पृथक करना चाहिए, और उनसे जो सिंहल में भी मिलती हैं क्योंकि सिंहली उत्कीर्ण लेख-विद्या अशोक की तरह की लिपि में लिखे गये छोटे शिलालेखों में अभिव्यक्त हुई है। महलेने——सयस (उसी समय महाप्राणत्व का लोप देखिए) दिने——'संघ को दी-गयी बड़ी गुफा'।

किन्तु खास भारत के स्तूपों के शिलालेखों में यह अंतिम -ए नहीं है। ये सब सिंहली धर्म-नियम की भाषा पाली के उससे साम्य स्थापित किये बिना निकट हैं। उदाहरणार्थ साँची और भरहुत में भावात्मक -ओतो पा० -अतो में है। यह अन्तर काल-क्रम के कारण हो सकता है। किन्तु भिछु (भिक्षु) रूप पा० भिक्खु से मेल नहीं खाता। न्हुसा सुसा (स्नुषा) पा० सुण्हा हुसा (किन्तु यह दूसरा रूप कुछ तीव्र) से मेल नहीं खाते। यहाँ तक स्वयं पाली जो सिंहल में लायी गयी है, से संबंध है, यह कहाँ से आया? बौद्धों ने उसे मागधी नाम दिया है, यह उसके भाषा-विज्ञान वाले रूप के अनुरूप नहीं है। किन्तु यह बात स्पष्ट हो जाती है यदि हम श्री प्रिज़िलुस्की का यह कथन स्वीकार कर लें ('ल लेजांद द लांपरयार अशोक' पृ० ७२ ८९) कि धर्म-नियम कोसाम्बी में लिखा गया था जहाँ 'पूर्वी' बोली में अशोक का एक शिलालेख वास्तव में मिलता है। तो भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बौद्ध संघ की भाषा यहाँ और स भासी भरहुत तीन सौ किलोमीटर से अधिक है और इसके अतिरिक्त यह देखा जा चुका है कि यहाँ के शिलालेख बिल्कुल ठीक पाली में नहीं है। और दूर खोज की गयी है स्वयं उज्जैन में तक्षशिला में बिना निश्चित प्रमाणों के। किन्तु एक ओर तो पाली का ठीक-ठीक उत्पत्ति-बिन्दु और इस संबंध में युक्ती स्थानीय भाषा के मूल प्रमाण कि यह भाषा हमारी पोथियों की पाली से निस्संदेह मेल

नहीं मानी जानी चाहिए। क्योंकि परंपरा के अनुसार थेरवाद का धर्म-नियम सिंहल में ईसवी सन् से कुछ पूर्व लिपिबद्ध हुआ था। दूसरी ओर ४५० ई० के लगभग, मगध के एक ब्राह्मण बुद्धघोष के, जिसे संस्कृत न केवल ज्ञात थी किन्तु उस समय जब कि उसकी टीकाएँ लिपिबद्ध हुईं वह विद्यमान थी निरीक्षण में उसकी टीका हुई थी और यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका पाठ संस्कृत आदर्श को ध्यान में रखते हुए दुहराया गया भी है सबसे प्राचीन लिपि जो हस्तलिखित पोथियों की परंपरा को पुनः स्थापित करती है १२वीं शताब्दी की है जब कि वैयाकरणों ने सामान्य भाषा का विधिपूर्वक उल्लेख किया है (एच० स्मिथ 'सद्दनीति' पृ० v)। इसके अतिरिक्त पुनरावृत्त रचनाओं और पारिभाषिक संज्ञाओं की कुछ अनियमितताओं के कारण भी एस० लेवी (जे० ए० एस० १९१२, II पृ० ४९८) ने भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एक अति प्राचीन 'पूर्व-धर्म नियम'-भाषा के चिह्न पाये हैं और जो अशोक-कालीन पवित्र पोथियों का संकलन करते समय काम में लायी जा चुकी थी (यह वास्तविक बौद्ध 'मागधी' तो नहीं है?)। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि जैन धर्म-नियम और बौद्ध धर्म-नियम के लगभग समकालीन होने चाहिए, संभवतः एक ऐसी भाषा में सुरक्षित हुए थे जिसका रूप कहीं अधिक प्राचीन था बौद्धमत के विपरीत जैनमत ने 'कहना चाहिए, अर्द्ध-मागधी को मूल आधार मान कर, उस पवित्र भाषा के रूप में ग्रहण किया' (एस० लेवी), राजकीय खारवेल की, प्रशस्ति के लिए, एक अधिक श्रेष्ठ पाली के निकट, भाषा का प्रयोग होते देखा जाता है किन्तु दोनों भाषाएँ साहित्यिक भाषाएँ हों और लोक-प्रचलित भाषाओं की अनुकरण-मात्र न हों यह बात अनेक शैली-रूपों की शृंखला से तुरंत प्रकट हो जाती है।

बौद्धों ने तो—बिना संस्कृत भाषा के—एक और साहित्यिक भाषा का व्यवहार किया है। मथुरा में संस्कृत के अति निकट किन्तु अशुद्ध, शैली में लिखित जैन बौद्ध और साथ ही ब्राह्मण शिलालेखों का एक पूरा भंडार है उनमें अपादानार्थक पुल्लिंग-आतो में संबंध० एकवचन -आय में संबंध० पुल्लिंग जैसे भिक्षो भिक्षुनी तथा भिक्षुस्य, करण० भिक्षुरे पाये जाते हैं और नेपाल में भी अन्यत्र न मिलने वाली किन्तु मथुरा के शिलालेखों से मिलती-जुलती 'मिश्रित संस्कृत' में बौद्ध ग्रन्थों का रूपान्तर हुआ है उन्हीं में संस्कृत लिखने का निरर्थक प्रयास नहीं वरन् कुछ-एक स्थानीय भाषा को साहित्यिक रूप देने की व्यवस्थित चेष्टा है, बोली की असम्बद्धता न केवल एक पोथी से दूसरी पोथी में वरन् समान पोथियों में हर हालत में यह सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है कि यह केवल प्रतिलिपि मात्र नहीं हो सकती।

यदि सर्वलौकिक साहित्य की प्राकृतों पर विचार किया जाय तो समस्या और भी

दुरूह हो जाती है। यह तो ज्ञात हो है कि नाटक में विभिन्न पात्र विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं संस्कृत राजा और ब्राह्मणों से शौरसेनी स्त्रियों और औसत दर्जे के लोगों से इसी प्रकार मागधी विदूषकों से सबध रखती है इसमें शेष वर्गों के लिए नियत महाराष्ट्री को और उन उप-बोलियों की जिनके भार से अवतरणों से अधिकतर वैयाकरण दबे रहते हैं, यथना नहीं है। मिश्रण का सिद्धान्त भारतवर्ष में असभव नहीं है यही नहीं कि रंगमंच पर भाषाओं के विभाजन से दर्शकों की भाषाओं का विभाजन सदैव प्रतिबिंबित होता हो किन्तु एक स्वयं विभाजित समाज में और परिवर्तनशील तत्वों के कारण अत्यधिक विभिन्न (किन्तु वास्तव मे संबंधित) भाषाएं सदैव बाधा उपस्थित करती हैं। आज भी एस० के० चैटर्जी के रोचक वर्णन ('इंडियन लिंग्विस्टिक्स' 1 में 'कैल्कटा हिन्दुस्तानी' पृ १२) में यह देखने को मिलता है कि कलकत्ते के एक मध्यमवर्गीय धनी व्यक्ति का घर 'बाबल की मीनार' हो सकता है। दुर्भाग्यवश भाषाविज्ञानी के लिए, समाज का चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से संस्कृत रंगमच का उतना महत्त्व नहीं है जितना हमारी 'कॉमेडी ऑव मैनर्स' का यह वास्तव मे जैसा कि एस केनी ने कहा है महाकाव्य और कथा के दृश्य का रूपान्तर है। ऐसी परिस्थिति में पात्रों द्वारा प्रयुक्त मानी गयी भाषाओं के आधार पर उसमें प्रमाण खोजना मौलिक भूल होगी। शौरसेनी जो वास्तव में आधार है, उच्च श्रेणी की स्त्रियों और निम्न श्रेणी के पुरुषों की भाषा नहीं है, किन्तु यह जिसका निस्संदेह शैलीकरण हो चुका था उन समुदायों की है जिन्होंने मथुरा से बाहर भारत में रंगमंच का प्रचार किया नाटकों की मागधी शैलीकरण का परिणाम है यह इस बात से स्पष्ट है कि सं०-अ के लिए -ए का प्रयोग केवल संज्ञाओं के कर्त्ताकारक एकवचन में हुआ है, अन्य अवसरों पर नहीं जैसा कि अशोक में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नाटकों की प्राकृतों का यह शैलीकरण कम-से-कम दो कालों में हुआ क्योंकि अश्वघोष के अवतरण भास के बताये जाने वाले अंश और भरत के ग्रंथ में सुरक्षित गीति-अंश भाषा की उन परिस्थितियों के द्योतक हैं जो क्लासीकल नाटकों से पहले की हैं इस युग की स्वयं परंपराएँ भिन्न हैं क्योंकि भरत के गीति-खण्ड शौरसेनी में हैं न कि महाराष्ट्री में [एम्० पौप IIIQ VIII (१९३२) पृ० ९] और भरत अश्वघोष द्वारा समर्थित नाटक में अर्धमागधी को स्वीकार करते हैं (ल्यूडर्स बुखस्टुक बुद्ध० ड्रामेन पृ ४२)। हम उस प्राचीन शृंखला के जो वास्तव में क्लासीकल की अपेक्षा सामान्य भाषाओं से कम पृथक थी और उदाहरण ग्रहण करना पसन्द करेंगे यह महत्त्वपूर्ण बात है कि भरत मे विभिन्न पात्रों की बोलियों को 'भाषा' कहा है, न कि परवर्ती लेखकों की भाँति एक विशेष अर्थ-सहित 'प्राकृत' जिसमें प्राचीन 'प्राम्य' भाव (हो सकता है

वैसा कि राजाओं और देवताओं की भाषा के विपरीत 'जनसाधारण' की भाषा प्रस्तुत हो सकता है जैसा कि 'संस्कृतम्'—शिष्ट—की भाषा के विपरीत 'निम्न' की भाषा समझी जाती है) अधिक प्रतीत नहीं होता।

नाटक में विरलता के साथ व्यवहृत महाराष्ट्री का प्रयोग विद्वत्तापूर्ण महाकाव्य और लोकप्रिय गीति-कविता में विषय की दृष्टि से बहुत कम किन्तु शैलीगत अत्यधिक परिमार्जन की दृष्टि से हुआ है अतः प्राकृत उसके निरत है। प्राकृत रूप ही है जिसे दण्डिन् ने 'प्रकृष्ट' कहा है क्योंकि वह सर्वाधिक विकसित है। उसमें स्वर-मध्यग व्यंजनों का जो शौरसेनी में अब भी मुखर (घोष) अवस्था में पाये जाते हैं पूर्ण लोप हो जाता है—और फलतः उसमें 'मअ'- मत मद मय-, मृग मृग- का प्रतिनिधित्व कर सकता है। यदि गायकों के लिए अधिक-से-अधिक स्वर रचना का और विद्वानों के लिए अधिक-से-अधिक समस्याएँ प्रस्तुत करने का उसमें लाभ था तो आधुनिक भाषा विज्ञानी के लिए भी वह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें भारतीय आर्य भाषा के विकास की एक आवश्यक कड़ी का ज्ञापन होता है और साथ ही क्योंकि वह इनमें शब्दों को स्पष्ट करने की दृष्टि से फ्रोवेंसाल के लिए जो स्थान लैटिन का है उसकी अपेक्षा अब भी अधिक आवश्यक भाषा संस्कृत तक पहुँचने की उपयोगिता मापन का अवसर प्रदान करता है।

पूर्णता की दृष्टि से अभी पैशाची का उल्लेख करना आवश्यक है, जो एक बाद के प्रमाण के अनुसार एक बौद्ध संप्रदाय द्वारा प्रयुक्त हुई और जो गुणाढ्य के मध्ययुगीन महाकाव्य के लिखने में व्यवहृत हुई है इस बृहत्कथा के केवल कुछ अंश शेष हैं। इस प्राकृत की प्रमुख विशेषता थी मुखरता की कठोरता प्रधानतः 'पिशाच जैसा' उच्चारण उसमें स्थानीयता अथवा (क्योंकि वैयाकरणों के अनुसार उसके विविध रूप थे) ठीक-ठीक स्थानीय रूपों को खोजने की संभवतः भूल पायी जाती है।

प्रारंभ से ही अरक्षाकृत परिश्रमपूर्ण और अधिकाधिक कृत्रिम प्राकृत साहित्य का अस्तित्व बहुत बाद तक बना रहता है वह कभी संस्कृत से अधिक निर्जीव नहीं होता। इस बात की सरलतापूर्वक कल्पना की जा सकती है कि उसका प्रचलित भाषाओं से पृथक्करण अनिवार्यतः अधिकाधिक स्पष्ट हो जाता है। यदि सामान्य रूप समस्त शिक्षा का आधार, संस्कृत से भिन्न सकते हैं, तो उनमें व्याकरण में अज्ञात शब्दों के अर्थ या रूप संस्कृत की भाँति क्रमशः प्रवेश पा सके थे। ऐसी धातुओं और ऐसे क्षेत्रीय शब्दों की आधुनिक शब्द-व्युत्पत्ति-स्पष्टता के लिए महत्त्वपूर्ण सूचियाँ प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है।

अंत में स्वयं प्राकृत का स्थान-च्युत होना प्रारंभ हो जाता है। अभी ऐसी नवीन भाषा द्वारा नहीं जिसने अपना निजी रूप धारण कर लिया हो किन्तु प्राकृत के अनुरूप

एक नवीन भाषा अपभ्रंश द्वारा। अपने धार्मिक ग्रन्थों के लिए जैनों ने प्राकृत को बनाये रखा; किन्तु शेष के लिए उन्होंने अपभ्रंश को चुना—इस परिवर्तन का एक प्रधान उद्देश्य उससे देशी (शब्दों) को निकाल देना था।

अपभ्रंश नाम स्थानीय नहीं है प्राकृत और संस्कृत की तरह यह मूढ़ है, और उनके विपरीत है। प्रारम्भ में उसका अर्थ था वह जो 'विपथगामी' है पतंजलि ने उसका प्रयोग अपने समय की संस्कृत में सामान्य किन्तु उनकी दृष्टि से अशुद्ध, प्राचीन मध्य कालीन भारतीय भाषा के कुछ रूपों के लिए किया है। जब कि मध्यकालीन भारतीय भाषा उन्नत और आदर्श हो गयी थी 'अपभ्रंश' भरत के अनुसार 'विभ्रष्ट' निश्चित रूप से ऐसे रूपों को प्रभावित कर रही थी जो उस समय अधिक विकसित हो हो गये थे किन्तु जो साहित्य में आदर्श नहीं समझे जाते थे। लेकिन अब समय आ गया था जब कि न केवल उसके रूपों की कुछ संख्या प्राकृत में प्रवेश पा गयी थी वरन् यह भाषा-स्थिति प्राकृत-समीप रचनाओं में स्वीकार कर ली गयी थी छठी शताब्दी की एक काव्यशास्त्र-संबंधी रचना ऐसे ही वर्ग की है इसी काल में वलभी का राजा गुहसेन उसके पौत्र के अनुसार, संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश तीन भाषाओं का उत्कृष्ट लेखक था। और बाद को वैयाकरणों ने प्राकृतों के साथ-साथ इस भाषा पर विचार करते समय प्राकृतों के साथ उसका समन्वय किया है। वास्तव में उसका सबसे अधिक प्राचीन प्रमाण जो हमें उपलब्ध है वह अधिक-से-अधिक सन् १००० का है और राजस्थान तथा गुजरात के जैनों से संबंधित है लिखित रचनाओं के लिए आवश्यक प्राकृतीकरण को वास्तव में निर्धारित करने वाली भाषाओं का उस पर प्रभाव प्रतीत होता है। तत्पश्चात् अपभ्रंश अपने जन्म-स्थान से विच्छिन्न हो जाती है और समस्त उत्तर भारत में फैल जाती है जैन धर्म ही उसका अकेला कारण नहीं है उदाहरणार्थ और महाकाव्यों की ब्रज में उसके रूपों का मिश्रण मिल जाता है। बहुत शीघ्र ही परवर्ती बौद्ध ग्रंथों द्वारा समर्थित एक पूर्वी रूप मिलता है जिसका प्रभाव मिथिला के विद्यापति कृत वैष्णव पदावली पर पाया जाता है और कुछ अंशों में प्राकृत छन्द-शास्त्र 'प्राकृत पिंगल' के उदाहरण प्रस्तुत करता है भाष्यकारों ने उसे तुरंत ही मूल रूप और स्थानीय व्यतिक्रमों की याद दिलाने वाले 'अवहट्ट भाषा' नाम से पुकारा है।

अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओं की भाँति अपभ्रंश का प्रसार उन प्रदेशों में स्वभावतः सरलतापूर्वक हुआ जहाँ भाषाएँ अपने मौलिक रूप से अलग नहीं हुई थीं और जहाँ राजपूत चारणों की भाँति व विगण अपने जनक भाषाओं के ज्ञानक्रम में उसे एक अतिरिक्त गुण समझते थे उसमें लिखित ग्रन्थों में किसी व्यक्ति द्वारा खोज करते समय उलझन में डालने वाले उच्च तथा संगत रूपों और ग्राम्य भाषाओं के मिश्रण स्पष्ट

हो जाते हैं। अपभ्रंश प्राकृत के साथ अनिश्चित कभी-कभी बहुत अधिक परिमाण में मिश्रित है इसके अतिरिक्त यह नवीनता-सूचक 'लोकीपन' ग्रहण करती है वस्तु इससे भाषा-संबंधी एक स्थिति का पता चलता है, न कि एक भाषा का।

यह तो यथेष्ट रूप में ज्ञात है कि इससे यह अपवाद प्रस्तुत नहीं करती प्राचीन भारत की एक भी लिखित भाषा का स्पष्ट प्रमाण की दृष्टि से मूल्य नहीं है। क्योंकि लेखकों के लिए जो महत्त्वपूर्ण है, जो उन्हें अभिव्यंजना का साधन चुनने के लिए प्रेरित करती है वह न जातीयता है और न प्रादेशिकता जैसा कि कर्मेसीयक प्राकृत के संबंध में देखा जाता है, वह तो वर्ण-व्यवस्था द्वारा (विभक्त) मनुष्यों की भांति कठोरतापूर्वक विभक्त शैलियां (genres) हैं। स्वयं वेद में विधियों की विविधताएँ आर्ष प्रयोग की निरंतर असमानताओं के कारण हैं। स्वयं उपासना-पद्धति-संबंधी पाठ जो बाद के प्रतीत होते हैं उन संप्रदायों की रचनाएँ हैं जिनकी भाषा निस्संदेह पूर्वकालिक कवियों की अपेक्षा और उन बौद्ध संप्रदायों की अपेक्षा जो साथ ही संस्कृत तथा स्वयं शैली-बद्ध हो गये मध्यकालीन भारतीय भाषा के विभिन्न रूपों का प्रयोग करते हैं, स्वाभाविक भी थी। जहाँ तक उत्कीर्ण लेखों से संबंध है अशोक के लेख एक सुन्दर अपवाद हैं तो भी इस बात की कल्पना की जा सकती है कि सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा उनके रूप प्रकट हो जायेंगे जैसा कि उद्धरणों से उनका स्पष्ट होना ज्ञात है। हर हालत में दक्षिण के कुछ उत्कीर्ण लेख खारवेल की प्रशस्ति की भिन्नता केवल प्राचीन गद्य की शैली के कारण है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की विविधरूपता भाषाशास्त्री के लिए बहुत कम सहायक है। भाषाओं को स्थानीय बनाना असंभव है उनकी आंतरिक विशेषताओं द्वारा उन्हें निर्धारित करना, उनके अपने जन्म के ही अनुरूप केवल एक दुर्बोध रीति से ही हो सकता है, जो सामान्यतः स्वाभाविक और एक बाह्य रूप के जो संस्कृत का है, अनुकरण पर नियमित है। इसलिए अधिक उत्तम प्रणाली जो इस कार्य को संपन्न करने के लिए ग्रहण की जा सकती है और जो हमारी योजना के अनुकूल भी है, वह सामग्री देखने में नहीं वरन् भारोपीय भाषा की क्रमागत स्थितियों के चिह्नों पर एक साथ विचार करने में है। बीच की श्रेणियाँ जानने अथवा अपूर्व विकासों का अनुमान करने की अपेक्षा दोनों में से किसी एक में उपलब्ध विस्तारों से उन्हें निर्धारित करने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति कम होती है।

साथ ही यह रूप स्वयं भारतीय सभ्यता की एकता द्वारा समर्थित है इसलिए उसके द्वारा अभिव्यक्त साहित्य की विशेषता एकदम एक विस्तृत क्षेत्र में असाधारण अभिन्नता में, और एक शक्तिशाली सामाजिक संगठन में है जो असंख्य विभेदों

द्वारा धर्मगत श्रेणी-विभाजन-संबंधी कल्पना लादने वाला है, जिसमें संस्कृति का अधिकारी और व्यवस्थापक ब्राह्मण सबसे आगे है।

यह कोई नहीं जानता कि भारतीय-आर्य भाषा के विभिन्न रूप विविध सामाजिक वर्गों में अथवा अनेक क्षेत्रों में कितनी गहराई तक प्रवेश कर चुके हैं। राजनीतिक इतिहास भाषाओं के केन्द्रों और विकास-शक्ति पर कोई प्रकाश नहीं डालता। किन्तु भारतीय सभ्यता की एकता बहुत प्राचीन है। ग्रीक यात्रियों ने गंगा की घाटी में दक्षिण के राज्यों का अस्तित्व पाया था और तमिल की अत्यधिक प्राचीन कविताओं में संस्कृत का प्रभाव मिलता है। भाषा-संबंधी एकता की सीमाएँ वे ही हैं जो स्वयं ब्राह्मण-धर्म की हैं। केवल बहुत दिनों तक बौद्ध धर्मावलंबी उत्तर-पश्चिम (जहाँ वैदिक चिह्न अब तक पाये जाते हैं, जैसे वसेकर् जाति का नाम जो मित्सवीय उसी वर्ग का नाम है जिसने हमारा ऋग्वेद सुरक्षित रखा है) और लंका जो अब तक बौद्ध है उससे बाहर पड़ जाते हैं। जो कुछ है या कम-से-कम जो कुछ उपयोगी है वह एक अद्भुत संस्कृत की उत्तराधिकारिणी एक सामान्य मध्यकालीन भारतीय भाषा है।

अथवा लगभग ऐसा है। क्योंकि कुछ स्फुट अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि भारतवर्ष में जिसे हम वास्तव में संस्कृत कहते हैं उसके अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी थीं। वास्तव में यह जान कर आश्चर्य होगा कि एक व्यापक क्षेत्र में प्रचलित प्राचीन 'भाषा' के विविध रूप न रहे हों और फिर स्वयं भारतीय-आर्य भाषा की सीमाओं और उनसे उसके साहित्यिक तथा सामाजिक स्थान को कुछ और निर्धारित करने पर ध्यान देना या अनुमान करना रोचक होगा।

पाली में इस प्रकार के संकेत अधिकतम संख्या में उपलब्ध होते हैं। वास्तव में यह एक ऐसी भाषा है जो अशोकीकृत प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत पर बिल्कुल ही कम निर्भर है। इसके अतिरिक्त उसका अपेक्षाकृत प्राचीन रूप विकास को अधिक निश्चित बना देता है। पाली वैदिक प्रयोगों को सुरक्षित रखती है जैसे कीवंत् कीव कित्तना—(संस्कृत के कियत्-का स्थान कियंत् ने ले लिया है) विभाति—चरित्वना—(ऋ० औपपति का पहला स्वर, अनुलेखन के रहने पर भी शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान के नियमानुसार, सूक्ष्म हो जाता है)। वैदिक काल में ही परिवर्तित भारतीय रूप उसमें और भी अधिक हैं। गृहीत किया हुआ—अधिक शुद्ध रूप गृहीत रूप—यहाँ धातु—दृष्टि से ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से सम्बन्धित—हर जगह—का पर प्रत्यय लगे अथर्व० मातु तुल० ऋ० प्रातर् और संस्कृत उत्तराहि—उत्तर में के पर-प्रत्यय की अपेक्षा कम परिवर्तित होता है। अथर्व० अलीक—(वा० सं०) 'वल्मीक' की अपेक्षा पा० 'मोलिक'—विरुद्ध मिथ्या—वम्मिक-'चींटी' का अधिक स्वाभाविक (तथा कम प्रचलित ?) एक

ही प्रकार का पर प्रत्यय है, संस्कृत स्नायु स्नावन—पा० सं० अस्नाविर–(बे० टमर, ८.४ 'महर्') के विपरीत अ० स्नावर—स्नायु पुट्ठा—में पा०—न्(म)हाव की व्याख्या का एक अंस मिल जाता है अ० हामा—वही—में पा० साम—समान—की, पु०फा० सॅयु अ० 'से गाथा० होइ में प्रा० से—उसका उसका—की अनुरूपता मिलती है। साथ ही ईरानी ही एक ऐसी भाषा है जो ऐसे समानान्तर उदाहरण प्रस्तुत जिनम प्रा० स्' संस्कृत 'स्' क और 'भिय्यो-अधिक—(सं० 'भूय') भविष्यत् 'हिहिति' सामान्य अतीत (aor) अहेसि' तुल० पु० फ़ा० थान्दाय ३ एक० 'थियॉ—वह हो—म० 'फ़िओ' (सह्मीति पृ० ४६१ n. ८) के विषय क अनुरूप है यह पूछा जा सकता है कि क्या अशोक द्वारा कालसी में प्रयुक्त पुल्लिंग 'इय' वही प्राचीन प्रयोग नहीं है जो प्राचीन फ़ारसी में है (बांवनिस्त 'स्तुदी बाल्तीची' III १२७ यह ठीक है कि दूसरी ओर पा० अ०मा० अयं स्त्री लिंग म है)। एन० एच० स्मिथ म यह प्रदर्शित किया है कि आर्य भाषा से बाहर भी अन्य सादृश्य खोजना आवश्यक है जैसे सं० द्वि के विपरीत दु विषय के लिए [पा० दुतिय दूसरा, 'दुजिह्व' दो जीभ वाला 'दुपद'-दो पैर वाला तुल० ले० दुप्लेक्स ओल्ड दुति–नवीन का लेख (लेटीक) दुसेर्कास—दो पहियों की गाड़ी] प्राकृत संबंधवाची मह, तुह और निस्संदेह बहुवचन के लिए, कर्म० अह्(म), 'उम्ह'– (जिससे सिंहली 'उम्ब' बना है)।

अस्तु, शब्दों के उद्गम संस्कृत में किन्तु उससे बाहर भी एक साथ खोजने होंगे जैसे पा० 'उपादि'—आधार—सामान्यत उपाता' के विपरीत पड़ता है, जैसे वैदिक 'निधि' निधा'-के उसका संस्कृत छायारूप 'उपाधि'- एक अन्य धातु से बना है। और बीच के रूपों के ज्ञान के अभाव म कठिन रूपों की व्याख्या प्राप्त करने पर ही विशेषत निर्भर रहा जा सकता है इस प्रकार, भविष्यत् के जैसे दक्खिति एहिति।

अस्तु, प्राकृत की 'देशी' का एक प्राचीन पूर्व-रूप है और वह बहुत रोचक है क्योंकि इससे उसे छोड़ कर अज्ञात भाषाओं क अस्तित्व का पता चलता है। 'देशी' केवल धेली और आज भी पायी जाने वाली भाषाओं की शब्दावली में लिये गये शब्दों की ओर संकेत करती है।

आधुनिक भाषाओं का जन्म किस समय हुआ? कोई नहीं जानता। यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि छठी शताब्दी में अपभ्रंश लिखने की प्रथा थी तो वह भाषा की जिस अवस्था के अनुरूप थी उसकी उत्पत्ति गुजरात में हुई (और) जो प्राकृत के समकक्ष रखी जान की दृष्टि से यथेष्ट प्राचीन हो चुकी थी। श्री शहीदुल्ला के अनुसार बंगाल में कण्हा (कण्ह-अनु०) इत्य चर्या सन् ७०० के लगभग की है। ये गीत अत्यन्त प्राचीन

रूप में हैं अन्यत्र मध्यकालीन भारतीय भाषा से अलगाव और अधिक हो जाता है, विशेषतः जब कि प्रारंभिक ग्रंथ बहुत बाद के हैं। कुछ संक्षिप्त मराठी शिलालेख राजपूत राजकुमारों का एक छोटा-सा पत्र-व्यवहार, कुछ बँगला टिप्पणियाँ १२वीं शताब्दी की हैं किन्तु मराठी ज्ञानेश्वरी १२९० में समाप्त हुई एक और शताब्दी बाद गुजराती में एक संस्कृत व्याकरण १३९४ का है और उर्दू का प्राचीनतम प्रमाण गेसू दराज की सूफ़ी रचनाएँ सन् १४०० के आसपास की मानी जाती हैं। केवल १५वीं शताब्दी में गुजराती के सर्वप्रथम कवियों का बिहार में विद्यापति का और कश्मीर में महानय-प्रकाश का जो अभी निश्चित रूप से कश्मीरी नहीं है आविर्भाव हुआ। मुहम्मद जायसी कृत अवधी में लिखित पद्मावती और सर्वप्रथम असमी ग्रन्थ १६वीं शताब्दी के हैं सिक्खों के आदि-ग्रन्थ के प्राचीन भाग इसी काल के और बाद के हैं। यह बता देना आवश्यक है कि इन ग्रन्थों की परंपरा निश्चित नहीं है हम पृथ्वीराज रासो की गणना नहीं कर सके जो अपने आकार के कारण बहुमूल्य है किन्तु जो सन्देहास्पद है हर हालत में क्षेपकों से भरा है ज्ञानेश्वरी का १५८४ में संशोधन किया गया सामान्यतः प्राचीन ग्रंथों की हस्तलिखित परंपरा का मूल्य मौखिक परंपरा से शायद ही अच्छी कही जा सकती है और यह स्वीकार करना चाहिए कि अभी तक उसकी परीक्षा का प्रयास नहीं हुआ। इतना सब कुछ कहने पर भी आधुनिक काल के केवल कुछ अच्छे प्रमाण हैं स्पष्टतः सर्वोत्तम प्रमाण वे हैं जो सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत अत्यन्त सुन्दर 'लिंग्विस्टिक सर्वे' में संगृहीत विभाजित और प्रतिपादित हैं उनका और भी अतुलनीय लाभ लगभग पूरे भारतीय-आर्य-भाषा-भाषी और प्रायः उससे बाहर के प्रदेश में बोले जाने में है। पूरी तरह से रक्षित और अपन स्वभितायों की इच्छा द्वारा ही सुसज्जित और निर्मित प्राचीन प्रमाणों के प्रयोग के लिए सर्वोत्तम कसौटी उसी में मिलती है।

भारतीय-आर्य भाषा का मानचित्र देखने से जो पहला लक्षण ध्यान आकर्षित करता है वह उसके क्षेत्र की अविच्छिन्नता है। यह लक्षण ब्राह्मण सभ्यता के जो महराई तक पहुँचने से पूर्व उच्च वर्णों द्वारा ऊपरी भाग तक रहती है विस्तार के अनुरूप है आज भी यह देखा जाता है कि कुछ भाषाएँ पड़ोसी प्रदेशों के नगरों में चली गयी हैं अँगरेजी भी यूनीवर्सिटियों और प्रशासनों द्वारा फैलायी पायी जाती है आज जितना मध्यम वर्ग निर्माण करता है उसे भ्रष्ट प्रयोग पिछड़ा हुआ बना देते हैं, और इस प्रकार मूल भाषाओं का जाल स्थानीय प्रयोगों को नष्ट किये बिना उन पर फैल जाता है। भारतीय-आर्य भाषा के अंतर्गत जंगली प्रदेश आते हैं उसने अपने दूत दूर तक भेजे हैं (सिंहली एशिया और यूरोप की जिप्सी-भाषा) किन्तु उसके क्षेत्र में वह विच्छिन्नता नहीं है जो फ़िनो-उग्रीय भाषाओं की अथवा रोमन कुल की विशेषता है

जिसके साथ उसका कुछ विकास-साम्य है। भारतवर्ष ने अपने विजेताओं को पचा लिया है, और यदि इस्लाम ने उसे उर्दू दी है, तो उसने ईरानी या मंगोल के छोटे भाषा समूह नहीं छोड़े। विदेशी उत्पत्ति के राजपूतों ने हिमालय में एक ऐसी भाषा अपनायी और प्रचलित की जिसे वे अपने साथ नहीं लाये। केवल देखने को जी ही नहीं चाहता वरन् यह देखने की बात है कि विभिन्न आधुनिक भाषाएँ अलग-अलग हो गयीं प्राचीन भाषाओं पर निर्भर रहती हैं और उनकी विशेषताएँ फिर से प्रकट करती हैं।

वास्तव में अथवा कम-से-कम उस रूप में जिसमें भाषा-विज्ञानी उसे वास्तविकता समझता है, ऐसा लगभग पूर्णतः प्रतीत होता है कि अनोखी मध्यकालीन भारतीय भाषा (संस्कृत जो स्वयं अनोखी-सी थी की उत्तराधिकारिणी) अधिकतर आधुनिक विभिन्न आर्य-भाषाओं का आधार थी बाहर गयीं भाषाओं और उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश की भाषाओं की जो समाज में जीवित भी रहीं हैं दृष्टि से तो ये अन्तर स्पष्ट ही हैं स्वयं ये अन्तर इन भाषाओं का सम्बन्ध पूर्णतः उस रूप में प्रकट नहीं करते जिसे सुविधा की दृष्टि से 'प्राकृतिक' कहा जा सकता है। उनका रूप प्रायः अद्भुत रहा है भाषाविज्ञानी उसकी सीमाएँ कठिनाई से निर्धारित कर सका है कभी-कभी मिश्रण द्वारा श्री ग्रियर्सन के कथनानुसार, 'कृत्रिम मिश्रण' द्वारा वे छिप जाती हैं परिवर्तन अधिकांशतः प्रायः धीरे-धीरे होते हैं जिसका तात्पर्य है कि दो परस्पर भिन्न भाषाएँ अति सूक्ष्म अन्तरों वाली भाषाओं की श्रेणी में आ जाती हैं। तो इससे किसी को आश्चर्य न होना चाहिए कि सीमाएँ विचारणीय हैं क्या भोजपुरी अपने पूर्व या पश्चिम की भाषाओं से संबंधित है? कच्छ की भाषा क्या सिन्धी है या गुजराती? कोंकण की गुजराती है या मराठी? श्री ग्रियर्सन द्वारा अलग की गयी और नामोल्लिखित लहंदा के संबंध की दृष्टि से पंजाबी की पश्चिमी सीमा कौन-सी है? एक ऐसे देश में जहाँ अनिश्चित और परिवर्तनशील, राजनीतिक सीमाएँ जातियों के अनुरूप कभी नहीं रहीं वास्तविक भाषा-संबंधी सीमाएँ ज्ञात करने की आशा नहीं की जा सकती जब कि प्रधान-प्रधान समुदाय निश्चित हैं तो वास्तविकता की अपेक्षा अधिक निश्चित और अधिक अविच्छिन्न भाषा-क्षेत्रों को नहीं (उन ऐसी अनेक परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है, जिनमें एक ही क्षेत्र में और एक ही बोली में कई भाषाओं का सह अस्तित्व मिलता है) किन्तु प्रादेशिक सीमाओं का परस्पर अतिक्रमण करने वाली भाषा रेखाओं को दिखाने वाले स्थान नक्शे में निस्संदेह होने चाहिए।

संतोष की बात है कि प्रस्तुत रचना के उद्देश्य की दृष्टि से भाषाओं और बोलियों का निश्चित और पूर्ण पुनर्विभाजन अनावश्यक है। यहाँ प्रधान समुदायों की ओर संकेत कर देना ही यथेष्ट होगा।

हमें थोड़ा अत्यधिक व्यतिक्रमों पर विचार कर लेना चाहिए। यदि उन निवास स्थानों पर विचार न किया जाय जहाँ से आर्य भाषा भारतवर्ष में फैली तो अति प्राचीन भारतीय-आर्य निवास-स्थल के माध्यम द्वारा मध्यकालीन भारतीय भाषा समुद्र के रास्ते सिंहल के दक्षिण में पहुँची। वहाँ यह द्रविड़ों के शक्तिशाली प्रभाव में आयी साथ ही पाली ने उसे महाद्वीप की संस्कृत के अनुरूप रूप प्रदान किया। वस्तु, यह काफी भिन्न हो गयी उसकी स्वरोच्चार-पद्धति एक ही शब्द के स्वरों का एक-दूसरे पर प्रभाव मान कर चलती है उसमें न तो महाप्राण हैं और न प्राचीन तालव्य वर्ण वे वैसी ही बदल जाती है सर्वनाम (और) क्रिया के विशेष रूप हो जाते हैं किन्तु तो भी वह भारतीय-आर्य भाषा है।

जिप्सी भाषा या और भी उचित रूप में जिप्सी भाषाओं में कम परिवर्तन हुआ है, निस्सन्देह अचानक परिवर्तन क्योंकि वे बाद को अलग हुई और क्योंकि उनकी विशेष या गुप्त भाषा होने की विशेषता ने उन्हें सुरक्षित रखा। जिप्सी उपनिवेश बसाने वाले नहीं वरन् दूसरों द्वारा अधिकृत होने वाले हैं, विदेशियों से संपर्क स्थापित करने के लिए उन्होंने उनकी भाषा सीखी और आवश्यकतानुसार उस भाषा के तत्व ग्रहण कर लिए आरमीनिया में पूरा व्याकरण किन्तु अधिकतर शब्दावली और यह ज्ञात ही है कि उधार लिये गये शब्दों की ही कृपा थी जिनसे मिक्लोसिश न यूरोप में अपना मार्ग जानना सीखा। यूरोपीय समुदाय वास्तव में सुसम्बद्ध है एशियाई शाखाएँ उससे पूर्णतः मेल नहीं खाती नूरी में ही केवल -त्- व्यंजन का उच्चारण -द्- की तरह होता है स्वर मध्यग -त्- का -ऱ्- हो जाता है, न कि -ल्-। दूसरी ओर सं० हस्त (—हाथ) नूरी में त(स्)त् यूरोपियन में वस्त् किन्तु आरमीनियन में हस् हो जाता है और आरमीनियन में स्वर-मध्यग में ही त् के स्थान पर 'ल्' नहीं है, वरन् आदि में भी ('लिस्' वह देता है— नूरी 'देर्' यूरोपियन देल्-व)। नूरी में स्पष्ट मुखर महाप्राण शब्द महाप्राण-विहीन हो जाते हैं आरमीनिया और यूरोप में मूक। यथ भाना नूरी दब। अंत में यूरोप की जिप्सी भाषा ही मध्यवर्ती व्यंजन के महाप्राणत्व को स्थानान्तरित कर देती है फलतः, सं० 'बन्ध्'—(बाँधना) नूरी 'बन(द्)'— आरमीनियन 'बंध्' यूरोपियन *मग् > फन्द्-- ये मेन्जनिश्चितता को और भी बढ़ा देते हैं जिसमें एक तिथि (५वीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध?) संबंधी अनिश्चितता है और दूसरी जिप्सी भाषा की निश्चित उत्पत्ति के संबंध में। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात 'द्' का ल् या 'र्' में परिवर्तन है जो भारतीय आर्य भाषा में जैसे प्रशुन में (ल्) गोवार में (ऱ्) और सम्भवतः निश्र में (ल) और ईरान की पूर्वी बोलियों में नहीं मिलता अफ़गान मिनजानी मिन्गाह्, तुम० निस्संदेह ईरानी से उधार लिया

गया बाहुइ खोलुम् (सं० 'गोघूमा') की भी तुलना कीजिए। क्षेत्र के नामों के संबंध में एक और प्रमाण है: नदी 'गोमल' (सं० गोमती)। श्री कूनर ने ठीक ही बताया है कि भारतीय-आर्य भाषा की सीमा आधुनिक काल की अपेक्षा पहले और पश्चिम तक फैली हुई थी और अफ़ग़ान तथा बलोची हाल ही में महत्त्व ग्रहण करने वाली भाषाएँ हैं।

यदि भारतीय-आर्य भाषा ईरान की तरफ़ से आयी है, तो वह निश्चित रूप से हिमालय के निचले हिस्से तक गयी है। इतिहास वास्तव में वहाँ राजपूतों के बसने का साक्षी है और जैसा कि इतिहास बताता है, एल० एस० आई० I पृ० १८४ में एक भाषा-संबंधी चित्रण उसे दर्शाता है। नेपाल में अब भी नेवारी कही जाने वाली प्राचीन तिब्बती भाषा और नेपाली कही जाने वाली आर्य भाषा का अस्तित्व पाया जाता है। पश्चिमी भाग से जहाँ तक संबंध है समस्या अत्यधिक कठिन है: कश्मीर, भारत से शुरू होने वाली गिलगिट तक सिन्धु की घाटी (शैणा शिना) स्वात (तोरवाली) चित्राल (खोवारी) कुनार और हिन्दुकुश के मध्य काफ़िरिस्तान (कलाश, काफ़िर समुदाय पशई) और फिर काबुल नदी के दक्षिण में एक द्वीप (तीराही)। इस क्षेत्र में बोलियों की मात्रा बढ़ती है जिनमें से अकेली कश्मीरी को ही एक साहित्य का श्रेय प्राप्त है, और वे इस बात में खास भारत की भाषाओं से इस तरह भिन्न हैं कि उन्हें एक विशेष कुल में रखने की इच्छा होती है। बात तो यह है, कि उनका पृथक्त्व, जो बहुत प्राचीन है, उनकी अपनी विशेषताओं के बताने के लिये यथेष्ट है। इसके अतिरिक्त उनमें से अनेक को अपेक्षाकृत हाल के आगमनों के परिणामस्वरूप समझी जाने की इतनी अधिक संभावनाएँ हैं, कि उन्हें अत्यधिक भिन्न पाने की आशा की जा सकती है। कश्मीरी पर ईरानी प्रभाव पर ध्यान दीजिए, और (ध्यान दीजिए) भारतीय प्रभाव पर जो विशेषतः उस पर अधिक रहा है (कश्मीर संस्कृत संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र रहा है) तो भी मौरगैन्सटिएर्न की रचनाओं के आधार पर यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि 'दर्द' अधिकांशतः भारतीय है: केवल उसका 'प्राकृत' रूप नहीं है: उसमें व्यंजन और प्रायः स्वर-मध्यग पाये जाते हैं: उसमें कुछ ऊष्म ध्वनियाँ हैं, तथा महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं, आदि। केवल एक समुदाय जो समस्या उपस्थित करता है काफ़िर है (कती या बश्गली प्रसुन या वेरोन अस्कुन गबर्बती) जिसमें कंठ्य ध्वनियों का ऐसा प्रयोग है जो ईरानी की याद दिलाता है।

ऊपर उल्लिखित आधुनिक भाषाओं की रोचकता उनके संख्या-सूचक महत्त्व से कहीं अधिक है: उसके सामने उन भाषाओं के जानने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, जिनका प्रायः वर्णन किया जाता है, यद्यपि उनमें से कुछ की गणना संसार की बड़ी-बड़ी

भाषाओं में की जाती है। व्यापक अर्थ में हिन्दी का उनमें छठा स्थान है, फ्रांसीसी के मुकाबले बंगाली ७वें स्थान पर आती है। बिहारी ११वें पर, मराठी १९वें पर, पंजाबी राजस्थानी उड़िया क्रमशः २२वें २५वें और २८वें पर (मेइए, 'लांग द ल्यूरोप मूवेल' पृ० ४८१ में एल० तैस्निएर के अनुसार)। उनके न्यूनतम प्रयोग की गणना करने के लिए, हमें केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि वे अपने विशेष अक्षरों (जैसा कि देखा जा चुका है उनके बिना भी स्पष्ट सीमाएँ हो सकती हैं) के आधार पर विभाजित क्षेत्रों में बँटी हुई हैं।

सिन्धु पर आने से कहना मिलती है, फिर सिन्धी में कुछ बातों में खास भारत की अन्य भाषाओं से अलग है और जो इसके विपरीत पड़ती हैं सर्वनामवाची पर प्रत्ययों और उच्चारण तथा शब्दावली-संबंधी कुछ विशेषताओं के प्रयोग ऐसे ही हैं जो यह सोचने के लिए बाध्य करते हैं कि उनका 'भारतीयकरण' यदि ऐसा कहा जा सकता है अपेक्षाकृत हाल का है।

अन्य भाषाओं को अलग करने वाली विशेषताएँ अन्य प्रकार की हैं और या तो विकास के भेदों या अनार्य भाषाओं के प्रभाव की दृष्टि से विपरीत परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। सर्वप्रथम स्थिति तो दक्षिण-पश्चिमी और गंगा की घाटी के समुदायों की है मराठी और गुजराती का संबंध नजर नहीं आता उधर पुरानी गुजराती और पुरानी राजस्थानी एक ही भाषा हैं किन्तु राजस्थान से सीधे गंगा की घाटी की ओर जाते हैं तो वहाँ व्यवधान होने पर भी अन्य स्थानों की अपेक्षा भाषाएँ अधिक निकट हैं साथ ही संस्कृत 'मध्यदेश' के समय से लेकर कन्नौज और दिल्ली के समय तक प्रकाश फैलाने वाले केन्द्र सदैव यहीं रहे हैं। हिन्दुस्तानी संभवतः सिपाहियों द्वारा पंजाबी बोलियों में ब्रज के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी उत्तर की पंजाबी और राजस्थानी हिन्दुस्तानी के प्रभाव में आ जाती है कुछ समय पूर्व यह ज्ञात हो चुका है कि उर्दू पूर्व में लखनऊ तक जाती है जहाँ वह एक शिष्ट भाषा है, और अब कलकत्ते तक जहाँ उसने मिश्रित गैवारू बोली का रूप धारण कर लिया है पूर्वी हिन्दी बनारस आदि तक जाती है।

इसके विपरीत पटना के लगभग वह सीमारेखा आती है जिसे वेरी लीग हिन्दी के लिए निर्धारित करते हैं वास्तव में यहीं उस सीमा का पूर्वी समुदाय बिहारी बंगाली (इसी के साथ असमी प्रदेश) उड़िया—में प्रविष्ट हो जाता है। इनमें 'अ' अपने को 'ओ' में सीमित कर लेता है खास तौर से व्याकरण की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। अत्यधिक प्रमुख विशेषताओं में से एक है संस्कृत कृदन्त से निकला -इ् में भविष्यत् काल। तब तो है एक मध्य समुदाय और एक बाहरी मण्डल भी प्रकट हो जाता है इसमें कुछ

अप्रामाणिक ऐतिहासिक अनुमानों को दिया किया जाता है, संभवतः भाषा-रेखाओं के विस्तार ने इस वर्गीकरण की स्पष्टता में गड़बड़ी उत्पन्न कर दी।

यह अधिक महत्त्वपूर्ण होगा कि कालानुसार विभाजन किया जाय जो संपूर्ण नव्य भारतीय भाषाओं को अलग कर देता है। सबसे नीचे मध्यकालीन भारतीय भाषा, जैसा कि हमें अपभ्रंश रूप के अंतर्गत उदाहरण मिलता है, अब भी संस्कृत से भिन्न एक रूप है, यद्यपि वाक्य-विन्यास में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु आधुनिक वर्ना-क्यूलरों के अति प्राचीन रूपों में, विभक्ति-रूप अधिक-से-अधिक दो कारक स्वीकार करता है, जिनमें से एक परसर्गों के साथ आता है; प्राचीन वर्तमान जो क्रियामूलक रूपों के शेषांश का अकेले या उसके लगभग रूप में प्रतिनिधित्व करता है, नामजात आदि रूपों के साथ अवश्य संबद्ध रहता है। इस काल से आगे व्याकरण-संबंधी परिवर्तनों पर कोई रुकावट नहीं रह जाती। बहुत पहले ही संस्कृत भाषा पारिभाषिक शब्दावली को समृद्ध करना छोड़ देती है, यह कार्य आगे चल कर फारसी फिर अँगरेजी से संपन्न होता है। किन्तु संस्कृत के सांस्कृतिक भाषा रह जाने पर, आधुनिक भाषाएँ इस संस्कृति में साझीदार नहीं बनतीं। वे स्वयं कम सभ्य व्यक्तियों के प्रभावान्तर्गत अत्यधिक सरल हो जाती हैं, जैसे बंगाल में अथवा सैनिकों की भाषा की आवश्यकता के लिए, जैसे हिन्दु-स्तानी। वे लोकप्रिय भाषाओं के रूप में बनी रहती हैं; वे विशेषतः गीति-काव्य की अभिव्यंजना के लिए उपयुक्त रहती हैं किन्तु विज्ञान के लिए नहीं। अब जब कि शिक्षा का प्रसार हो रहा है, वर्नाक्यूलरों को उनकी अपनी आवश्यकतानुसार विकसित करने की हर जगह कठिन समस्याएँ हैं, साधन तैयार नहीं हैं। आप देखेंगे कि कम-से-कम किस प्रकार वाक्य-विन्यास स्वयं सबसे अधिक उन्नत भाषाओं में लोचहीन रह गया है। रोमन भाषाओं से प्राप्त की गयी तुलना पर पुनर्विचार करने पर, ध्यान आकर्षित करने वाली बात है कि न तो निषेधक उपसर्ग या उपपद और न क्रिया to have का कोई एक अंश ही मिलता है।

किन्तु यहाँ भारतीय भाषाओं का भविष्य निर्धारित करना उद्देश्य नहीं है, इस रचना का उद्देश्य, जैसा कि प्रारंभ में संकेत किया जा चुका है, अतीत की रूपरेखा प्रस्तुत करना है। पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए अथक परिश्रम की आवश्यकता है; उसकी उपादेयता शायद ही बहुत अधिक हो, क्योंकि इस चित्र के प्रधान अंग प्रवीण हाथों द्वारा सूक्ष्म रीति से बनाये जा चुके हैं। जो कुछ इतने सुन्दर रूप में हो चुका है उस पर पुनर्विचार की बात ही क्या, मैं उसकी पुनरावृत्ति तक करना नहीं चाहता। इच्छित रहने पर भी मेरा इरादा मध्य-भारतीय भाषाओं के उस तुलनात्मक ग्रन्थ का सार प्रस्तुत करना नहीं जिसका संपादन प्रारंभ करने के पश्चात् भी पिशेल को वह कार्य छोड़ देना पड़ा था—और उन्होंने कितनी सामग्री तैयार कर ली थी!—और जिसके बारे में

श्री टर्नर ने हमें वचन दिया है। यदि आवश्यकता हो तो मैं यह बता देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ-संबंधी प्रयास की सराहना स्वयं श्री टर्नर ने की है। मेरा उद्देश्य काफ़ी सीमित है : अधिक समर्थ लेखकों से आवश्यक बातें लेकर, उनके स्थान पर दूसरों या स्वयं मेरे बताये हुए महत्त्वपूर्ण तथ्यों को जिनका अभी तक पुस्तकों में उल्लेख नहीं हुआ रखकर, विभिन्न कालों के संबंध में सूक्ष्म रीति से की गयी स्वयं तुलना द्वारा प्राप्त तथ्यों को यथासंभव प्रस्तुत करना और उनकी व्याख्या करना।

संबंधी सिल्वै लेवी और ए० मेइए की परंपरा में पालित-पोषित मुझे बोलने वाली जातियों के इतिहास-सहित भाषाओं के विकास का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के प्रति मोह होना चाहिए था। किन्तु यह यथेष्ट रूप से ज्ञात है कि लिखित साहित्य कुछ प्राचीन कालों के संबंध में न तो शासन-संबंधी न न्याय-संबंधी या निजी (क्लैसीकल संस्कृत में लिखित असंख्य दान-पत्रों को छोड़ कर) संग्रह प्रदान करता है न प्रादेशिक आईन न संस्मरण न पत्र-व्यवहार (लिप के लिखित प्रमाणों के अतिरिक्त जो अभी तक बहुत-कम प्रयोग करने योग्य हैं) न अर्थविरण भाषण-कला-संबंधी ग्रन्थ न कॉमेडी ऑव मैनर्स : इतिहास की महानतम राजनीतिक और धार्मिक घटनाएँ बिना ठीक-ठीक स्थान और तिथि-निर्धारण के ही रह जाती हैं तथा उनके परिणाम और भी अधिक अनिश्चित रूप में पाये जाते हैं : मैंने अपने को केवल भाषा-विज्ञान संबंधी और साथ ही व्याकरण-संबंधी निरूपण तक ही सीमित रखा है।

जिस उद्देश्य की ओर मैंने संकेत किया है उसे दृष्टि में रखते हुए मेरा सभी बातों पर समान रूप से विचार करना उपयोगी नहीं था : निरूपण करने में रह गयी ऐसी त्रुटियों के लिए मैं क्षमा किया जाऊँगा जो मुझे ज्ञात हैं और जो मुझे विषय को पूर्णत: समझने में बाधक प्रतीत नहीं होतीं। इसी प्रकार मैंने पूरी ग्रन्थ-सूची नहीं दी : किन्तु केवल उन्हीं पुस्तकों और लेखों (उनमें निस्संकोच कुछ मेरे हैं) की सूची दी है जिनका मैंने इस ग्रन्थ की रचना में निरंतर उपयोग किया है और जिन्हें मैं समान रूप से अपने पाठकों के सम्मुख उन्हें अपने कथनों के परीक्षण और पूर्ण करने का अवसर प्रदान करने के लिए, प्रस्तुत करना चाहता हूँ। प्रत्येक पग पर संदर्भ देना मैंने आवश्यक नहीं समझा : मैंने ग्रंथ में केवल वे रचनाएँ ही उद्धृत की हैं जो सूची में नहीं हैं और जिनका मैं केवल अपूर्णत: सार प्रस्तुत कर सका हूँ। जब मैं सम्मतों को अधिकतर बिना उनका नामोल्लेख किये उद्धृत करता हूँ तो बिना संकेत किये उनका खण्डन (मैं स्वयं अपने को शामिल करता हूँ) करने के लिए करता हूँ : यह भली प्रकार स्वीकार किया जायगा कि यह गलती की अपेक्षा भ्रम डालने वाली चीज अधिक है : विशेषज्ञ इस बात का निर्णय करेंगे कि जो मत यहाँ प्रकट किये गये हैं वे सर्वोत्तम हैं या नहीं।

जहाँ तक उदाहरणों से संबंध है जो मैंने अधिकतर अपने सामने जो लेखक हैं, उनसे ग्रहण किये हैं मैंने उनका मूल उद्गम फिर नहीं लिया। मेरे लिए इतना यथेष्ट है कि मैंने उनका कोई, प्रतिपादित या रूपान्तरित उदाहरण चयन नहीं किया।

स्वयं इस रचना के लिए मैं अपने मित्रों का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। सर्वप्रथम श्री हेल्मर स्मिथ का। संभवतः उनके जैसा अन्वेषक साथ ही नाजुक-दिमाग आलोचक साथ ही छोटी-छोटी बातों के लिए कठोर व्यक्ति एक ऐसी रचना से सन्तुष्ट न होगा जिसमें जितने प्रश्नों पर विचार किया गया है उतने ही समाधानों पर, और वो अब भी अस्थायी हैं तो भी उन्होंने मुझे यहाँ यह कहने की अनुमति प्रदान की है कि मुझे उनका भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ है और यह न केवल पाली और सिंहली से जिन भाषाओं का उन्हें अद्भुत ज्ञान है संबंधित सभी बातों का विशेष ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने में वरन् निरन्तर एक शिक्षा देने में भी जिसकी मधुरता और मूल्य उनके साथ संपर्क रखने वाले लोग जानते हैं। उनके ज्ञान के उदार सहयोग के बिना इस ग्रन्थ में कही गयी अनेक बातें और भद्दे ढंग से होतीं या बिल्कुल ही न होतीं।

सर्वश्री रनू और बीयनिस्त ने अपनी सामान्य उदारता के फलस्वरूप दी गयी अपनी सलाहों और आलोचनाओं द्वारा मुझे लाभ पहुँचाया है उन्होंने मेरी पाण्डुलिपि पढ़ी पहली बार पूरी (और उसमें बहुमूल्य बातें जोड़े बिना नहीं) दूसरी बार अंशतः। मेरी भाँति वे भी यह जानते हैं कि पाण्डुलिपि को उनसे लाभ पहुँचा है, केवल मैं ही जानता हूँ कि इस निरीक्षण से मुझे कितना आत्म-विश्वास प्राप्त हुआ है। कुमारी एल॰ सिली का मैं उनकी प्रत्यक्षतः वैयक्तिक सहायता के लिए अनुगृहीत हूँ किन्तु उनसे प्राप्त होने के कारण ही जिसे मैं केवल वैयक्तिक ही नहीं कह सकता (अर्थात् जो सहायता वैयक्तिक से भी अधिक है—अनु॰)।

अंत में प्रकाशक और लेखक को शोध-कोष (Caisse des Recherches) के (संचालक के) प्रति धन्यवाद देने में प्रसन्नता है जिनके बिना इस पुस्तक का प्रकाशन सरल न होता।

सहायक ग्रन्थ-सूची

[संदर्भ-ग्रन्थों सहित]

ईरानी

गाइगेर-कून 'ग्रुंड्रिस डेअर ईरानीशेन फ़िलोलोगी' I स्ट्रासबुर्ग १८८५ १९०१।

राइखेल्ट 'आवेस्तिशेस एलीमेंटारबूख' हाइडेलबर्ग १९०९।

मेइए-बांवनिस्त 'ग्रैमेअर द व्यू पर्स' द्वि० संस्क० पेरिस १९३१।

संस्कृत

मेकडॉनेल 'वेदिक ग्रैमर' स्ट्रासबुर्ग १९१०।

डेलब्रूक 'अल्टइंडिशे सिन्टैक्स' हल्ल १८८८।

स्पेयर 'वेदिशे उंड संस्कृत सिन्टैक्स' स्ट्रासबुर्ग १८९६।

वाकरनागेल 'अल्टइंडिशे ग्रैमटीक' I-II I-III ग्युटिंगेन १८९६ १९१०।

रनू 'ग्रैमअर संस्कृत' पेरिस १९३०।

रनू 'ल डेस्टूर दु पार्टसी दां ल हीम वेदीक' पेरिस १९२५।—'ल वीय वेदीक' 'तुदीय' मेलांज वान्द्रये (पेरिस १९२५) पृ० ३०९ ३१६। 'ल फ़ॉर्म वीज दाँ ल ऑद्‌तीक एं ल ऋग्वेद'। एत्रेन (Etrennes)— बांवनिस्त (पेरिस १९२८), पृ० ६३-८०—'ल प्रोसो दु सवर्णीद्‌ तीक वेदीक' बी-एस-एल XXXIII (१९३२) पृ० ५ १४।

मध्यकालीन भारतीय भाषाएँ

हुल्श 'इन्स्क्रिप्शन्स ऑव अशोक' ऑक्सफ़ोर्ड १९२५। तुल० वूलनर, 'अशोक टैक्स्ट ऐंड ग्लॉसरी' कलकत्ता १९२४।

डब्ल्यू० गाइगेर 'पाली लिट्‌राट्यूर उंड स्प्राख' स्ट्रासबुर्ग १९१६।

एम० स्मिथ 'रिज़ीनास दु दीप अपभ्रंश ओ पाली' बी-एस-एल XXXIII, (१९३२) पृ० १६९ १७२।

पिशेल 'ग्रैमैटीक डेअर प्राकृत-स्प्राखेन' स्ट्रासबुर्ग १९००।

जे० ब्लोख़ 'अशोक ऐ ल मागधी' बी० एस० ओ० एस० VI २ (१९३२) पृ० २९१ २९५—'पेस्ट देवीनाँश दीन्तेर्वाल आं मौर्या-आदिएँ,— एम० एस० एल०

XXIII (१९२७) पृ० १०७-१२०—'गैतमा दु भूप सस्कृत सीक्र्लौत् +म्, वही (१९२९) पृ० २६१-२७०।

एच० स्मिथ 'काश मात अ प्रॉपो द कांतिकिल प्रेसेर्दां' पृ० २७०-२७१।

एच० याकोबी 'भविसत्तकहा फौन धनवाल (Dhanavāla) म्युन्शन १९१८ (विशेषतः उद्धत भव०) 'सनत्कुमार चरितम्' म्युन्शेन १९२१।

आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाएं

जी० ए० ग्रियर्सन 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' कलकत्ता १९०३ १९२८ (विशेष रूप से LSI के रूप में उद्धत)।

बीम्स 'कम्पेरेटिव ग्रैमर ऑव द मॉडर्न इंडियन लैंग्वेजेज' लंदन १८७२-१८७९।

जे० ब्लॉख 'ल फ़ौर्मेसियाँ द ल लांग मराठ' पेरिस १९२० (पुस्तक-सूची जो यहाँ नहीं दुहरायी गयी पृ० ३८४२)।—'पून लूप्यी र ड्रैवैदिएन लां मराठ' बी० एस० एल० XXXIII (१९३२), पृ० २९९ ३०६।

एस० के० चटर्जी 'औरिजिन ऐंड डवेल्पमेंट ऑव द बेंगाली लैंग्वज' कलकत्ता १९२६।

ग्रियर्सन 'ऑन द मॉडर्न इंडो-एरियन वर्नाक्यूलर्स' इंडियन ऐंटिक्वेरी सप्लीमेंट १९३१ १९३३।

आर० एल० टर्नर 'गुजराती फ़ानोलोजी' ज० आर० ए० एस० १९२१ पृ० ३२९ ३६५, ५०५-५४४।—'सेरीब्रेलाइजेशन इन सिंधी' जे० आर० ए० एस० १९२४ पृ० ५५५-५८४।—'सिंधी रिकर्सिव्स' बी० एस० ओ० एस III (१९२४) पृ० ३०१ ३१५। 'लिंग्विस्टिका' (रिम्यूज) बी० एस० ओ० एस० V I (१९२८) पृ० ११३-११९।

टेसिटरी 'नोट्स ऑन द ग्रैमर ऑव ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी' (इंडियन ऐंटिक्वेरी से पुनर्मुद्रित)। बम्बई, १९१९।

बाबूराम सक्सेना 'लखीमपुरी ए डाइलक्ट ऑव मॉडर्न अवधी' (ज० ए० सोसा) बंगाल XVIII (१९२२) पृ० ३०५ ३४७ 'डिक्लेन्शन ऑव द नाउन इन द रामायण ऑव तुलसीदास' इंडियन ऐंटीक्वेरी १९२३ पृ० ७१-७६।—'द वर्ब इन द आर० ऑव टी० इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज II पृ० २०७-२३८।

एम० शहीदुल्ला 'लैं चां मिस्तीक द कण्ह ऐ द सरह' पेरिस १९२८।

ग्रियर्सन-बार्नेट 'लल्ला-वाक्यानि' लन्दन १९२०।—ए० स्टाइन-ग्रियर्सन 'हातिम्स टेल्स', लंदन १९२३।

ग्रियर्सन 'तोरवाली' लन्दन १९२९।

ग्रैहम बेली 'ग्रैमर ऑव शिना लैंग्वेज' लंदन १९२४।

जी० मौर्गेन्स्टिएर्न 'रिपोर्ट ऑन ए लिंग्विस्टिक मिशन टु अफ़ग़ानिस्तान' ओस्लो १९२६।—'रिपोर्ट ऑन ए लिंग्विस्टिक मिशन टु नॉर्थ-वेस्टर्न इंडिया' ओस्लो १९३२।—'द लैंग्वेज ऑव द अस्कुन काफ़िर्स' नॉर्स्क तिदिस्क्रिफ़्ट (Norsk Tidsskrift) फ़ॉर स्प्रोग्विडेन्स्कैप (Sprogvidenskap) II (१९२९) पृ १९९-२८९।

डब्ल्यू० सैम्पसन 'द डायलेक्ट ऑव द जिप्सीज ऑव वेल्स' ऑक्सफ़र्ड १९२६।

मैकैलिस्टर 'द लैंग्वेज ऑव द नवर और ज़ुट ((Zutt)) द नोमेड स्मिथ्स ऑव पैलेस्टाइन' लंदन १९१४।

जे० ब्लॉख़ 'ला देज़ीनांस द प्लूरिएल पेर्सन दु प्रेज़ेन्त आँ मूरी' जर्नल ऑव द जिप्सी लोर सोसाइटी VII (१९२८) पृ० १११ ११३।—'केल्क फ़ोर्मे वर्बेल दु मूरी' जे०जी० एल० एस० XI (१९३२) पृ० ३ ४२।—'ल प्रेज़ाँ दु वर्ब 'ऐत्र' आँ सिगान' इंडियन लिंग्विस्टिक्स ग्रियर्सन कॉमेमोरेशन वॉल्यूम १९३३ पृ २७-३४।—'ला प्रीमियर पेर्सन दु प्रेज़ाँ आँ कश्मीरी' बी एस० एल XXVIII (१९२८) पृ० १९। —'सूर्वी वाँस द संस्कृत' आसीत (āsīt) आँ आँदियन मॉदर्न' बी० एस एल XXXIII (१९३२) पृ० ५५ ६५।

अंत में सामान्य प्रश्नों से सम्बन्धित

जे ब्लॉख़ 'सम प्रॉब्लेम्स ऑव इंडो-एरियन फ़ाइलोलोजी' I 'द लिटरेरी लैंग्वेज' II 'इंडो-एरियन ऐंड द्रविडियन' III प्रेज़ेन्ट रिक्वायरमेंट्स ऑव इंडो-एरियन रिसर्च' V ४ (१९३०) पृ ७१९-७५६।

एक कोश का उल्लेख करना यथेष्ट होगा जो तुलनात्मक है और बहुत अधिक महत्त्व का है

आर० एल० टर्नर 'ए कम्पैरेटिव ऐंड एटिमोलोजिकल डिक्शनरी ऑव द नेपाली लैंग्वेज' लंदन १९३१।

उद्धृत पत्रों के संक्षिप्त किये हुए द्योतक

बी० एस० एल०—बुलेतां द ला सोसिएते द लिंग्विस्तिक द पारी' बी० एस० ओ० एस०—बुलेटीन ऑव द स्कूल ऑव ओरिएंटल स्टडीज' आई० एफ़०—इंडोजर्मनिशे फ़ोर्शुंगेन जे० ए०—जूर्नाल एसिएतीक जे० आर० ए० एस०—जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के ज़ेड०—ज़ाइटश्रिफ़्ट फ़्यूर फ़ेर्ग्लाइशेन्डे स्प्राखफ़ोर्शुंग एम एस० एल०—मेम्वार द ला सोसिएते द लिंग्विस्तीक द पारी।

प्रथम खण्ड

ध्वनि

स्वर

१ प्राचीन स्वर

प्राचीन संस्कृत की स्वर-प्रणाली भारत-ईरानी प्रणाली के अत्यन्त निकट है। उसमें ह्रस्व और दीर्घ अ, इ, उ, ऋ (केवल अ० कॅरप की अद्भुत धातु में ऋ सहित) हैं किन्तु जिनमें संयुक्त स्वर ए और ओ उसी प्रकार हैं जिस प्रकार ऐ और औ। अ (अर्थात् *अ *ए, *ओ तथा स्वर-संबंधी कार्य में अनुनासिकों से उत्पन्न) इ (अर्थात् *इ) और उ की दृष्टि से उसका ईरानी के साथ पूर्ण साम्य है

*अ	सं०	अजति	अ०	अजैति	लैटि०	एजिट	§
*ए		अस्ति	पु०फ़ा०	अस्तिय्	ग्रेग्नि०	एस्ट	
*ओ		पोति	अ०	पैतिस्	ग्री०	पोसिस	
*न् (स्वनंत)		अ	अ०	अ	ग्री०	अं	
*म् (स्वनंत)		शता	अ०	सत	ग्री०	ऐकृत	
*इ		इहि	गा०	इधि	ग्री०	इथि	
*उ		उप	अ०	उप	ग्री०	उपो	
§	सं०	मातर्	अ०	मातर	लैटि०	मेटर	
		मा	अ०	मा	ग्री०	मए	
		धमि	अ०	दमम्	ग्री०	थूमोन्	
		जातं	अ०	जातो	लैटि०	नाटुस	
		शतं	अ०	सतं	ग्री०	कथूमोन्	
		धीम	पु० फ़ा०	धीम-	लैटि०	फूमस	
		भू	फ़ा०	बू	ग्री०	फोफुर्वेन्	

साथ ही सं० आ कुछ परिस्थितियों में ह्रस्व *ओ के स्थान पर आता है भारत-ईरानी में यह विशेषता अब भी है ग्री० मैक्समोलस, पु०फ़ा० अस्मानम्, सं० अश्मानम्।

भारत-ईरानी में इ *अ से निकली है, प्रथम अक्षर में ही यह अनुरूपता है

सं० पितर अ० पितर, लैटि० पेटर,

किन्तु अकेली संस्कृत ही उसे मध्यवर्ती रूप में सुरक्षित रख सकी है

दुहितर् ग्री॰ थुगतेर, गा॰ दुधसारात्मक दुर्हता अ॰ साथ-साथ आए व्यंजनों की मुखरता को आत्मसात् करते हुए ड्युख्त।

घोष एक दुर्बल ध्वनिमात्र थी और वह न केवल स्वर से पूर्व लुप्त हो जाती है जैसे भारोपीय में धन्-अन-पु॰ 'मारनेवाला' तुल॰ अभि-र्दर किन्तु जब कि वह अपने को पूर्व य् के साथ मिला लेती और उसके साथ एक हो जाती है (भीत तुल॰ ग्री॰ परिम-स्वह) तो एक प्रकार के अवरोधक विपमीकरण द्वारा म् से पहले उसका रूप ब हो जाता है धे-यति धेनु (अ॰ दएनु 'स्त्री')।

अन्य में संस्कृत इ और उ एक अस्थिर ध्वनि वाले भारोपीय स्वर, जिसका भारत-ईरानी में रूप परिवर्तित होता रहता है, के अनुरूप हैं वे प्रारंभ से ही व्यंजन और स्वर के बीच में स्वगंत वर्ग के आ जाने से उच्चारण-संबंधी कोमलता धारण कर लेते हैं *ॄ के संबंध में विशेषतः तथ्य स्पष्ट है

गुरु-	अ॰ गोउरु-	ग्री॰ बरुस
गिरि	अ॰ गैरि

*र्ष के साथ योग स्थापित कर देने से यह कोमलता भारतीय भाषा को एक ऐसा दीर्घ स्वर प्रदान करती है जो ईरानी में प्राप्त नहीं होता

दीर्घ	अ॰	दरुघ्/अ-
पूर्ण	पु॰फ़ा॰	परन	अ॰ परोउर्व

अंतर इतना अधिक है कि यहाँ भारतीय ईॣ, ऊॣ ईरानी के समरूप परवर्ती *ॠ की याद दिलाते हैं।

वास्तव में संस्कृत में यह ॠ ह्रस्व घटिक स्वर के रूप में है, जब कि ईरानी में पहले उच्चारण की दृष्टि से, फिर स्वगंत व्यंजन अ॰ अंर् (अं) पु॰फ़ा॰ र् [पहले समय इ] और प्राथमिक अर्

पृच्छामि	अ॰ पॅरॅसा	फ़ा॰ पुरसम्
ऋद्धि	अॅरॅत-	प-र्सेत् (जिसमें र्से- ह्र्से का प्रतिनिधित्व करता है)

की दृष्टि से भिन्न है।

तो इस दृष्टि से ईरानी की अपेक्षा संस्कृत अधिक रूढ़िप्रिय है।

इसके अतिरिक्त उच्चारण-भेद से अंतर के आघात का भेद उत्पन्न होता है जो

शुद्ध छन्दात्मक भाषाओं में अत्यधिक महत्त्व का है। प्राचीन मात्रा को केवल भारतीय भाषा ने ही सुरक्षित रखा है।

संस्कृत में दीर्घ ॠ उपलब्ध नहीं है; उसका अस्तित्व तो केवल आकृतिमूलक सादृश्य के फलस्वरूप नवीनता के कारण है। इसलिए संबंध० और कर्म० बहु० पितॄणाम्, पितॄन्, नॄणाम्, नॄन्, जो देवानाम्, गिरीणाम्, वधूनाम्, देवान्, गिरीन्, वधून्' के अनुकरण पर हैं। बाद में अब भी इन नामों में प्राचीन रूप सुरक्षित है, नर-आंर् जैसे अ० में दुर्मित्र-अम् और लटि० में पेट्र-उम।

व्यावहारिक दृष्टि से इन सब में केवल एक मूल स्वर है, ह्रस्व या दीर्घ अ आ या तो शब्द के मध्य में है या संयुक्त स्वरों के स्वर-संबंधी तत्त्वों में है। इसके विपरीत य् और व् के सभी स्वर-संबंधी रूपों से पूर्व इ और उ उसी प्रकार हो जाते हैं जिस प्रकार र् से ऋ, इ-म, य्-अन्ति, सुनु-म, सुन्व्-अन्ति जैसे बिभृ-मः, बिभ्र्-अति तथा से ही पु-भिः, दिवः, स्नु-त, सोम्-अति। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इ और उ सर्वत्र वही कार्य करते हैं जो ऋ करता है।

वास्तव में यद्यपि वैयाकरणों के मतानुसार, संयुक्त स्वरों ऐ, औ का प्रथम तत्त्व कम-से-कम दूसरे की अपेक्षा ह्रस्व भी हो सकता है, उन्होंने ईरानी में सुरक्षित प्रथम दीर्घ तत्त्व वाले संयुक्त स्वरों को बताया है, जैसे ऐस्मै; किन्तु अ० अहुमाइ, तुल० ग्री० आइमो; उनका विग्रह आ + य् अथवा व् (गौ — कर्म० गाम्) के रूप में हो जाता है और तत्पश्चात् अर् के अनुरूप नहीं आर् के अनुरूप हो जाता है। भारत-ईरानी संयुक्त स्वर ऐ, औ प्राचीन ईरानी में सुरक्षित हैं। किन्तु अति प्राचीन संस्कृत में ही उनके संयुक्त रूप प्रारंभ होने लगते हैं

अ० अएस्मो — तुल० ग्री० अईथो — म एध
अएघ — तुल० ग्री० आइद्या — वेद
अएइति — पु फ़ा० ऐतिर्, तुल० (ग्री०) एसि — एति

उनके मात्रा-काल में जो निरंतर दीर्घ रहता है और स्वर से पूर्व उनके विग्रह में उनका प्राचीन रूप प्रकट होता है, जैसे-प्रकार ऐय्-अति।

ए और ओ तो ईरानी द्वारा सुरक्षित *अज् के प्रतिनिधि के रूप में अब भी पाये जाते हैं, ए शब्द के मध्य में और पहले *अज़्धि तुल० अ० वृधी के लिए नदिष्ठ-अ० नजदिश्त एधि ओ अन्त में (ऋ० १२१६७-'प्रियो नो अस्तु', यही संयोग की अवस्था में मनो-जव और कुछ के अन्त से पूर्व द्वेषो-भि)।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ध्वनि-ध्वनियों की इतनी सरल सूची से निस्संदेह उच्चारण की विविधताओं का पूर्णतः अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उदाहरणार्थ

स्वयं वैयाकरणों ने इस बात की ओर संकेत किया है कि आ की अपेक्षा अ का अधिक स्थिर रूप था और यह विभिन्न रूपों में प्रमाणित हो जाता है विशेषतः उन ध्वनि विरोधों से जो आज मात्रा-काल-संबंधी प्राचीन विरोधों के स्थान पर हैं उदाहरणार्थ बँगला में ओ का विरोध अ (लिखित आ) से है अथवा यूरोपीय जिप्सी-भाषा ए का विरोध अ से है।

यूनानियों द्वारा प्राचीन भौगोलिक रूपान्तरों में विभिन्नता है उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनमें ग्री० ∝ ह्रस्व अ होना चाहिए अगोस दक्षिणा (दक्षिणा) सन्द्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) दक्षिणबदेस् (दक्षिणापथ) उत्तर आरिएन में कम्बिस्थोलोइ (कापिष्ठल) है किन्तु ये संकेत यथासत समास के प्रथम शब्दों के अंत में मिलते हैं एरन्नोबोअस जिसमें 'ओ' के अतिरिक्त 'आ' भी है (हिरण्यवाह) छन्द्रभागोस (चन्द्रभागा) तप्रोबने (ताम्रपर्णी) यह भी कहा जाता है कि टोलेमी ने उसका प्रयोग पूर्वी भागों के लिए, जिसे वास्तव में गंगाछ कहते हैं, किया (एस लेवी 'टोलेमी ल निद्देस एत्यूद एसियातीक ई-एफ ई-ओ पृ० २२) अन्त में स्त्राबोन में बेट्टस (टोलेमी में दरद्दइ है) आरिएन में मेथोर (टोलेमी में मौथोउर) कन्नेबर्गेस तिबोस और ~नमद् के निकट पेरीप्लस में यही कल्पिएन है।

पुरुषवाचक संज्ञाओं में अ और इ का परिवर्तन तो निश्चित रूप से बताया जा सकता है, विशेषतः उस समय जब कि ब्राह्मण प्रणाली से किसी दूसरी प्रणाली की ओर जाना पड़ता है यू० ग्रा० मट मैथिस महा० मल मैथिस सं० सुषिष्टिन्द पा० सुच किन्द किन्तु पाली में मॅनन्दरोस के लिए मिलिन्द में इ है, कुसलन और कुषीलव कौटस्य- और कौटिल्य सातवाहन- और सालिवाहन पा० तपुस और पौधे का नाम तिपुस सं० त्रिपुष पुरुषवाचक संज्ञा और त्रपुष दूसरे प्रयोग भी मिलते हैं।

मध्यकालीन भारतीय भाषाओं और तत्पश्चात् आधुनिक भाषाओं में ऐसे पर्याप्त संख्या में उदाहरण मिलते हैं जिनमें प्राचीन अ के स्थान पर इ हो गयी है पा० तिपु (अथर्व० त्रपु) पा० प्रा० मिञ्जा तुल० सिं० मिञ् (मज्जन) पा० इंग(ह्) आल, आदि (अंगार) हि० बिन् और बन् (वप-) हि० किन् (उँगली) (तुल० कन्या कनिष्ठ) पिन्- (पप्-) मिणुहा पिजर् जो अगड़ा पंजाब के निकट है इलाहाबाद (अस्लाह) मेढ़ाना बरना (वर) के निकट है, मेंढक् (मण्डूक) बँगला चिह् (चर्म) छिल्का (छल्लि-) सिंदूर जो संपाक रूप (सर्जूर) से प्रमाणित होता है। यह एक ऐसी भाषा में होने के कारण और भी महत्वपूर्ण है जिसमें अ का उच्चारण ओ या ओ आदि की भाँति होता है, जिसमें संयुक्त और विशेषतः तालव्य

के प्रभाव की झलक मिलती है इसी प्रकार हिन्दी और पंजाबी में ह् द्वारा अ का तालव्यीकरण बराबर पाया जाता है जिसके अनुसार रोह् लिखा गया रह् सिं० किहानि हि० कहानि (कथ) की अपेक्षा रखता है।

जैसा कि प्रतीत होता है यदि अ सामान्यतः तालव्य उच्चारण ग्रहण कर लेता है तो उसी प्रकार के द्रविड़ रूपों को देखने की इच्छा होती है। क० मिम् (महा) हर हालत में समान रूप अवश्य मिलते हैं क० मेरुसु त० तेप्प परीपिप्स इरप्प (म) मु० तथा त० मेरुसु,त० मिळ्गु सं० मरिच।

इसके विपरीत ऋ० युगुली सं० महाकाव्य वातृ का परिवर्तन कम अपवाद स्वरूप है अथोक० उदुपान (उद) आयुष (औषध) पा० पुक्कुस निमुज्जति (मज्ज्) ओष्ठ्य की श्रेणी में आ जाते हैं।

यहाँ इस बात का स्मरण हो आता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में ऋ का अन्त साधारणतः अ या इ में हो जाता है और प्रारंभ में विशेषतः इ में किन्तु केवल ओष्ठ्य के साथ होने पर उ में इसी प्रकार संस्कृत में स्वनत स्वरों की ध्वनियों के लिए है तिर्, हिरण्य किन्तु पुर्, किन्तु मृयते स संभावक प्रकार मुरीय ि रि किन्तु गुरु- प्राय ह् के पहले इ ही आती है मैं० सं० मलिहां तै० सं० मरह् कभी-कभी अ के रूप में मिलती है पा० अरहन्त् से अरहा जिसकी व्याख्या है शत्रुओं को नष्ट करने वाला'—अरि-हन किन्तु इस प्रकार उ के लिए नहीं कहा जा सकता।

वैयाकरणों ने ह्रस्व तथा दीर्घ इ और उ के उच्चारण की भिन्नता की ओर संकेत नहीं किया। किन्तु नामों की दृष्टि से जैसे फिरैवइ, पेरीपिल के सुरस्त ैने अति प्राचीन काल में मिलते ह स प्दरकोत्तोस (-गुप्त) पक्लिवौर (-पुन मेथोर (मथुरा) एरोओबोअस (हिरण्य-) और टोलमा में गेरइ अथवा -गेरइ (गिरि) विपर्यस्त रूप में मुद्राओं पर अगपुक्रेयस' 'एपोपोलकीस' अशोक० में 'तुरमय' (टोलेमी)। तो इस बात का संकेत मिलता है कि ह्रस्व इ और विशेषतः उ अपने सानुरूप दीर्घ रूपों की अपेक्षा अधिक विवृत थे। उससे निस्संदेह पा० आवुसो (आयुष्मन्त) के मुकाबले में आयस्मन्त- पुन र् की दृष्टि से पन (तुल० मराठी पण् सं० पणि) जो संस्कृत रूप के साथ-साथ अर्थ भी सुरक्षित रखे हुए ह् की विवृति सरल हो जाती है। आधुनिक काल में शब्द के मध्य उसकी दुर्बल स्थिति को कठिनाई के साथ प्रमाणित किया जाता है केवल गुजराती में उसका रूप दिखाई देता प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ मह् (मिश्र), सम् (मिल्) -हुओ (हि० होता)।

यह भी सिद्ध नहीं होता कि ए और ओ का उच्चारण एक ही भाँति रहा होगा। अथर्ववेद १ १४ ३६ के प्रातिशाख्य के आधार पर, ऐसा प्रतीत होता है कि ए और ओ आ के लगभग समान विवृत और अ की अपेक्षा अधिक विवृत रहे होंगे किन्तु तै० प्राति २ १३—१४ से प्रत्यक्षतः इसका खण्डन हो जाता है। इन दो उच्चारणों पर प्रकाश पड़ता है प्राचीन संयुक्त स्वर से अलग होने में जिनके तत्त्व प्रारंभ में निकट रहे हों (अइ हो) भिन्नता के कारण अलग-अलग रह हों (औ हो जिससे अओं बना)। आधुनिक युग में गुजराती की सैद्धान्तिक दृष्टि से विशेषता प्राकृत से आये विच्छेद के साथ ऐं और औं जिनमें विवृति अधिक थी की अपेक्षा प्राकृत ए और ओ से आये ए और ओ की विवृति की मात्रा में है (टर्नर, आशु० मुखर्जी जुबिली वॉल्यूम' पृ० ३३७)।

इन हालत में -ओ और *-अस से निकले सं० -ओ समान नहीं हैं वैदिक संधि यद् दृष्टि के न्मध मन भ्रांम- (मनस् और यो से) का विरोध करती है। *अस से निकला -ओ कभी-कभी -अय् में विभक्त हो जाता है। पूर्वी मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में अन्त में -ए रूप में समाप्त होकर वह विलीन हो जाता है अशोक के अपश्चिमी अभिलेखों में सं० -अः सर्वत्र -ए रूप में आया है देवानापिये (-प्रिय) 'लाजिने' (राजा) 'मे (म) आदि किन्तु एक यौगिक जैसे रयो-महात्मक और एक स्वराघात-विहीन जैसे शब्दों में संस्कृत की विशेषता सुरक्षित रह गयी है जैसे 'सो' 'ओ (तुल० अनु) (निय के प्राचीन प्रमाणों में यही बात मिलती है दे० पृ० ८) में अ+उ से निकला था।

कोई व्याकरण-संबंधी महत्त्व न होने के कारण इस रूप की विविधताएँ प्रत्यक्ष नहीं रहीं अथवा कम-से-कम उनकी ओर ध्यान नहीं गया। अस्तु, संस्कृत की स्वर प्रणाली अपूर्ण हैं किन्तु भारत-ईरानी की अपेक्षा वह कम अपूर्ण है क्योंकि प्राचीन संयुक्त स्वरों को प्रथम हृस्व रूप में ले आने की चेष्टा में उस दो भय ए और ओ प्राप्त हो गये।

किन्तु इन ध्वनि-श्रेणियों का विभाजन मात्रा-काल की दृष्टि से अव्यवस्थित है जो यद्यपि प्राचीन ध्वनि-प्रणाली का एक मूल तत्त्व है केवल अ इ उ में हृस्व और दीर्घ मात्रा-काल हैं यह केवल कुछ हालतों में अन्त में दीर्घ हो जाती है व्युत्पत्तिमूलक सामर्थ्य के कारण अन्त में ए और ओ के केवल दीर्घ रूप मिलते हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से भी उनमें उतनी ही असमानता है केवल अ स्वर है इ उ व्यंजन हैं ए और ओ विच्छिन्न हो जाने वाले संयुक्त स्वर हैं और य अय् अव् में विभक्त हो जाते हैं जो सामान्यतः *ऐ, *औ से निकले हुए इसे चाहिए अथवा

ऐ औ का विच्छेद आय् आव् में हो जाता है। सामान्यतः, परिवर्तन क्रम जिनका भाषा में प्रमुख भाग रहता है ध्वनि प्रणाली के अनुक्रम नहीं हैं उसे ऋ के अनुक्रम आकृतिमूलक समुदायों की ध्वनि-श्रेणियों के उदाहरण द्वारा देखा जा सकता है अर् अ (जैसे मूल स्वर) अन् इ ए, इ (अर्थात् * र्‌) आ इन असमान रूपों की संख्या और भी बढ़ायी जा सकती है। इ के अतिरिक्त परिवर्तन क्रमों में ध्वनि-श्रेणियाँ विभिन्न रहती ह इस प्रकार इ, स्वर अ जहाँ तक उसे * र्‌ से निकला माना जा सकता है स परिवर्तनीय है और साथ ही म् से भी बिना इस बात का ख्याल रखे हुए कि वह स्थिति में ऋ से भी अलग हो सकती है।

एक ऐसी प्रणाली में जिसमें दुरूहताएँ रूपों के अनुक्रम न हों गंभीर परिवर्तन होना आवश्यक था।

२ स्वरों का परवर्ती विकास

(१) ध्वनि-श्रेणियों का लोप

व्यावहारिक दृष्टि से असंतुलित होने के कारण यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष सरलता और स्थायित्व (आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में अपनी नवीन ध्वनि-श्रेणियाँ एक प्रकार से विकसित ही नहीं हुई) के रहने पर भी संस्कृत की स्वर प्रणाली को गंभीर क्षतिपूर्ति प्रदर्शित करनी पड़ी है।

ऋ का स्वरीकरण

पहला ऋ के बहिर्गत हो जाने में है इस दृष्टि से भारतीय भाषा में ईरानी तथा अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति एक दुरूह ध्वनि-श्रेणी विलीन हो जाती है, और जिसकी स्वर-स्थिति में ही व्यंजन तत्त्व निहित थे किन्तु इस समस्या का भारतीय समाधान निराला है क्योंकि अन्य स्थानों की भाँति ईरान में यह परिणाम निकला कि एक समुदाय में एक साथ ही एक स्वर और एक र है केवल भारतवर्ष में उच्चारण की क्षति पर मात्रा-काल की रक्षा एक ऐसी पद्धति द्वारा की गई है जिसका प्रयोग ईरानी और ग्रीक भाषाओं में व्यंजना के संबंध में होता है और स्वभावतः इ, उ के संबंध में जो कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करती।

यह बात निर्सन्देह है कि उच्चारण में ऋ का स्थान एक विशुद्ध स्वर ने ले लिया था न कि किसी संयुक्त-स्वर ने अथवा शब्दांशों का निर्माण करने वाले किसी समुदाय ने। तो क्या लेख में ऋ के इतने दिनों तक सुरक्षित रहने का कुछ अर्थ है? जो भी हो

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, वेद में ही ऱ द्वारा प्राचीन ऋ का प्रतिनिधित्व किया गया मिलता है यह संबंध० एक० पितु (*पितृ-स्) जैसे शब्दों के अन्त में मिलता है, तुल० अ० नरस् (*नृ-स्) नृ का १ बहुवचन तुल० अ० पा० अंनहर्, सिको-दतरसे (दे० मेइए, मिस्तीस दोरियनताम एस० सेबी' पृ० १७)। यह एक सामान्य तथ्य है कि ऋ ध्वनि-अपनी पहले अन्त में हो। किन्तु ऐसे उदाहरण भी पाये जाते हैं जिनमें उपलब्ध स्वर शब्दों के मध्य देखा गया है जिनमें परिवर्तन-क्रम का कोई भी प्रतिफलन ऋ की रक्षा नहीं करता और जिनमें केवल शब्द-व्युत्पत्ति-विशेषज्ञ ही चिह्न पा सकता है जैसे निम्न तुल० ग्री० मेतॅरोस मृदु (अ० मरदु दे० 'डोमम मेट्रासिलियम थिजमन पृ० ११९) साथ ही तुल मेह– गृह के समान।

र + स्वर के भी कुछ प्रमाण मिलते हैं जिनमें शब्दाधिक भाषा-भाव को भी स्थान मिला है: जिमि क्रमि के समीप तुल० फ्रा० किर्म रजत- अ० अंरजतम् व अप्रत्यक्ष रूप से भृणोति (अ० भुरुणाति अशोक० भुनेम् आदि) द्वारा प्रमाणित होता है।

मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओं में ये ही रूप मिलते हैं अथवा उचित रूप में ऋ प्रयोग जो भारतीय-आर्य भाषा की विशेषता है वेद में बड़े अच्छे रूप में मिलते हैं जो बाद को परवर्ती भाषा-स्थितियों के तत्सम-चिह्न में सामान्यतः मिलते हैं। स्वर + र का रूप जैसा कि ईरानी में है, केवल संस्कृत से लेकर आधुनिक शब्दों के अनिश्चित उच्चारण में मिलता है (सं० अमृत अमृरित और अमृत के समीप) ऐसा ही फा० मिर्ज़ा से मिला है इसी प्रकार शहबाजगढ़ी के अशोक के अभिलेखों के अनिश्चित रूपों में कोई चाहे तो *मुरग आदि (मिकेल्सन जे० ए० ओ० एस० × × × पृ० ८२) पढ़ सकता है जब कि पाठ के अनुसार वह म्रुगो (तुल ध्रम = धर्म) मिलता है। फलतः यह स्वीकार करना चाहिए कि यह एक अनोखा अपवाद है। बोवर श्रौर्य (हम ग) जो कभी-कभी अपन को पं० रिम्प् म० रीम् आदि वैदिक के साथ अभी अज्ञात ईव, पश्चात् के ईय् अय् सिन ईय् से अलग कर लेता है यहाँ विचार किए जाने की दृष्टि से बहुत दूर पड़ता है।

र – स्वर, वैदिक क्रिमि की भाँति का प्रयोग संभवतः अशोक० (भुम क्रिम-) और पाली में ओष्ठ्य के समीप मिलता है उदाहरणार्थ वुहति (ऊ के लिए, तुल० सं परिवृढ म अना परिब्रुम्ह) ब्रह्मन् (बृहद् के अनुकरण पर बृह के लिए, मं० बरिहिष्ट) रजत (और रजत भी द्रापायम) साथ ही तुल० पा० पुथु (पृथक) के विपरीत ह पुथु० पुथि। किन्तु पा० पुष्कानि विशिष्ट अण्ठ- (पृष्टानि वृश्चिक आदि) यह प्रदर्शित करते हैं कि प्रत्येक स्थिति में ये अपवाद-स्वरूप हैं। प्राकृत में रि प्रारंभ में ही मिल जाता है रिद्धि रिमि रिच्छ- आदि किन्तु इति अण्ठ- भी

मिलते हैं तुल० पाली और जैन प्रयोग महसि । यद्यपि उसके कुछ चिह्न आधुनिक भाषाओं में मिलते हैं तुल० पीछे उद्धृत 'हमारा' के लिए शब्द, तो भी उनमें यह प्रयोग अपवाद स्वरूप है और ऋ के स्थान पर मूल स्वर का हो जाना जिसे वैदिक भाषा में निश्चित रूप से दिखाया जा चुका है और साथ ही क्लासीकल भाषा में (क्रोष्टृ और क्रोष्टु आदि का मिश्रण) मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओं में भाषाएँ जो विलक्षण समझी जाती हैं सामान्य प्रयोग के रूप में रह जाता है। स्वर की विभिन्नता पहले ही दिखाई पड़ने लगती है गिरनार में अशोक और बाद में मराठी भाषा ने अ को पसन्द किया जिसे सिंधी में कोई स्थान नहीं मिला, इ का प्रयोग बहुत हुआ है।

संयुक्त स्वरों का लोप

ए और ओ के विकसित हो जाने से संयुक्त स्वरों की भारत-ईरानी प्रणाली का टूटना विकास की वह प्रथम श्रेणी है जो स्वयं बाद को मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में ऐ और औ के रूप में परिणत हो जाती है, साथ ही जब उसका आकृतिमूलक मूल्य नष्ट हो जाता है इ, ए, ऐ उ ओ औ।

यह तो कहा जा चुका है कि संस्कृत में भारत-ईरानी संयुक्त-स्वरों आइ, आउ का प्रथम तत्त्व अ अपना ठीक-ठीक मात्रा-काल खो बैठा था। आधुनिक भारतीय भाषाओं में ऐ और औ में फिर अ ए और ओ आ गये हैं अशोक० केवट (कैवर्त) विकृतरूप स्त्री० एक० ने (-अे) का अन्त्य पोत्र (पौत्र) पा० वेर (वैर) पोर (पौर) उभो (उभौ) रत्तो (रात्रौ)। यदि क्रम से निकले ऐ, औ के अतिरिक्त अब कहीं भी ऐ औ में परिवर्तित हो जाते हैं गिरनार में अशोक ने लिखा है थैर (स्थविर) और थैरस (त्रयोदश) जो पाली में थेर तेरस लिखे जाते हैं। यही बात अभिनिहित के संबंध में भी है सह० (-पा) समचरियम के लिए अशोक० समचैरम् बीच की उस स्थिति का द्योतन करता है जिससे प्राकृत रूप अच्छर (आश्चर्य), आचेर (आचार्य) निकले हैं और प्राकृत विशेषणों का रूप -एर जिसका संबंधसूचक विशेषणों के प्रत्यय के रूप में प्रा० सु जिप्सी-भाषा आदि में अत्यधिक प्रयोग होने वाला था। अन्त में शब्दांश-संबंधी सीमा द्वारा पृथक किये गए उ और इ, उ आगे चलकर इस सीमा के संकुचित हो जाने से आपस में मिल जाते हैं निगुलिवा के अशोक-अभिलेखों में तो चो(द) दस् (चतुर्दश-) दिया ही हुआ है जिनमें अन्त्य का विपर्यीकरण हो जाता है साथ ही उनमें टोपरा के रूप भी मिलते हैं चतु(प)दे चातुम्मासं और, परिवर्तन-

ये मध्य तथा अन्त्य संयुक्त-स्वर सर्वप्रथम मात्रा-काल की दृष्टि से प्रयुक्त हुए हैं प्राचीन छंद प्रणाली में वे दीर्घ रूप में आते हैं। उस समय से व प्राचीन दीर्घ रूपों की भाँति रहे हैं किन्तु बौद्ध संस्कृत और परवर्ती मध्यकालीन भारतीय भाषा के दीर्घ शब्दों में अन्त्य स्थिति धारण कर लेते हैं यथा॰ सीहासन (सिंहा) के लिए सिंहासन आदि।

(२) शब्द में स्थान के आधार पर परिवर्तन

कुछ लगभग अपवादों को छोड़ कर, स्वर-संबंधी ध्वनि प्रणाली इतिहास में बराबर बनी रही है संस्कृत के अ इ ए, उ ओ सामान्यतः फिर उस रूप में मिलते हैं जिस रूप में उदाहरणार्थ मराठी या हिन्दी में। इसके विपरीत छंदात्मक परिवर्तन हुए हैं।

संस्कृत में स्वरों का मात्रा-काल निश्चित रूप से निर्धारित है उसमें ह्रस्व हैं दीर्घ हैं और फिर दीर्घ ह्रस्व के संयुक्त रूप में हैं (शब्दांशों का 'गुरुत्व' एक भिन्न बात है एक शब्दांश भर हो सकता है स्वर ह्रस्व यदि इस स्वर के बाद दो व्यंजन आयें)। प्राचीन छन्द प्रणाली द्वारा अनुमोदित मात्रा-काल-संबंधी विभिन्नता का संबंध विशेषतः कुछ निश्चित आकृतिमूलक प्रकारों से है यहाँ कुछ प्रत्ययों (सुवो मन) अथवा रचना के प्रथम शब्दों (विश्वामित्र–) और उनमें मिल गए आकृति मूलक तत्त्वों (तमवन्त व प्रत्ययों से पूर्व विशेषण शब्द) से संबंधित अन्त्य स्वर उद्धृत किए जायेंगे। भारोपीय की यह एक परंपरा रही जिससे यह प्रकट होता है कि प्राचीन काल से ही उसमें शब्दांशों से संबंधित "गुरुत्व" के परिवर्तन-क्रम का अत्यन्त महत्त्व रहा है हस्त मर्दम एव गृभम् (⏑⏑–⏓) पादपूर्ण यथा भरीमन् भरिमन्। इसी प्रवृत्ति के कारण अनुकूल परिस्थिति में ह्रस्व स्वर का पूर्ण लोप हो जाता है इमु मनु के लिए इम्महे मन्महे म मोप्स्य देखिए जनितो की अपेक्षा जन का भाँति इयमरात्मक शब्दों के मूल की इ को लुप्त कर देने की शक्ति जिससे जनिम के समीप जम्मना (द॰ मेइए, एम॰ एस॰ एल॰ XXI पृ॰ १९१) बनता है। इसी परंपरा के अनुसार मध्यकालीन भारतीय भाषा में यौगिक शब्दों का व्याप्तियुक्त रूप मिलता है पा॰ भातीमरण स्मितोगत- और इसी प्रकार संबंध॰ सतीमतो दे॰ कर्ता॰ सतीमा (स्मृतिमान्) किन्तु विपर्यस्त रूप में ह्रस्वीकरण मिलता है तण्हगत तण्हा (तृष्णा) के रूप में और पञ्ञवा (प्रज्ञावान्) तो यह एक ऐसा समान बात है जो अन्त्य के अनिश्चित महत्त्व की ओर उतना ही संकेत करती है जितना शब्दांशों के छन्दात्मक समुदाय की ओर।

वास्तव में मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वर-संबंधी मात्रा-काल उतनी ही कठोरता के साथ सुरक्षित नहीं पाया जाता जितनी पहले व्याकरण की दृष्टि से और विशेषत परिवर्तन रूपों की दृष्टि से पाया जाता था यह बहुत कुछ शब्दान्तर्गत स्वरों की ध्वनि की स्थिति पर निर्भर रहता है और वह भी दो रूपों में एक तो शब्दांशों के निर्माण की दृष्टि से दूसरे शब्द के रूप और विस्तार की दृष्टि से।

(अ) शब्दांश

प्राचीन प्रणाली के अनुसार, एक शब्दांश जिसके अंत में कोई दीर्घ स्वर आया हो और एक शब्दांश जिसमें ऐसा ह्रस्व स्वर हो जिसके पश्चात् आश्रित व्यंजन आया हो समान रूप से मन्द होता है यथा— तप्त–,ताप—‿ की तरह। व्यंजन समुदायों के परस्पर मिल जाने से स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता पा० तत–(तप्त)—‿।

एक शब्दांश जिसमें दीर्घ स्वर और तत्पश्चात् एक समुदाय हो बहुत मन्द रहता था और कदाचित मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका आदर्श रूप पाया जाता है। गिरनार वाले अशोक के अभिलेखों में उससे बचाव पाया जाता है अ(म्‌न)म्‌न (अन्य) यु(त्)त- (युक्त) के निकट रूप में पढ़ने को मिलता है रा(म्‌न)ञो (राजना) मा(र्)दव (मार्दव) जो वैसे ही विरोधी रूप में है और अपूर्णत अनुकल्पित समुदायों पर आधारित स्वर-संबंधी मात्रा-काल में पाया जाता है अधुनाते (अत्यात्) जो आरम (आरम) के विपरीत पड़ता है।

पश्चिमी भाग में भाषा-संबंधी यह परिस्थिति बहुत दिनों तक बनी रही सिंधी में उसके प्रमाण मिलते हैं जो वाघ्[उ] (व्याघ्रो) का वक[अ] (वक्रम्) से राद्[ए] (रात्री) का रत्[उ] (रक्तो) से काठ्[उ] (काष्ठम्) का अठ्[अ] (अष्टौ) से विरोध प्रकट करते हैं ऐसा ही पंजाबी रात् (रात्री) और रत्त् (रक्त) और कश्मीरी में है काठ् (काष्ठ-) बाघ् (बाघ) किन्तु रत् (रक्त-) तो इन प्रदेशों में द्वित्व रूपों का सरलीकरण हाल का है।

अन्य भाषाओं में इस रीति का अपवाद-रूप में प्रयोग हुआ है यह पा० दीघ (दीर्घ) लाखा (लाक्षा) रूप में है। साधारणत शब्दांश की स्वर ग्रहण करने की दृष्टि से उसका सामान्य "गुरुत्व" फिर प्राप्त हो जाता है और यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के समय से रीति रत्त के रूप में कट्ठ- अट्ठ के रूप में अम्मा अम्मा- (अम्ब-) के रूप में।

अथवा ए और ओ जिनमें अन्त में ह्रस्व हो जाने की प्रवृत्ति थी इन स्वरों पर भी बराबर ह्रस्व हो जाते हैं। सामान्य कथा जेट्ठ- (ज्येष्ठ-) की तरह कुछ ग्रहण नहीं

करता अग्गिहुत- (अग्निहोत्र) जुण्हा (ज्योत्स्ना) जैसे ऐसे स्पष्ट हो जाते हैं जब कि ऍ और ऒं का अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाता है क्योंकि एक ही धातु हुत- के ह्रस्व से और लगभग एक से अर्थ जुति (द्युति-) के शब्द में नियम का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु नक्क (निष्क-) ओट्ठ-(उष्ट्र) जैसे रूप जिनकी व्याख्या शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान नहीं कर सकता, प्रस्तुत ह्रस्व रूपों को मान कर चलते हैं। इससे न केवल पूर्वोल्लिखित उदाहरण ही, वरन् व्युत्पत्ति के उन उदाहरणों की भी व्याख्या हो जाती है जिनमें वृद्धि बिल्कुल लुप्त हो गयी है सिन्धव (सैन्धव) इस्सरिय (ऐश्वर्य-) उस्सुक्क- (औत्सुक्य)।

यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में बढ़ हुए, इन ह्रस्व वर्णों ने परिवर्तन-क्रमों की प्राचीन प्रणाली में कितनी कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी हैं न केवल व्युत्पत्ति में किन्तु आकार की दृष्टि से स्वयं रूप-रचना में गुण की सुरक्षा का अभाव है। उल्टे आधुनिक काल तक उसमें और कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गए हैं हि० एक इष्ट्ठा बेल्ना विखाना [जिनमें शब्द-व्युत्पत्ति-संबंधी परिवर्तन क्रम से आश्चर्यजनक रूप में विपर्यस्त मूल-संबंधी परिवर्तन-क्रम परिणाम है तोड़ना (त्रोटयति) टूटना (त्रुटयते)]।

तो इस समय उसमें एक नयी प्रणाली पायी जाती है जिसके अन्तर्गत ऋ का अस्तित्व नहीं रह गया और जिसमें प्राय सभी स्वर ह्रस्व या दीर्घ हो सकते हैं। केवल एक कठिनाई यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से इ एक साथ हो ई और ए दोनों का ह्रस्व रूप हो सकता है उ भी ऊ और ओ का यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है जब कि ए और ई, ओ और ऊ परस्पर मेल नहीं खाते और पारस्परिक परिवर्तन अपवाद रूप में प्रकट करते हैं।

हम देखते हैं कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में द्वित्वों का सामान्यतः सरलीकरण हो गया है प्रस्तुत विषय की दृष्टि से पूर्व स्वर, जिसकी उत्पत्ति किसी कारण हुई हो दीर्घमान हो जाता है। यह चीज कुछ हालतों में मध्यकालीन भारतीय भाषा से चली आती मानी जा सकती है तुल० अशोक० में दिल्ली के स्तंभ में भविष्यत् रूप -हेसति है, जो -ह(स्)सति के निकट है। गंगा की घाटी और दक्खिन की भाषाओं में हर हालत में नियमित रूप से यह पाया जाता है आप् (आत्मन् प्रा० अप्प-) रात् (रात्रि या रत्ति-) आग् (अग्र पा० अग्ग) पात् (पत्र पा० पत्त-) मूत् (मूत्र पा० मुत्त-) पूत् (पुत्र पा० पुत्त-) यूरोप की जिप्सी भाषा में ग्रव् (आज्ञा) माछ्मो (मत्स्य), दोनों गव् (ग्राम-) के अ सहित न कि केर् (कर्) के ए आदि सहित। इन्हीं से हिन्दी में मक्खन् माखन् (म्रक्षण) बत्ती और बाती (वर्तिका) जैसे द्वित्व रूप हैं।

सिंहली में केवल ह्रस्व स्वर और साधारण व्यंजन अधिक हैं विकास के विस्तार ज्ञात नहीं हैं यदि अनुनासिक+स्पर्श से पूर्व स्वरों का विभाजन एक उसी प्रकार के विकास की ओर संकेत करता प्रतीत होता जिस पर विशेष रूप से दृष्टि डाली जा चुकी है तो स्वरों का ह्रस्वीकरण हाल का है।

वास्तव में अनुनासिक+स्पर्श वाला समुदाय व्यंजनों के समुदाय की साधारण स्थिति में टिक नहीं सकता और दूसरी ओर स्वर की अनुनासिकता जो प्राचीन समय में सिन्-ध्वनि सोष्म या महाप्राण (सर्सद् वंस संवाद प ह्रित) से पहले आ गया थी स्पर्श से पूर्व केवल देर में और आंशिक रूप में आय। संस्कृत और अनक्षिप्तकों में अनुस्वार द्वारा व्यक्त विस्तारपूर्ण शब्दों में वास्तविकता का प्रयोग नहीं पाया जाता।

पश्चिमी समुदाय में जिसमें अनुनासिक व्यंजन की भाँति मिलता है स्वर स्पर्श समुदाय से पूर्व की भाँति अपना मात्रा-काल बनाये रखने की क्षमता रखता है पं० कान्ना सिं० कानो (काण्ड) पं० रम् सिं० रन् (रथ्या) किन्तु सिं आमो (आम्र) के निकट पं० अम्ब्।

अन्यत्र स्पर्श की मुखरता पर सब कुछ निर्भर रहता है। मराठी में स्वर, जो (विधानों के प्रभाव से अलग) सदैव दीर्घ होता है अनुनासिकता बनाये रखता है और स्पर्शत्व के पश्चात् अनुनासिक मुखर हो जाता है आदि कठोर से पहले अनुनासिकता रहती है और व्यंजन से पूर्व पहल जाती है आदि तथा तत्संबंधी लेख के बिना अनुनासिक-विहीनता में उसका अंत होता है (हाल के एक विवेचन के लिए, दे० मॉडर्न रिव्यू १९२८ पृ० ४२०)। कुछ-कुछ यही बात गुजराती में मिलती है। तथापि सिंहली में अर्गुर (अंकार) कुर्गबु (कुम्भ) का विरोध कट् (कण्टक) सेत् (शांति) कम् (कर्म) और साथ ही मम् (मांस) से है जो मराठी में पुनर्विभाजन है सिवाय इसके कि सिंहली में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं।

हिन्दी में स्वर द्वारा अनुनासिकता का अपने में लीन किये जाने की प्रवृत्ति प्रमुख है पाँती (पंक्ति) जाँप् (जंघा) पाँच (पञ्च) किन्तु एक समय में अधिक दीर्घ पचास् (पञ्चाशत्) पूजी (पुञ्ज) काँठ (कण्ठ-) पीठी (पिण्डिका) आदि तक अथवा उदाहरण में स्वयं स्पष्ट लक्ष्य हो जाता है चूम् (चुम्ब्)। यद्य ह्रस्व स्वर अनुनासिक के रूप प्राय: मिल जाते हैं जो निस्संदेह संस्कृत शब्दों के प्रभाव से मुक्त हैं वे चार पंथ् पिण्डी आदि ही हों तो ऊपर संकेतित आदि इसी प्रकार के एकमूलक विभाषी या शब्दों में न एक में समानता पाई जाती है।

(आ) शब्द

अन्त्य स्वर

व्यंजनों के लुप्त हो जाने के फलस्वरूप मध्यकालीन भारतीय भाषा के समस्त शब्दों के अंत में स्वर रहता था। बाद को शब्द के अन्त की निजी दुर्बलता की अभिव्यक्ति स्वर-संबंधी तत्त्वों में हुई आधुनिक भाषाओं में संयुक्त स्वरों से निकले हुए स्वरों को छोड़कर, दीर्घ अन्त्य स्वर और नहीं रह गये हैं, इसे छोड़ कर, स्वरों में अथवा स्पष्टतः रखे हुए व्यंजनों में अंत होने वाले शब्दों को कठिनाई से सुना जाता है।

इस परिवर्तन के चिह्न मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्राचीनतम प्रमाणों में पाये जाते हैं। अशोक-स्तंभों के एक छोटे-से समुदाय में -या -या-, -यात् से निकला -या -य लिखा हुआ मिलता है शब्द के विन्यस्त हो जाने पर प्राचीन दीर्घता फिर प्रकट हो गयी सिय व, किंतु जाति अन्य अभिलेखों में मात्रा-काल नियमित रूप से नहीं रह जाता।

पाली के अनुलेखन में बहुत-सी बातें सुरक्षित रह गयी हैं और शेष में रूप-विचार, जो प्राचीन प्रकार का है का वह सामान्य तकाजा है जाति एकवचन है जाती बहुवचन है आदि किंतु सामान्य अतीत ३ एक० में जिसमें परिवर्तन-क्रम एक दूसरे स्वर में होता है सामान्यतः ह्रस्व मिलता है आसि (आसीः आसीत) अस्सोसि आदि, और फलतः विपर्यस्त रूप में अच्छिन्दी। याकोबी का विचार 'ये धम्मा हेतुप्पभवा' के प्रसिद्ध सूत्र की परीक्षा द्वितीय शब्द के ह्रस्व -अ द्वारा करता है।

अनुनासिक स्वरों में एक प्रकार की समानता है गिरनार में कर्म० एक० स्त्री० -मातां (मातम्) है किन्तु अन्यत्र -माते है पाली में कञ्ञं और नदिं (कन्यां, नदीम्) समान रूप से बराबर धम्मं और अग्गिं (धर्मम् अग्निम्) की तरह हैं इसी प्रकार अशोक० और पा० दानि (इदानीम्) है। इसी प्रकार फिर अशोक० और पा० सबध० बहु गुरूनाम् अधिकरण० ए० स्त्री० परियायं है अनुनासिकता जिसका अब भी मामूली तौर से छन्द-व्यवस्था में महत्त्व माना जाता है के कारण स्वरूप सभी रूपों का दीर्घ तत्त्व विस्तारपूर्ण अनुलेखन में नहीं मिलता वास्तव में यदि यथास्थान दस्सनम् निम्हान मासे जैसी अभिव्यंजनाओं में *अनुनासिकता के दर्शन ही* नह होते और वह भी माध्यम के बन्धन के बिना Sn. धीमम् यथान संसरम्। उसी से प्राकृत में प्रत्ययों की संख्या में अनुनासिक स्वर रहने या न रहने की संभावना हुई, जिसके बिना इस संबंध में शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से निश्चित रूप स निष्कर्ष नहीं

निकाला जा सकता उसी से छंद में अन्त्य अनुनासिकों की दीर्घ या ह्रस्व (अनुस्वार या अनुनासिक) के रूप में गणना करने की स्वतंत्रता है।

इसमें जहाँ तक -ए और -ओ से संबंध है उन्न मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती और ऐसा प्रतीत होता है कि ये ध्वनि-श्रेणियाँ पसन्द न रही हों इस बात का प्रमाण ह गुनु के -ह या -ए वाले सम्बन्ध प्रकारों और अधिकरण कारकों में तथा -उ और -ओ वाले कर्ता० में मिलता है जिसमें इन स्वरों की दीर्घ के रूप में गणना होती है बां १७ गर्दहिनु (पा० गर्दहिनो) तथा ११ गोचरि (गोचरे) तथा प्रतिकूल रीति से बां १५ बहोँ बामर, १० बहोँ भापति बो C^{VO} १२ बहो जमो (पा० बहुज्जना) के विपरीत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें धम् उतम् (धर्म्मम् उत्तमं) सवम् (पा० सम्म स्सम् सं० सम्यस्सम्), बहु अथवा बहो (बहुं) के अनुनासिक स्वर की भाँति ध्वनि प्रच्छन्न हो जाती है। तो फिर यह संभव है कि महावस्तु और प्राकृत कविता में ऐच्छिक रूप में ह्रस्व माने गये -ए और -ओ के बने रहने पर भी इनमें पहले ध्वनि परिवर्तित हो गयी है। ह गुनु० में देखी गयी मध्यकालीन भारतीय भाषा के -उ रूप धारण करने वाले –अं (-आँ) की प्रच्छन्नता अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं में सामान्य रूप धारण कर लेती है।

विशेषतः मध्यकालीन भारतीय भाषा के क्रिया-रूपों का विस्तार बहुत बड़े अंश में ध्वनि-संबंधी अनुरूपता पर निर्भर है -अति अन्ति अते अन्ते। यद्यपि उसका और भी विस्तार हो सकता है आधुनिक भाषाओं के मूल में तो केवल अन्त्य स्वर ही ह्रस्व है।

स्वयं आधुनिक भाषाओं में इन ह्रस्वों में फिर अपने उचित स्थान की दृष्टि से ह्रास उपस्थित हो जाता है। कुछ भाषाओं में फुसफुसाहट वाली ध्वनि कठिनाई से मिलती है किन्तु मुखरित फुसफुसाहट वाली ध्वनि है सिंधी की देह् ^{उ} (देहु) को देह् ^{अ} देहा से है आदि की विशेषता है मैथिली में -इ और -उ बने हुए हैं आन्हू (अन्ध) किन्तु आँख् ^{इ} (अक्षि) बहु ^{उ} (वधू) पाँच् (पञ्च) किन्तु तिन् ^{इ} (त्रीणि)। पूर्ण लोप तो केवल बहुत पिछड़ी हुई बोलियों में मिलता है। [उदा० कटी बूर्रंद (भार बूम् वोयम्) म्यूउम् (भूमि)], और दूसरी ओर अत्यधिक विकसित भाषाओं में गुजराती मराठी (कोंकणी को छोड़कर) बंगाली बिहारी (मैथिली को छोड़कर) अन्ततः हिन्दी और पंजाबी। तो भी यह बताना आवश्यक है कि अन्तिम भाषाओं के प्रदेश की गँवारू भाषा स्वाभाविक रूप से अन्त्य स्वर बनाये हुए

है और सब जगह छन्दशास्त्रियों ने शब्दों के अन्तिम व्यंजन के बाद '-अ मूक' वाले शब्दांश की गणना की है।

उड़िया में सभी शब्द जिनका अन्त व्यंजन में होता है एक उदासीन स्वर जोड़ देने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं जो दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं के अन्तिम अस्थिर -उ की याद दिलाते हैं उड़िया के तो स्वयं व्याकरण में एक द्रविड़ रूप मिलता है 'संबंधबाचो हलन्त'।

अस्तु, सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण बोलियों को छोड़कर, शब्दों के अन्त में आने वाले स्वर स्वर-संधियों से निकले दीर्घ होते हैं या उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। अपवाद रूप में प्राचीन दीर्घ व्याकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शब्दों में बने रहते हैं मराठी जो (य') मराठी आम्ही प्रा० अम्हे) तो भी इस बात की ओर संकेत करना आवश्यक है कि ये दीर्घ संभवतः केवल वर्ण-विन्यास (हिज्जे) संबंधी हैं तुल० बंगाली आमि हिं० हम्। मराठी में और हिन्दी में एक वास्तविक अन्त्य स्वर दीर्घ की भाँति विचारा जाता है इसी से हिं० जनूवरी मई, जुलाई, जो अँगरेजी से लिए गये महीनों के नाम हैं हिं० सेक्री जो सिक्रटर् सिक्रतर् के जो एक ऐसे शब्द को दीर्घ बना देते हैं जिसमें केवल प्रथम स्वर पर आघात होता है और अंतिम अस्पष्ट रहता है (सेक्रेटरी) विपरीत हैं। किन्तु कश्मीरी में चूर् (चोरी चोर) राय् राय़ी, के निकट और दूसरी ओर उधार लिये हुए शब्द कुल्या नदी से अथवा अपादान० चूरा (मध्यकालीन भारतीय भाषा *चोरओ) विशेषण बोड्[च], कुड्[उ] रूप में होते हैं तुल० हिं० बड़ा बड़ी।

शब्द-क्रम

शब्दांश-निर्माण से संयुक्त होने पर भी शब्द-व्युत्पत्ति-विचार ही अमन्त्य स्वरों के वास्तविक मात्रा-काल की गणना करने के लिए पर्याप्त नहीं है। यह या वास्तव में आधुनिक भाषाओं के शब्द में पाया जाता है कि कुछ स्वर अन्य की अपेक्षा अधिक कठोर है। प्रथमतः, अन्तिम व्यंजन से पहले आने वाला स्वर अथवी हलन्त देवत् (-अन्तो) क्रियार्थक संज्ञा दशम् फलतः एकाक्षरों के स्वर सदैव अपेक्षाकृत दीर्घ होते हैं। दूसरे, संयुक्त-स्वर से निकला अन्त्य स्वर (-ओ, -औ -आ जो प्राकृत के -अओ से है ई एक -ऐ, -ए, जो प्राकृत -अम्हि में ई में मुख्य कारक पुल्लिंग) जो अब भी ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है कर क्रमशः गुर[उ] गुप[इ]। इसी प्रकार आदि स्वर भी बराबर बना रहता है

(अन्त्यवर्ण-लोप के अन्तर्गत उपविश् से मराठी बैस्) हि० बैठ् किन्तु उसका मात्रा काल स्थिर नहीं रहता। इसके विपरीत मध्य स्वर सामान्यतः मन्द पड़ जाता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से मात्रा-काल के संबंध में संकोच के चिह्न मिलने लगते हैं किन्तु मामूली तौर से सहायक बातों को समझाया जा सकता है इसलिए प्रवाह के स्थान पर प्रवाँह में मिलती-जुलती रचना मिलती है अथवा तुल्यार्थक प्रत्ययों के रूप में जैसे मराठी तलें पा०* तडक- का अनुमान करता है जो 'अपदान' (Apadāna) (एच० स्मिथ) के तडाक- का सच्चा सम-मात्रा गमन है बह कि हि० गु० तलाओ सं० तडाग के अनुरूप है सि० बिलो हि० बिल्ली से *बिडाल- की कल्पना होती है अन्य भाषाएँ संस्कृत बिडाल से साम्य रखती हैं प्रा० बहिर, जिसकी पुष्टि हि० गहरा आदि से होती है इस बात का अनुमान कराते हैं कि सं० गभीर में स्थविर स्थिविर आदि के प्रत्यय ग्रहण कर लिये हैं किन्तु मम्जार-(मार्जार) के निकट प्रा० मम्जर प्रा० सं० कुमार-के निकट प्रा० कुमर- जिसकी हि० कुवार् के मुकाबले गु० क कुंवर् द्वारा पुष्टि होती है की व्याख्या के लिए कुम्बर स्थिर का स्मरण करने में संकोच होता है। यह बताया जाता है (ब्लूमन 'प्रेस्टिट्यूशन आलोची' पृ ८४ तथा बाद के पृष्ठ) कि हाल (Hāla) में पीअ (पीत) और उवणीअ के निकट आविय समाविय मिलते हैं यह आणेइ, समाणेइ का -एइ में सामान्य प्रेरणार्थक धातु (णिजन्त) के रूप में प्रयोग है। दूसरी ओर उत्तर मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से समास के द्वितीय शब्द के समक्ष सरलीकृत आदि समुदायों की स्थिति बनती भी है नहीं भी बनती पा० निक्खिप- अथवा निक्खिप्-(निक्षिप्-) जिसके अनुकरण पर है पटिकूल- अथवा पटिक्कूल-।

आधुनिक काल तक शब्द-व्युत्पत्ति-संबंधी मात्रा-काल की अपेक्षा शब्द-रूप की प्रमुखता रही है। यही कारण है कि बाप और पूत् के मुकाबले में हिन्दी में अपना पुतली है हि० बं० बिज(ड)ली में ह्रस्व ठीक-ठीक वैसा ही ह्रस्व नहीं है जैसा सं विद्युत् में है किन्तु वह प्रा विज्जुलिआ की भाँति है अन्यथा वह एक ऐसा दीर्घ रूप है जो हाल ही में ह्रस्व हो गया है निश्चित रूप से सीधा स निकला निपुला उसका दृष्टान्त है ए की बंगला में विकृति होती अनिवार्य है सिउली (शेफालिका) और ई का सि० सिआरी (शीतकाल-) में।

मराठी में नियमित रूप से किडा कीड (कीटा-) का एक० विकृत रूप अथवा पूरा (पूरित-) है इसी प्रकार बलिनारी उर्दू में हि० मीठा के स्थान पर मिठ है हिन्दी बाग्नर म रूप के स्वरों का रक्षण करती है उसमें पापड़ है जब कि पंजाबी में पुर्माद् (पापान्त) है पी० दास जैन बी० एस० भा० एस० ।।। पृ० १२१। उसी से आकृति-

मूस्क मूस्य का वैपरीत्य उत्पन्न होता है हि॰ देखना दिखाना बोलना बुलाना।

मध्य भाग की दृष्टि से बँगला में ठाकुर् का स्त्री-लिंग ठक्रन् है हिन्दी में बहीन् का बहुवचन बहनें है दक्खिनी उर्दू में बेवा (विधवा) का बहुवचन बेव्मन् है उभार लिए हुए शब्द मुलाक़ात् का उच्चारण मुलकात् की भाँति होता है। हि॰ हमारा के समस्त मैथिली में हम्रा बंगाली में आम्रा है। कम-से-कम हि॰ अँधेरा (*अंधकार– तुल॰ ने॰ अँध्यार) और अहेरन् (अधिकारिणी) (पूरी बात के लिए दे॰ एच॰ स्मिथ बी॰ एस॰ एल॰ XXXIV पृ॰ ११५) में -रना का वही रूप दृष्टिगोचर होता है जो -अन का उसी समय से बँगला के पुरुषवाचक नामों में स्वयं ए का लोप हो गया है गन्शा (गणेश) बरना (वारेन्द्र)।

इस प्रकार के तथ्य बहुत से हैं और बोलचाल में लेखन से भी अधिक हैं उनका वर्गीकरण करना कठिन है। ह्रस्वीकरण के उदाहरणों को और विशेषतासूचक ध्वनि के लोप को सम्यक् स्पष्ट रूप से रखना तो विशेषतः कठिन है। स्पष्टतः लयात्मक चरम सीमाओं में जिनके बिना उनका पारस्परिक प्रधानता का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है समर्थ है म॰ कासव् और सि॰ कछ् (कच्छपी) की ओर विपर्यस्त रूप में म॰ कपूस, हि॰ कपास् और मु॰ कापुस् (कार्पास–) की तुलना करना रोचक होगा अथवा पु॰ कोढ़ी पूर्वी पं॰ लोहढ़ा पश्चिमी पं॰ लुहाण्डा (लोहभाण्ड–) की। जो कुछ महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि स्वरों का मात्रा-काल और शब्दांशों का 'गुरुत्व' अपने-अपने संबंध पर निर्भर रहते हैं।

दूसरी ओर आधार-स्वरों की जो प्रायः प्राचीन स्वरों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु उनसे निकलते नहीं हैं गौण उत्पत्ति देख लेना भी आवश्यक है उसी से बँगला गेलास हि॰ जनम् (जन्म) है उन स्वरों की उत्पत्ति विशेषतः रोचक है जो अन्त में तीन व्यंजनों के समुदाय को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं

हि॰ समझा समझाना समझना

म॰ उमृटा (सि॰ उप्रिटो) उलट्ने

और इसी प्रकार गुजराती और हिन्दी में है किन्तु यह विन्यास ने॰ उमृटनु, उ॰ उमृटिबा क्रियार्थक-संज्ञाओं में भिन्न है।

यहाँ यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि स्वरों का महत्त्व शब्द के व्यंजनों के सामने दब जाता है। वैदिक प्रणाली के साथ इससे अधिक विरोध पाना कठिन है।

३ स्वरों की अनुनासिकता

इतिहास के दौरान में कुछ अनुनासिक स्वर प्रकट हुए हैं जो प्राचीन परवर्ती *अनुनासिक स्पर्शों से नहीं निकले।* यह उस समय होता है जब कि स्वरों की प्रधान अनुनासिक ध्वनि अनुकूल स्थिति में प्रकट होने लगती है और मुख्यतः जब वह दीर्घ हो जाती है और जब वह अ के साथ प्रकट होती है [सैंकालेनेबार द कोलेबे प्रैक्टिक ऐ होल एस्यूद (उच्च अध्ययन की व्यावहारिक शिक्षण-संस्था की ग्रंथावली) पृ० ६१]।

वेद के समय से ही यह चला आ रहा है कि कुछ अन्त्य स्वर जिनकी स्थिरता जाने से अथवा सामान्य दीर्घ के द्विगुणित से (अर्थात् प्लुति) अधिक हो जाती है वे अनुनासिक हो जाते हैं इसी प्रकार विवृति या विच्छेद के अन्तर्गत कुछ —अ हो जाते हैं (और केवल दीर्घ या प्रसारित ही नहीं I ७९.२ अ भिन्दन् के अंत में अभिनन्दों में ईई) निस्सन्देह विस्मयादिबोधक शब्द पवित्र ओम् प्राचीनकालीन साधारण ध्वनि (ओं!) की व्युत्पत्ति यही है। यह केवल शैली की अपेक्षा कुछ और है जिसकी तुलना मलाबार की अभिनेत्रियों द्वारा किये गये प्राकृत के अनुनासिक उच्चारण से की जा सकती है (पिशरोती बी एस० ओ० एस० V पृ १०९ स्वयं पाणिनि ने वाक्यांत के अंत में ह्रस्व और दीर्घ अ इ और उ की अनुनासिकता स्वीकार की है। यही बात आधुनिक युग तक चली आती है म० हि० बहु -औं (-आन) तवें (तहिं) हि प्रिं (प्रिय) में। आधुनिक भाषाओं में सभी दीर्घ स्वर, मध्य की भांति ही अनुनासिक ध्वनि विकसित करने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं म० केंस् (केश–) हि० ऊंट् (उष्ट्र–) साँप् (सर्प–) आँख (अक्षि) ऊँचा (उच्च) पु० हि तेलँ (तैल–)। ये अनियमित रूप से बँटे हुए हैं बंगाली में जिसमें हि० पोथी (पुस्तक) के विरुद्ध पुँथी है हि साँप् (सर्प) के विरुद्ध सापु मिलता है किन्तु जो कुछ लिखा जाता है और जो उच्चारण है उसमें अन्तर कैसे किया जाय?

विविध नासिकाएँ मध्यकालीन भारतीय भाषा तक तुल्यतः दीर्घ—अनुनासिक बनाती चली जाती हैं कम-से-कम शिम्-ध्वनि के र (स) अथवा तालव्य (कठोर) की फिर तालव्य (कोमल) की जिसका पूरा इतिहास भारतीय-आर्य भाषा में क्षीण मयप प्रकट करता है मुक्त करते हुए—स्थानान्तरित व्यंजन के सामने।

निस्सन्देह तभी से कम-से-कम कुछ अंशों में प्रा० पंमति हुमति (चप हर्ष) मुम्र- (गुल्फ) अंस अंसि- (अक्षि) में अनुनासिकों की अभिव्यक्ति है और विपरीत रूप में पा० का सीह (सिंह) और सं० का वीहि अनुनासिकता-विहीन

दीब है। तभी से विशेषतः प्राकृत के अनुनासिक अंसु (अश्रु), पंखि (पक्षिन्), बंस- (वंश) वस् (वर्ष) आदि और उनसे निकले आधुनिक रूप हैं (खास तौर से सि० हुम्बु, बम्मु की ओर ध्यान दीजिए जिनमें ऊष्म से पूर्व का अनुनासिक एक स्पर्श को वियुक्त कर देता है)।

ये बातें आधुनिक भाषाओं में बहुत अधिक पायी जाती हैं और प्राचीन ध्वनि-संबंधी सीमाओं का अतिक्रमण हो जाता है न केवल हिं० बाँह (बाहु) मिलता है वरन् गु० पीपर् आदि के विपरीत म० पिम्पली (पिप्पली) मिलता है स्वभावतः ऊँचो (उच्च) से ने० ऊँमो (ऊर्ध्व)। औपम्यमूलक उदाहरणों को आंशिक रूप में ही सही प्रस्तुत करना आवश्यक है, जिनमें का अनुनासिक अन्यत्र मिलता है अथवा हिं० अंगीठा (अग्निष्ठ-) को जो अंग् वाले अन्य शब्दों से है और जिससे सर्वप्रथम अंगार् बनता है।

अंत में समीपवर्ती अनुनासिक स्पर्श ध्वनियों के प्रभावान्तर्गत अनुनासिक स्वरों की ओर आइए।

१ शब्द के अन्त में प्राकृत के नाम प्रत्यय रूपों में संबंध० बहु० में -आणम् (-आनाम्) और -अंम्‌में करण० एक० में -एण और एम्‌में कर्ता० नपु० बहु० में सामान्यतः आईं [इ से पूर्व -अंमि के साथ स्पर्श अनुनासिक के मिल जाने के सहित तुक० अवधी में बरसइ, किन्तु विकृत रूप बरसन (-वर्ष) जब जातें अथवा जावन] पाया जाता है। अपभ्रंश में करण० में भी परिणाम -एँ में दृष्टिगोचर होता है मरें, और भविसत्तकह में अनुनासिक इसी लिंग में मिलता है इसी ग्रन्थ में अनुनासिक के परवर्ती सभी अन्त्य -इ, -उ -हिं अथवा -हुँ अनुनासिक हो जाते हैं १ एक० सुणइँ।

२ शब्द के प्रारंभ में म् अथवा ण् द्वारा परवर्ती स्वर के अनुनासिक हो जाने की सम्भावना मिलती है। पा० में मक्कट (मर्कट) मिलता है किन्तु साथ ही मकुक-(मत्कुण-) भी जिससे पं० मँगण् किन्तु हिं० चमोकन् बने हैं। यह एक अपने ढंग की निराली बात ही आश्चर्यजनक बात है कि परवर्ती साथ ही स्फुट उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें बाद में आनेवाला व्यंजन मुखर हो जाता है जैसे प्रा० मम्जार, हिं० माँजर (मर्जार पा० मज्जार) बिहा० हिं० मूग् कश० माँग्, सिंहली मुनँगु मुग्, किन्तु म० मूग् मु मग्, क मुग् (मुद्ग-)। आधुनिक भाषाओं में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं कश मग्ज सि० मञ्जु जिप्सी-भाषा मँज् सिंहली मँमँद और ममँद (मध्य-) को हिं मँझ आदि के विपरीत है सिं० मुञ्ज, गु० मुझ- (मुह्यति) बि० मुष्ह् हिं० म० मूह् किन्तु उ असामी मुह् (मुह्यति प्रा० मुहेइ)। और प्रारम्भिक न् सहित कश० नोनु, सिमा नगु, सि० और यूरोप की जिप्सी-भाषा नङ्गो हिं०

सं॰ मज्जा किन्तु गु॰ माणी म॰ मांस उ॰ मांस्ना (मज्जा) हि॰ गु॰ मींज्, से॰ तोरवाली मिज् यूरोप की जिप्सी-भाषा मिञ्ज्र किन्तु म॰ मी व सं॰ मिष सिंहली मिन्द और मिदु। ठीक इसी प्रकार सिंहली में सिम् का ऐसा ही विरोध देखा है मसिपु अथवा मस्सिंपु। यहाँ केवल स्वर ही अनुनासिकता का विस्तार हो जाता है सिं॰ नोहँ (नदी) अव॰ नईं जो तुक के विपरीत है।

ये अपवाद-स्वरूप तथ्य तालव्य (कोमल) की शिथिलता की प्रवृत्ति प्रमाणित करने की दृष्टि से रोचक हैं जिनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम है दीर्घ स्वरों का अनुनासिक होना और यह भी स्वयं ह्रस्व स्वरों के निश्चित अवस्थों का।

४ आघात

भारोपीय की भाँति वैदिक भाषा में स्वरों की विशेषता केवल ध्वनि और मात्रा काल के कारण ही नहीं वरन उदात्त सुर से रहित होने के कारण भी थी इसका किसी अन्य रूप में स्वर की अन्य विशेषताओं या शब्द-रचना से कोई संबंध—और उनके लिये कोई महत्त्व—नहीं था।

सभी शब्दों पर आघात नहीं रहता था कुछ शब्दों में वह उसकी अपनी स्थिति के बाद या उपसर्ग के बाद होता था इस प्रकार क्रिया को सुर केवल विधिवत् रूप से अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से गौण पूर्वसर्ग में प्राप्त होता था संबोधन॰ को केवल एक पाद के प्रारम्भ में।

शब्द के एक अकेले स्वर को यह सुर प्राप्त होता था और सुर शब्दांश को कोई विशेष महत्त्व प्रदान नहीं करता था। शब्द में सुर का स्थान शब्द के रूप द्वारा निर्धारित नहीं होता था किन्तु आकृति-मूलक नियमों द्वारा जो संभवतः वही थे जो अन्य भारोपीय भाषाओं में थे (इसी प्रकार पूर्वोल्लिखित सिद्धान्त थे)। अस्तु पात् पादम् पद परिवर्तन क्रम ग्री॰ पोउस् पोंडा पोदोस् का क्रम प्रस्तुत करते हैं (किन्तु पुम में पुमोस् का आघात नहीं है) कर्ता॰ एक॰ पिता के विरुद्ध संबोधन पितर में आदि आघात पतेर के विरुद्ध पतेर की भाँति है कर्तृ॰ सं॰ एप का और विशेषण एप का तथा अप और अपाः का विरोध ग्री॰ तोमोस् तोमोस् प्सुदोस् प्सूदोस् के विरोध से सादृश्य रखता है संबंधसूचक समास (षष्ठी तत्पुरुष) का आघात दोनों भाषाओं में पहले शब्द पर होता है राजपुत्र अक्रुष्टुरोस् मिहिरमरोद्मेलोम् का परस्पर सादृश्य है आदि।

यह अति प्राचीन प्रणाली जिसके विविध रूप हैं पाणिनि के बाद विलुप्त नहीं हो जाती यदि कुछ वैयाकरण उसका उल्लेख करते भी हैं तो भी किसी ग्रन्थ

में वह नहीं मिलती। इसी मे भारतीय भाषाओं और ग्रीक में परस्पर विरोध है, क्योंकि ग्रीक में प्रत्येक शब्द में एक स्वर जो एक साथ उच्च और दीर्घ होता है, प्राचीन सुरों को अब भी सुरक्षित रखे हुए है और जिसकी छंद-योजना में आघात और आघात रहित के परिवर्तन-क्रम की गणना की जाती है। निष्कर्ष यह है कि यदि स्वर-संबंधी सुरों के संकेत-चिह्न लुप्त हो जाते तो प्राचीन संस्कृत-रचना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता (और भारोपीय के ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व) का अभाव हो जाता किन्तु इससे भारतीय-आर्य भाषा के अन्तर्वर्ती इतिहास में परिवर्तन नहीं होता।

यह कहा जा सकता है कि क्या इस विकास में एक नये आघात तीव्र आघात की प्रमुखता नहीं मानी जा सकती जैसा कि जर्मन और चेक में वह प्रथम पर है अथवा आरमीनियन पीक्लेनेशियन और ईरानी में वह शब्द के अन्त के बाद है। विभिन्न विद्वानों ने कुछ आधुनिक भाषाओं में बहुत-कुछ तीव्र आघात की रीति देखी है जहाँ तक वे अपने को निश्चित सिद्धान्तों तक रखते हैं ये सिद्धान्त एक भाषा से दूसरी भाषा में बदलते रहते हैं सामान्यतः वे मात्रा-काल की अवधि और शब्द में शब्दांशों की स्थिति पर निर्भर रहते हैं। उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है जो महत्त्वपूर्ण बात है वह उनकी विभिन्नता है। तो फिर यह आश्चर्यजनक नहीं है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती, जिससे जनसाधारण में प्रचलित भाषा में तीव्र आघात के अस्तित्व के पक्ष में निर्णय दिया जा सके यह बात ही अज्ञात थी [यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि पाली में उदात्त और उकार का पारिभाषिक अर्थ नहीं है और सर (स्वर) मान के प्रति केवल अरुचि प्रकट करता है]। आघात को प्रमाणित करने के लिये जिन बातों का उल्लेख किया जाता है—पिशेल के मतानुसार प्राचीन सुर पर, जाकोबी के मतानुसार शब्द के अंत से अलग प्रथम दीर्घ पर—उनकी व्याख्या अन्य रूपों में भी हो सकती है और विशेषतः लय द्वारा, छंद प्रणाली या तो शब्दांश-संबंधी या मात्रा-काल-संबंधी रहती है आघात, शब्द की अपेक्षा समुदाय पर आघात कुछ आधुनिक भाषाओं में नहीं मिलता—स्वतंत्र रूप में। अस्तु भारतीय-आर्य भाषा के आधुनिक भाषाओं तक के विकास की व्याख्या के लिये आघात की गणना करना ठीक नहीं है।

एक बात सुर के एक उदाहरण के संबंध में कहनी है जो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में एकदम अपवाद-स्वरूप है और इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसकी व्युत्पत्ति जान लेनी चाहिए। पंजाब के उत्तर में (और श्री बी० बी० जैन की सूचना के अनुसार पूर्व में और दिल्ली के लगभग समीप के भूमिभाग में भी और वास्तव में बांगरू बोली में कुछ ध्वनि-संबंधी बातें पंजाबी के समान हैं दे०, एल० एस० आई० IX, पृ०

२५१) प्राचीन मुखर महाप्राण ध्वनियाँ अपना महाप्राणत्व खो देती हैं और ह् अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणत हो जाता है किन्तु समीपवर्ती आघात वाले स्वर मंद स्पन्दनों में फुसफुसाहट वाली ध्वनि को बनाये रखते हैं इसी से स्वर पर सुर मिलता है जिसका मन्द भाग प्राचीन फुसफुसाहट के स्थान तक रहता है सौंकर (साधु) देवोड़ा (प्रा० दिवड्ढ) बंड़ (हिं० बड़) विरड़ तुल० सिं० विढ़ाडे मैड़ (प्रा० कड्ढ) का प्रेरणार्थक (णिजन्त) कढ़ाँ।

क्षेप में आदि मुखरता के परिणाम-स्वरूप (सुर का) और भी मन्द रूप हो जाता है कड्, तुल० हिं मर यह विशेषता चीनी-तिब्बती के परिवर्तन-क्रम की याद दिलाती है जिसमें अत्यधिक प्रमुख सुर कठोर व्यंजन के साथ आता है दुर्बल सुर मुखर के साथ (लोचीनवियों की पैशाची-पंजाबी में सुर—जी मेजांव बेंदूपे में ह पृ० ५७)।

इसी प्रकार का प्रभाव पिना में भी पाया जाता है जिसमें आघातयुक्त पदांश का सुर ऊँचा पाया है, यहाँ के निवासी उस स्वर को दीर्घ कहते हैं जिसमें यह प्रभाव पाया जाता है और वास्तव में भिन्न व्युत्पत्ति के स्वरों के कुछ उदाहरणों में ऐसा मिलता है दारि (दारण) में प्रस्तुत सुर नहीं है किन्तु दारि (हार) में यह है माए में यह नहीं है किन्तु गाइ (घटिका स्वर-मध्यम द् का लोप) में यह है रो ह् में यह नहीं है किन्तु बीड् (दुहिता) में यह है बष् (भाषा) में यह नहीं है किन्तु बस्–बँस्‍ना–(तुल० खोरवाली बरिख–सरक) में यह है एक पि(पुत–)में यह नहीं है किन्तु बहु० में यह है (मामूली तौर से बहुवचन में एक सम्वांश अधिक होता है विलासि बहु० विलासिये) इसी प्रकार का आपूर्ड के बहुवचन में सुर है, जो सामान्य बहु० कापूर्ए में नहीं है।

अंत में पूर्वी बंगाली में कुछ ऐसे उदाहरण बताये जाते हैं (एस० के० चटर्जी, आरबमित ध्वनियाँ पृ० ४१ 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स' I में) जिनमें तीव्रता वाला आघात अधिक उदात्त सुर के साथ आता है और जिनमें महाप्राण ध्वनि अपनी फुसफुसाहट खो देती है—च आ, कॅभत्य पंजाबी में भी ऐसा ही मिलता है।

यह निश्चित हो जाता है कि इन हाल की बातों और भारोपीय तथा वैदिक संस्कृत में शब्द के किसी स्वर में प्राप्त आकृतिमूलक महत्त्व के स्वर-संबंधी आरोह-अवरोह में कोई समानता नहीं है।

व्यंजन

भारत-ईरानी की व्यंजन-प्रणाली ईरानी की अपेक्षा भारतीय भाषाओं में अद्भुत रीति से अधिक पूर्ण रूप में सुरक्षित है।

(१) समस्त भारोपीय भाषाओं में से केवल भारतीय-आर्य भाषा में अब भी स्पर्श व्यंजनों के चार वर्ग हैं अघोष घोष महाप्राण अघोष महाप्राण घोष। महाप्राणत्व इस हद तक मिलता है कि महाप्राणों के परिवर्तन के समय स्पर्शता ही लुप्त हो जाती है न कि फुसफुसाहट वाली ध्वनि।

(२) तालव्य वर्ग में संस्कृत च् में तालव्यीय प्रवृत्ति बनी हुई है जो अ० स् और पु फ़ा० θ में लुप्त हो गयी है तथा काफ़िर भाषा में जो एक भारतीय बोली प्रतीत होती है अब भी अत्यन्त प्राचीन ध्वनि-श्रेणी पायी जाती है।

(३) भारोपीय सिन्-ध्वनि जो ईरान में स्वर या स्वरांत से पूर्व फुसफुसाहट वाली ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है भारतवर्ष की लगभग सब भाषाओं में अभी तक सुरक्षित रही है।

(४) अंत में स्पर्श व्यंजनों ने समुदायों में अपना उच्चारण स्थान अदस्थ समय भी भारतवर्ष में अपना स्पर्शत्व सुरक्षित रखा है जब कि ईरान में वे ऊष्म हो जाते हैं। संस्कृत में ष् के अतिरिक्त और कोई ऊष्म ध्वनि नहीं है।

दूसरी ओर संस्कृत में नितान्त नवीन ध्वनियों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया था और वह था मूर्धन्य ध्वनियों का।

१ स्पर्श । तालव्य

ओष्ठ्य दन्त्य स्पर्श व्यंजन और भारोपीय कंठ्योष्ठ्य से बने स्पर्श व्यंजनों और मध्य स्पर्श व्यंजनों के लिये टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है

अघोष

सं० उपरि	पु० फ़ा० उपरिम्		सं० शफ-	अ० सफ	
पिता	पु० फ़ा० पिता		यथा	अ० यθा	
क्रतु	अ०	क्रतु	सखा	अ० हख	
भिद्	अ०	-बिद् (अवेस्ती द् के सम्बन्ध में सर्वत्र ऐसा ही)			

घोष

सं० बर्हिः अ० बर्रज़िश् सं० भरति अ० बरैति
दभ्नोति अ० दबेनओइति
धेनु अ० दएनु
गौ अ० गाउस् घर्म पु०फ़ा० गर्म
घोष पु०फ़ा० गौशा हन्ति अ० जैनि

इसके विपरीत भारोपीय भाषाओं में तालव्यप्रोष्म का विवेचन एक समस्या प्रस्तुत करता है। वैदिक भाषा ईरानी से जो स्वयं एकरूप नहीं है पृथक हो जाती है

शरद् अ सर्ɗ पु० फ़ा० θर्द
कॉप कोष्टर् जावोर्से- वैसूतर
हस्त ज़स्त दस्त

वैदिक प्रयोग से समस्त ज्ञात मध्यकालीन भारतीय भाषाओं और आधुनिक बोलियों के केवल काफ़िर के छोटे-से समुदाय को छोड़ कर, जिसमें स्पष्टतः भारतीय और ईरानी दोनों की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूप हैं परवर्ती विकास का पता चल जाता है।

वास्तव में अघोष के लिये काफ़िर में च है (और साथ ही से, विभाजन के उस सिद्धान्त के बिना जिसका उल्लेख हो चुका है) फलतः ऐसा प्रतीत होता है स्वयं मध्य-स्पर्श व्यंजन को भारतीय और ईरानी सिन्-ध्वनि से पहले ही जाता था

कटी दुच (किन्तु वैगेलि- दोसे, अश्कुन -दुस्) सं० दश अ० दस
कटी दुर् (वैगेलि चोन् अश्कुन दुन्), सं० सूर्न

घोष ध्वनियों का प्रयोग ईरानी की भाँति है

भारोपीय *ग कटी चोम् सं० चोष्टर अ० जबोले
*ग ह् जिर हृद् वॅर्द

यह भारोपीय ए में पूर्व के कंठ्योष्ठ्य से भिन्न है

भारोपीय *गु̆ह् कटी जॅमनि सं० जामि-
गु̆ह् जॅर्ड हन् अ ज़न्

तो इनमें ईरानी की भाँति दो वर्ग अलग-अलग हैं जिनके संबंध में संस्कृत में भ्रम बस्या है और महाप्राणत्व का लोप है किन्तु यह हाल की बात हो सकती है क्योंकि सामान्यतः यह सब व्यंजनों के संबंध में होता है कर्णी जति (उत्था) मधूद—१

दिन में—(चतुर्थ) बंबीर (भ्रमर) द्रिगेर (दीर्घ); धूम् (धूम) महाप्राणत्व का लोप आसपास के भारतीय भूमि भाग में कभी-कभी मिल जाता है।

यह पूछा जा सकता है कि काफ़िर भारतीय है या ईरानी किंतु उसकी ध्वनि और व्याकरण में ऐसी बातों का अभाव नहीं है जो स्पष्टतः भारतीय हैं फलतः यह एक भारतीय भाषा-समुदाय ही होना चाहिए जो काफ़ी स्वतंत्र रूप में रहा है और जिसमें ऐसे प्राचीन रूप मिलते हैं जिनका अन्यत्र लोप हो गया है। ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कम-से-कम अपने उच्चारण की दृष्टि से सं० ष् अपने सदृश ईरानी उच्चारण से अधिक प्राचीन है और साथ ही ज् मूल ध्वनि-श्रेणी की मध्य-स्पर्शता के कारण अ० ज़ और पु० फ़ा० द् की अपेक्षा अधिक निकट है।

संस्कृत की ओर आने पर, यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसका सम्पूर्ण मध्य स्पर्शी तालव्यों का वर्ग अपनी प्रत्यक्ष नियमितता के बावजूद, पुनर्निर्माण की क्रिया द्वारा बना है। एक ओर उसमें ज् है जो ध्वनि की दृष्टि से ज का घोष रूप नहीं वरन् ग् का है जिसकी गणना शिन्-ध्वनि में की जाती है। दूसरी ओर महाप्राणों की व्युत्पत्ति भिन्न हो जाती है।

अघोष छ् जिससे ईरानी स् का सादृश्य है शब्द के मध्य द्वित्व जैसे रूप में आता है और बहुत-कुछ निश्चित रूप में मिलता भी है। साथ ही एक समुदाय स् तालव्यी भाव-युक्त कंठ्य का मिलता है

सं० छाया फ़ा साय ग्री० स्किआ

पृच्छति अ० पॅरसैति लै० पो(र्)सिट

फलतः यह सादृश्य समुदाय का अंग बन जाता है जो मध्यकालीन भारतीय भाषा की निजी विशेषता का पहला प्रमाण है यह उसी प्रकार है जैसे सं० पश्चा (अ० पश्चै पु फ़ा० पसा) से पा० पच्छा होगा और जैसा कि प्राचीन भाषा में अथर्व० ऋच्छरा जो वा० सं० ऋक्षला के समीप है मिलता भी है, यहाँ जैसा मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलता है यह शिन्-ध्वनि से युक्त कई प्रकार के समुदायों की अपूर्ण स्पर्शता के स्थान पर है।

घोष ह् भी ह्रास की ओर संयुक्त ध्वनि-श्रेणी है। ऋग्वेद का केवल जञ्झति कर्म० स्त्री० बहु० एक ऐसा शब्द है जिसमें यह आता है और जिसकी व्युत्पत्ति जो हस् से है की जैसी ग्रामीणता के रूप में व्याख्या की गयी है यह *ग्'इ-स् से निकले *ग्'झेह् की तरह हो जाता है अस्तु, यह अब भी एक बात मध्यकालीन भारतीय भाषा का प्रमाण है और, जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, ईरानी की याद दिलाता है।

महाप्राण तालव्यों, जिनसे तालव्यों की सूची पूर्ण हो जाती है और फलतः समस्त संस्कृत स्पर्शों की सूची का मूलतः अल्पप्राण तालव्यों के साथ कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर प्राचीन महाप्राण घोष व्यंजनों की समूची स्पर्शता लुप्त हो गयी है और वे वर्ग से अलग हो गये हैं महाप्राण ह् को लीजिए, वह वर्णमाला के बिलकुल अंत में ऊष्मों के बाद आता है।

तालव्यों का उच्चारण बदलता रहा है। संस्कृत में प्रातिशाख्यों ने तालु से जीभ के मध्य-भाग के टकराने में उनकी व्याख्या करने की अनुमति दी है कहीं भी त्सु (ts) आदि के उच्चारण का प्रश्न नहीं है और अंतरंग स्फोटक मूर्धन्य का भ्रम कारण करता है न कि दन्त्य का। मध्यकालीन भारतीय भाषा में कुछ वैयाकरणों के कारण ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे यह अनुमान किया जाता है कि उनका प्राचीन उच्चारण पूर्वी भाग तक सीमित था (ग्रियर्सन जे॰ आर॰ ए॰ एस॰ १९१३ पृ॰ ३९०) कलसी तथा और पूर्व की ओर असोक॰ में चिकि(छ्)सा मिलता है किन्तु गिरनार में चिकी(च्)छा (चिकित्सा) मिलता है। दसवीं शताब्दी के लगभग सिंहली में च् और ज् स् और द् हो जाते हैं साथ ही स्वरों के मध्य (उत्तर रक्) त्सु / ts ज़ु उच्चारण का अनुमान किया जाता है। सिंहली के तालव्य हाल ही के हैं और य् के परवर्ती दन्त्यों या मूर्धन्यों से निकले हैं। उत्तर-पश्चिम सीमा पर काफ़िर में मध्य स्पर्श दन्त्य हैं। कश्मीरी में चूर् (चोर) पंच (पञ्च-) और ज़ेव् (जिह्वा) जाम्- (म॰ भारतीय ज्ञा-) है ज् या तो केवल ईरानी शब्दों में अथवा विदेशापूर्ण शब्द में आता है एवम् द् (छन) छोव (क्षुद्र) भी विदेशापूर्ण शब्द हो सकते हैं छुह् (प्रा॰ अच्छ-) को ऐसा कहना कठिन होगा।

सिन्ध में तालव्यों के दो वर्ग हैं जिनमें से एक ट या प् वाले समुदायों से निकले मूर्धन्य हैं यथा मजा किन्तु अमि मैर, प् (माता)।

२ मूर्धन्य

जिन्हें वास्तव में दन्त्य कहा जाता है जो जीभ के दाँतों से या ठीक उनसे ऊपर टकराने से प्रकट होते हैं उनके अतिरिक्त भारतीय-आर्य भाषा में स्पर्श-व्यंजनों का एक पूरा वर्ग है और वे जीभ की नोक की सहायता से किन्तु तालु के अग्र भाग से टकराने के कारण बोले जाते हैं और यह भी थोड़ी-बहुत प्रमुख परचोन्मुखता के साथ है। भारतीय-आर्य भाषा में इन दो वर्गों का सह-अस्तित्व अनार्य भाषाओं द्रविड़ और मुण्डा (मुण्डा की एक छोटी बोली कोरकू ही भारत की एक ऐसी भाषा प्रतीत होती है जिसमें केवल दन्त्य हैं) में भी मिलता है।

भारतीय-आर्य भाषा की यह नवीनता स्पष्टतः देशीय भाषाओं में इन दो वर्गों के अस्तित्व की कार्यान्वितता द्वारा स्पष्ट हो जाती है। निस्सन्देह यह एक ऐसी अत्यधिक निश्चित बात है जो संस्कृत के अत्यन्त प्राचीन पाठों को शुद्ध भारतीय मान लेने के लिये प्रेरित करती है। अफ़ग़ानी में मूर्धन्यों का अस्तित्व सम्भवतः भारतीय आधार का प्रमाण है।

जिस आर्य तत्त्व ने नवीन वर्ग की रचना संभव बनायी वह ष् है, जो स्वयं सामान्य भारत-ईरानी में तथ स् से निकला है जिसके पहले इ, उ, ऋ (और उनके संयुक्त रूप) और क आते हैं, जिसके साथ स्थापित संपर्क के कारण प्राचीन दन्त्यों में परिवर्तन होता है फलतः ईरानी में उदाहरणार्थ वर्स्त् एक ऐसे समुदाय से अनुरूपता रखता है जिसमें अन्त्य त् शकार ध्वनि के अनुकूल हो जाता है, दोनों ही दन्त्यों से पृथक हो जाते हैं और मूर्धन्यों का वैसा रूप धारण कर लेते हैं। भारत-ईरानी भाषा का ज़् भारतवर्ष में ड् हो जाता है अथवा ड (ढाक के ढ् की भांति प्राचीन ढ् के अतिरिक्त) मूर्धन्य की तरह हो जाता है, दे० और आगे।

संस्कृत में मूर्धन्यों का एक और स्रोत तालव्यों में है। यदि यह उस काल में प्रमाणित किया जाय जो तालव्यीय मध्य-स्पर्शों के संस्कृत रूप धारण करने अर्थात् च, ज, झ से तुरंत पहले था तो ये कुछ-कुछ एस्, एज़्, एज़्ह् के निकट उच्चरित होते हैं जिनका उपमध्यम अंश दूसरे में मिल जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है तत्पश्चात् मूर्धन्य रूप धारण करने में। अथवा जहाँ तालव्य अंतरंग स्फोटक हो जाते हैं वहाँ यही एक अंश रह जाता है। षट्, लै० सेक्स अ० ख़्ष्वस् अथवा अर्ता० एक० विट् जो रूप की दृष्टि से *विश्-स् वास्तव में *विष्स्(स्) से निकला है और करण० बहु० विड्भिः (अ० वीज़्ब्यो) ऐसे ही उदाहरण हैं जिस प्रकार विशेष परिस्थितियों पर निर्भर रहता है (मेसए, आइ० एफ़० XVIII पृ० ४१७)।

इससे मध्यकालीन भारतीय भाषा में और उसके बाद तक ज्ञ समुदाय के मूर्धन्य का प्रयोग भी सिद्ध होता है जिसमें प्रथम अंतरंग-स्फोटक अंश (जो आधुनिक भाषाओं के विद्वत्तापूर्ण शब्दों में अन्य वर्णों के अंतगत पृथक किया जा सकता है, म० ग्य् हि० और बं० ग्ग्) समुदाय में प्रमुखता ग्रहण कर लेता है। सं० आज्ञापयति के लिये गिरनार में अशोक ने आ(ञ)पयामि लिया है, किन्तु शहबाजगढ़ी में अणपयमि अर्थात् *आण्मां पाली में आणापेति है अशोक के ब्रह्मगिरि-लेख में आणपयति जिसे कात्यायन ने संस्कृत के लिये अशुद्ध रूप बताया है (दीर्घ के पश्चात् द्वित्व के सरलीकरण की दृष्टि से) पाली में आणत्ति पञ्ञत्ति किन्तु ञापेति अञ्ञा

(आज्ञा) पञ्ञत्त भी है तुल० शहबाजगढ़ी ए(म्)नो (राज्ञ) की आति (ज्ञाति) के रूप में।

यही प्रयोग प्राकृत में मिलते हैं और बाद को संस्कृत -ण्य् और -न्य् के लिये यह मानना कठिन है कि क्या मध्यकालीन भारतीय भाषा में -ञ्-द्वारा अपने में आगे आने वाले म् के मिला लेने से ऐसा होता है (ऐसा ही गिरनार में पाया जाता है हिरञ्ञ- अर्थात् हिरण्य से *हिरञ्ञ जो सं० पुण्य से निकले पुञ्ञ तत्पश्चात् पुञ्ञ के निकट है) किन्तु ऐसा अधिक संभव प्रतीत होता है कि ञ्ञ् से पृथक होने पर ऐसा हुआ वास्तव में ञ् सामान्यतः आधुनिक भाषाओं में नहीं पाया जाता सिन्धी में जिसमें यह है जाञ (जान्य-) रिञ (अरण्य-) का आण (आज्ञा) से विरोध है।

यहाँ पर सं० ञ्च् के लिये 'पन्द्रह' संख्यावाची पा० पञ्चरस और 'पच्चीस' संख्यावाची पा० पञ्चवीसति पचवीसम् शब्दों का उल्लेख करना ठीक होगा।

वैदिक भाषा में स्वतंत्र मूर्धन्यों का वर्ग अपूर्ण है उसमें वास्तव में केवल एक स्पष्ट अघोष है। महाप्राण अघोष का अस्तित्व केवल समुदायगत है और आकृति मूलक दृष्टि से स्पष्ट स्थिति में -ष्ठ- में उपलब्ध विशेषण व्युत्पन्न विशेष्य पृष्ठ (अ० पर्स्ते) द्वित्व वाला शब्द तिष्ठति किन्तु जठर और कण्ठ (अथर्व सहकण्ठिका) की शब्द-व्युत्पत्ति सुन्दर नहीं है यदि निघण्टु जो वैदिक नहीं है की उत्पत्ति निघन्त् से निश्चित है तो यह *निघण्ठ- से उत्पन्न महाप्राणत्व की कठिनाई की असंभावित गति द्वारा सिद्ध होना चाहिए। इसी प्रकार सामान्य घोष भी केवल समुदायगत है विड्भि स्वर-मध्यग जो ळ् के निकट है (स्कोल्ड 'पेपर्स ऑन पाणिनि' पृ० ४५) और जो ऋग्वेद में ळ के रूप में मिलता है और उसके महाप्राण के लिए भी ऐसा हुआ है नीळ, मीळ्हुषम् ऐसा ही पाली में मिलता है -ड् और -ढ् बाद को नियमित रूप से मिलते हैं अधिकांशतः आकृतिमूलक प्रणाली के प्रभावान्तर्गत और ध्वनि-संबंधी संतुलन की आवश्यकता के कारण मीढुम् दभम् की भाँति पोडा द्विधा की भाँति आदि साथ ही संभवतः निस्सन्देह रूप में क्योंकि वास्तविक बोलियों में ड् ढ् वास्तव में स्पष्ट हैं उड्डी आदि। इसके अतिरिक्त इन मूर्धन्यों में से कुछ जो प्रणाली के अनुसार नहीं बने रहते वर्गीकृत संस्कृत में ळ् रूप में मिलते हैं उदाहरणार्थ अणि- रिम्प पा० अन पी० मैरहन्स (म्यूजम आउक्मास्ते ई० कूहन पृ० ३१२ 'फ्रेंग्डिफ' नाहरमामेन' पृ० २९४)।

वैदिक भाषा में अनुनासिक मूर्धन्य भी है जो तुरंत पूर्ववर्ती ऋ र् ष् के आपस में मिल जाने से बनता है (वर्ण तृण इष्ण) और आज चलकर अपने इतिहास में यह कभी-कभी नहीं भी मिलता (पाणि तुल० पतामि पुण्य तुल० पुनाति निर्ण तुल०पी०

मेंतरोस्)। स्पर्शों की अपेक्षा अनुनासिक र् और ण् का यह पारस्परिक प्रभाव कुछ अन्तर पर, स्वयं अपने सुगम और स्वर-मध्यग होने की शर्त पर,—फलतः शब्द में अधिक कमजोर स्थिति में—प्रकट होता है और जो स्पर्श या ऊष्म के जिनमें जिह्वाग्र को गति प्राप्त होती है, संबंध में कोई रुकावट नहीं डालता कमल श्रमण ऊर्मिमय किन्तु पूजन रोचन दर्शन। इस नियम के जो संस्कृत का अपना है, मध्यकालीन भारतीय भाषा में भी चिह्न मिलते हैं अशो० गिर० प्रापुणाति पा० पापुणाति तथा साथ ही अशो० गिर० द(द्)सन किन्तु पा० दस्सन जो सं० दर्शन से है। किन्तु पाली में प्रत्ययों में दन्त्य हमेशा बना रहता है कारणम् कारकेन। पंजाबी में आज एक विपर्यस्त भेद दिखायी देती है उसमें स्वर-मध्यग ण् ड् की अनिश्चितता के कारण दन्त्य हो जाता है मोबण् (सं० प्रत्यय -अणी) किन्तु कुकुरण् गुआरणी।

तो अत्यन्त प्राचीन मूर्धन्य षकार ध्वनि के सम्पर्क में आने से दन्त्य-स्पर्श हो जाते हैं और न् को ण् अथवा ट् का प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त वेद में लुप्त ऋ द्वारा मूर्धन्यत्व को प्राप्त स्पर्शों के उदाहरण मिलते ही हैं ऋ० काट (जो कभी पुस्तक I में था) जो कर्त के समीप है ऋ० मटुक- तुल० साहित्यिक मर्तुस बिकट, तुल० कृत (दसवीं पुस्तक में दोनों पी० हापाकम्) इन शब्दों में ऋ का मध्यकालीन भारतीय भाषा-प्रयोग व्यंजन के प्रयोग की सापेक्षिक नवीनता प्रमाणित करता है। बाद में मिलते हैं ब्रा० पुट तुल० बर्मन प्रस्ट आश्म तुल० ऋम् मर्डसीफ्ल नट (नृत्) झाटक- तुल० हिरण्य कुटिल- और कटाक्ष (तुल० ग्री० क्रुर्तोस्) तथा अन्य प्रकीर्ण शब्द जिन्हें शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दुर्बोधता ने सुरक्षित रखा है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में रीति साधारण हो जाती है, यद्यपि सदैव ऐसा नहीं होता।

इस प्रकार पाली में सुकत (सुकृत-) के निकट सुकट विसत्थ और विसट (विसृष्ट) हत (हत हन् का कृदन्त रूप है) के लिये अपेक्षा हट है, किन्तु मृत के लिये सदैव मत यह ठीक है कि टीकाकारों ने एक हथियार के नाम (Pa. II १२५) मटक में 'मृत्यु' को बताने वाला कृदन्त स्वीकार किया है। -ऋद(ड्) से वड्ढ (वर्द्) वड्ढ (वर्द्) तुल० अशोक० वढ्डि (वृद्धि-)। विभिन्नताओं का प्रयोग अर्थ-विकार संबंधी बातों के लिये होता है वट्ट का प्रयोग घुमाने के अर्थ में होता है, वत्त का प्रयोग अस्तित्व या प्रथा के अर्थ में होता है किन्तु मिश्रतापूर्ण शब्द चक्कवत्ती में समरूप है (जैन प्राकृत में चक्कवट्टी है) जब कि चक्कवट्टक—'wheel of trough'—भी है।

अशोक के अभिलेखों में दक्षिण-पश्चिम में दन्त्य अधिक सामान्य प्रतीत होता है [गिरनार -अ(ट्)थाय कालसी -अ(ट्) ठाये] मराठी और गुजराती में भी यह प्रवृत्ति बहुत पायी जाती है उनमें मूर्धन्य शब्द सामान्यतः भारत-व्यापी शब्द हैं उनमें एकमूलक भिन्नार्थी द्वित्वयुक्त शब्दों का भी यथेष्ट स्थिरता के साथ प्रयोग पाया जाता है यथा० कट्ट कत् किन्तु यदि 'काष्ठ' के लिये अवस्ता और वैदिक में कठा कठी में कठ्ठ है तो गुज० में काठ, सिंहली में कतिरु जिप्सी भाषा में कठ् आदि हैं। विरोधी बातें भी बहुत हैं एक ही भाषा में वर्तन- के, अर्थ के दो-दो रूप मिलते हैं। इस संबंध में कोई सामान्य नियम नहीं है, प्रमुख बात है मूर्धन्यों का नवीन विस्तार।

वैदिक काल के बाद ष् और र् के व्यवधान के प्रभाव के कुछ चिह्न न केवल न् पर, किन्तु स्पर्शों पर भी दृष्टिगोचर होते हैं। अशो० गि० ओसुढ-(औषध)जो कालसी के ओसध के विरुद्ध है, और जिसकी व्याख्या उत्तर-पश्चिम के बीच के रूप ओष(ढ)द्वारा हो जाती है सं० भा० और महाकाव्य पठ्-(और सं० सं० प्रपाठक- भी)प्रथ् से निकला है पा० सठिक- जो सं० शिथिल और प्राकृत सिढिल के विरुद्ध है, प्रथ् समुदाय में आता है खरोष्ठी के उत्कीर्ण लेखों द्वारा पूर्णतः, प्राकृत के पढम (प्रथम) द्वारा और सिंहली के पळमु द्वारा प्रमाणित पाली पठम का विरोध है नासिक और ननघाट के पथम से खारवेल और सांची के पथम से जिसके साथ वेद के सभी रूप दन्त्य द्वारा सादृश्य रखते हैं हि० पहिला सिंधी पुमुको आदि। प्रति का प्रतिनिधि नियमित रूप से अशोक० में पटि और सिंहली में पिळि है किन्तु पाली में और उत्कीर्ण लेखों की प्राकृत में पटि के स्थान पर साधारणतः पति मिलता है प्राकृत में और आधुनिक मराठी में पडि पद् के स्थान पर पै- मिलता है जब शब्द में मूर्धन्य आ जाता है, तो र् उत्पन्न हो जाता है [जिससे पा० पतिरूप पतिमन्तेति जिसमें मन्त्रयति पतिट्ठ पतिट्ठति निहित है खारवेल पतिठपयति प्राकृत पैण्णा जो प्रतिज्ञा से है, निस्संदेह कृष्ण पैण्णा के प्रभावान्तर्गत है गुज० म० पैज् और पैज्, ने० पैजो जो पड़ोसी (प्रतिवेश-) के विरुद्ध है]।

जिस उदाहरण पर अन्त में विचार किया गया है उसमें यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में मिलती है किन्तु उसके कुछ अन्य प्रमाण भी रोचक होंगे यह तो देखा ही जा चुका है कि परवर्ती न् पर ऋ का प्रभाव देखने में उससे सहायता प्राप्त हो सकती है।

इसके विपरीत इस संपूर्ण युग में पूर्ववर्ती दन्त्य पर र् का प्रभाव बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में केवल अनुनासिक पर आधारित लोप के निश्चित उदाहरण मिलते हैं आण्ड गुज० नभना आण्डुव (दे० ड्रा० पेद्दो) और दण्ड (तुल० पी० देन्द्रपेन्)। संभवतः ऋ० दींदिर पाली दत्ति और दपति यदि यह वैदिक दी के साथ द्रा के मिल जाने से बना है के प्राथमिक लोप को यहाँ स्थान देना आवश्यक है महाकाव्य

और पा० उद्धी (nigh. दीखते निश्चित नहीं है)। घोड़े का भारतीय नाम, प्रा० भी० घोट एक द्रविड़ रूप कुदुर् से साम्य रखता है महाकाव्य पट्ट की उत्पत्ति पत्र से केवल कठिनाई के साथ मानी जा सकती है। अशो० का० हेडिस दिघ्स का प्रतिनिधित्व करता है इसके विपरीत सारनाथ और कौसी में हेविस शहबाजगढ़ी में एविस। प्राकृत खुड्ड सं० क्षुद्र से परा कम प्रमाणित होता है, क्योंकि पू अशोक० ओसुड की भाँति हो सकता है। केवल ये बातें ही हैं जिनकी व्याख्या और वर्गीकरण करना कठिन है, जो आधुनिक काल से पूर्व प्रमाणित की जाती हैं, जिनमें इसके अतिरिक्त केवल निरंतर मूर्धन्यत्व के रूप में सिंधी में (उत्तर में ड्, ड़ दक्षिण में ट् ड्) और वर्द में दन्त्य + र् हैं, कम-से-कम जब कि समीकरण उपस्थित होता है मार्वी पुट् ('पुत्र") ठा (किन्तु मार्वी में ट् कठोरता की ओर संकेत करता प्रतीत होता है) सिना गोट् पट् (ग्रियर्सन जी० एस० ओ० एस० VI, पृ० १५७)।

अंत में ऋग्वेद में दो समीपी शब्द मिलते हैं जिनमें से एक अनुनासिक दन्त्य स्वर मध्यग मूर्धन्य हो जाता है, बिना दूसरी ध्वनि-श्रेणी की सक्रियता के स्थाणु और स्थूणा अ० स्तूना निस्संदेह तै० सं० गुण तुल० अ० गओन का उल्लेख भी कर देना चाहिए (प्रिजील्स्की जे० आर० ए० एस० १९३१ पृ० १४१)। परिवर्तन का यह प्रथम चिह्न ही बाद को नियमित हो जाता है।

बाद पूर्वी बोलियों में केवल अनुनासिक दन्त्य है कम-से-कम लिखित रूप में ऐसा कालसी और पूर्व के अशोक-अभिलेखों में था ही दूसरी ओर सिंहली -न्- और -ण् में रूप स्वीकार करती है।

मूर्धन्यत्व के सभी रूप, जिनका आधुनिक भाषाओं में चलन मिलता है, परंपरा के प्रारंभ से ही चले आ रहे हैं। मूर्धन्यों की संख्या और भी अधिक होती गई है, और कुछ स्थानीय बोलियों से भी मिले हैं संभवत: मूर्धन्य वाले सभी शब्द निश्चित रूप में मिल जायें तो इस संबंध में प्राचीन तथ्य और भी दृढ़ हो जायेंगे।

किन्तु वेदों के बाद मूर्धन्य उन शब्दों में भी आते हैं जिनमें पहले से ही दन्त्यों का साम्य रहता है, और जो बिना किसी कारण के निश्चित किये जा सकते हैं। क्रिया अटति को उस भारत-ईरानी मूल से है जिससे 'अतिथि' शब्द बना है, महाकाव्य में अटति है पत् जिसका पहले अर्थ था उड़ना (अवेस्ता में 'उड़ना फेंकना') फिर अथर्ववेद में 'गिरना' मध्यकालीन भारतीय भाषा और लगभग सभी मध्य भारतीय भाषाओं में पड् (किन्तु कश० में पे-) हो जाता है इस संबंध में एक ओर एड़ी और पैर संबंधी द्रविड़ शब्दों का और दूसरी ओर 'गिरना' या 'लेटना' का अर्थ प्रकट करने वाली किसी द्रविड़ धातु के प्रभाव का संदेह किया जा सकता है। किन्तु सं० भवन का पाली कट्- प्रा० कड्

से जिसके प्रमाण मध्य-भारतीय भाषाओं में भी मिलते हैं सादृश्य क्यों है, यह ज्ञात नहीं होता अन्त में आधुनिक भाषाओं में एक ऐसी लंबी शब्द-माला है जिसमें मूर्द्धन्य की स्पर्शता से शुरू हो कर आगे बहुत बड़ा विस्तार हो जाता है मे० पीको ठेक- डुंगुर् डक- डाम् आदि यहाँ द्रविड़ भाषा को कारण माना जा सकता है जिसमें आदि मूर्द्धन्य लगभग नहीं हैं।

केवल कुछ शब्दों और भाषाओं के केवल एक भाग के संबंध में संभावित समीकरणों का प्रमाण मिलता है सं० दण्ड मे० डंडो आदि को म० डाँडा कहुंडा दण्डा जिना दोण्, कद० दोन् के समान नहीं है सं० दृष्टि ने० डिठ् आदि किन्तु म० दीठ् सिंहली दिठ्, गु० दीठो। पाली डसति (गुज० डंस-) और डहति के साथ उन शब्दों के दो परिवारों के संबंध में जिनमें मूर्द्धन्य का प्रयोग हुआ है थी एच० स्मिथ का यह प्रश्न है कि क्या इन शब्दों से जिनमें एक ही प्रकार का साधर्म्य होना चाहिए, अन्य शब्दों की व्याख्या नहीं होती दट्ठ- और डड्ड रूप-से-रूप जो प्राकृत में मिलते हैं।

अन्त में सिन्धी में वे समस्त घोष-दन्त्य जो सुरक्षित हैं, फलतः जिनकी विशेष स्थिति है, मूर्द्धन्य हो जाते हैं इसिए डन् (न्द् ही एक ऐसा उदाहरण है जिसमें दन्त्य पाये जाते हैं) जोड़र् सद्।

आधुनिक युग में ड् और ढ् से दन्त्यों और मूर्द्धन्यों का सादृश्य पूर्ण हो जाता है। पहले के संबंध में मराठी गुजराती राजस्थानी पंजाबी में (पूर्व और पश्चिम में फैलते हुए, निस्संदेह विशेषतः भील शाखों की बोलियों में एल० एस० आई० IX 1 पृ० ६०९ और टी० बेली ज० आर० ए० एस० १९१८ पृ० ६११) जिसका गढ़वाल और कुमायूँ प्रदेश की बोलियों में अन्त में उड़िया में उदाहरण मिलते हैं। ड् और ढ् से जहाँ तक संबंध है सिंधी हिन्दी और पंजाबी नेपाली बिहारी छत्तीसगढ़ी बंगाली और उड़िया में उदाहरण मिलते हैं कश्मीरी ग्रामीण बोलियों में जिना में हिमालय प्रदेश की बोलियों में काफिर में भी उसके उदाहरण हैं। इनमें स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणियाँ नहीं किन्तु ड् और ढ् के स्वर-मध्यग हैं संकेत जो आवश्यक नहीं रहा असमान है, जिसका कभी कभी वास्तविक उच्चारण द्वारा (पूर्व में) प्रतिवाद हो जाता है इसके विपरीत कभी-कभी उसका अभाव लिखने में मिलता है जब कि सुनने में तो आता है जैसे मराठी में और निस्संदेह गुजराती में। भारत और सिन्धाट में (लिपि-चिह्न की दृष्टि से ड् स ड् का काम निकाल लिया जाता है) इन दो नई ध्वनि-श्रेणियों का प्रकट होना महत्त्वपूर्ण नियम का परिणाम है जिसके अनुसार स्वर-मध्यग स्पर्शों का अपने ही प्रकार के विशेष स्थिति वाले स्पर्शों से विरोध हो जाता है तो ड् और ढ का मूल नहीं है जो बहुत बड़ अंश में ण् का किन्तु उनका अनुलेखन असमान है, और उनका ऐतिहासिक मूल्य

परिवर्तनशील है नेपाली बिहारी और हिन्दी (पूर्वी और सामान्यतः पश्चिमी) ट् सिंहली क या ख् सिंधी और पंजाबी ड् एक प्राचीन स्वर-मध्यग ड् की तरह है जब कि नेपाली बिहारी और हिन्दी ड़ सिंहली के ड् पंजाबी और प्राकृत ड़ के तुल्य है दूसरी ओर जिप्सी भाषा का ट् एक साथ प्राचीन -ड और -ड़ शब्दों के साथ साम्य रखता है (टर्नर, 'फ़ेस्टश्रिफ्ट याकोबी' पृ० ४४)।

नये स्पर्शों के प्रकट होने के समय तक मूर्धन्य पिन्-ध्वनि इस रूप में नहीं रह जाती—धिना को छोड़ कर जिसमें एक नवीन मूर्धन्य-प्रणाली मिलती है।

अन्त में इस सम्भावना का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जो काफ़ी आश्चर्यजनक है, कि विदेशी शब्दों में भी कुछ मूर्धन्य मिलें अस्तु म ता स्थूणा और स्थाणु की न मुम की व्याख्या करने का साहस हो सकता है। किन्तु बाद के युगों में हम कैटोम पा० केट्रम की व्याकरणगत रूप में तुलना कर सकते हैं उस सेमेटिक शब्द से जो बहुत बाद को अरब रूप किताब् के अंतर्गत प्रवेश कर चुका है (एस० लेवी 'एस्यूज आर० सिनोसिए' पृ० १९७) टन्क- आधुनिक टाका जो नाप-तोल और सिक्के के रूप में है तातारी तन्क शब्द है आरमीनियन थन्क प्रा० तना ठक्कुर अर्थात् ठाकुर, उच्चवर्गीय की उपाधि का भी सिल्वँ लेवी के अनुसार उत्तरी प्राकृत तेकिन् से संबंध है जो रामायण में टकूण (जिसका तात्पर्य जनसाधारण से था और बहुत बाद को सोहागा या बिना शुद्ध किया हुआ सोहागा फ्रा० तिन्कार्) के रूप में मिलता है। आधुनिक युग में बंगाली डिनृगी नूरी देनृगीश (deugeu) तुक० पु० तुर्की देंगिज़, की तुल्यता देखने की बात है। हाल में लिये गये अँगरेजी शब्दों के मूर्धन्य का वास्तविक उच्चारण हो जाना निश्चित है क्या यह भी स्वीकार करना होगा कि ये शब्द तुर्की शब्दों के एक विशेष उच्चारण का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं?

३ महाप्राण स्पर्श

ईरानी में महाप्राण अघोष सोष्म हो जाते हैं, घोष ध्वनियों का महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है। इसके विपरीत संस्कृत और आज भी लगभग सभी भारतीय-आर्य भाषाओं की विशेषता महाप्राण ध्वनियों और फुसफुसाहट वाली ध्वनि से विहीन स्पर्शों में स्पष्ट भेद उपस्थित करना है।

दोनों प्रकार की फुसफुसाहट वाली ध्वनियाँ एक ही प्रकार की नहीं थीं उनमें स्वर-यंत्र-मुखी कंपनों का अस्तित्व या अभाव ही एक बड़ा भारी भेद है। यही कारण है कि यदि अन्य स्पर्शों की भाँति महाप्राण ध्वनियाँ पहले आने वाले व्यंजन पर अपनी जितनी मुखरता (या व्यक्तता) स्थापित कर देती हैं (अंत्य अवेस्ता-पश्चात् बाद्स्ता,

तुल० वेद और विपर्यस्त रूप में घस- से घग्मि गम्- से जग्म्यः) तो वे बाद में आने वाले व्यंजनों को उतनी ही मात्रा में प्रभावित नहीं करतीं।

अघोष वैसे के वैसे बने रहते हैं और उपचारात्मक धातुओं के जो उनकी उत्पत्ति के स्वयं प्रमाण प्रतीत होते हैं इस तत्व को प्रकट हो जाने देते हैं (कुरीलोविच Kurylowicz, 'सिम्बोली ग्रैमैटीक रोज़ावदोव्स्की', *Symbolae Gramm. Rozwadowski*, I पृ० ९५) पपिभि' (किन्तु ईरानी में साम्य सहित अ० पा० पर्वाविदे) लब्धिहि, लब्धिवत्, प्रबित उसमें व्यंजनों का वास्तविक योग नहीं है (अथर्व० बृभस्ति जो भन्द् से है गौण है और ऋ० के एक समानान्तर अंश के कृभस्ति के अनुरूप है)।

इसके विपरीत भारत-ईरानी भाषा के समय से घोष ध्वनियों का घोषत्व और उनकी फूसफूसाहट परवर्ती स्पर्श की ओर अतिक्रमण कर जाता है (बारथोलोमी का नियम) और इससे व्यंजनों के योग का सामान्य नियम खंडित होता है।

वास्तव में स्पर्श के सम्पर्क के कारण घोष महाप्राण ध्वनियों के प्राणत्व में कुछ स्वतंत्रता आ जाती है। यही क्रम है जिसमें अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति ही संस्कृत में प्राचीन महाप्राणत्व का प्रथमतः विषमीकरण हो जाता है, फिर वह गौण रूप में प्रकट हो सकता है, जिसका उदाहरण स्- भविष्यत् वाले सामान्य अतीत विषयक विकरणों में मिलता है बुध् से भुत्स्- या गुह्. से घुक्। जहाँ तक झिन्-ध्वनि जो संस्कृत में स्पर्शों के बीच खो जाती है [भज् से अभक्(ष्)त] के अंतर से संबंध है फूसफूसाहट छाया संयुक्तों की ओर चली जाती है जैसा कि *लब्ध से निकले *लब्-ध के उदाहरण में देखा जाता है जिसमें दो घोष तत्त्वों के बीच का अघोष घोष हो जाता है यही संबं० एक आ-, भारतीय-ईरानी *भृमस्, अ० बर्जी से हम नहीं बनता वरन् *बृम्ह्-, जिसका संभव न हो सकने के कारण महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है जिससे बनता है ब्रह्म।

झिन्-ध्वनि से प्राण-ध्वनि का अतिक्रमण हो जाने के फलस्वरूप उसका घोषत्व संभव नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार संस्कृत ष् केवल अघोष हो यही कारण है कि दभ् का इच्छार्थक रूप है *दि-ध्भ्-स्->*दिप्स्->दिप्सति जो अ० पा० क्रियार्थक संज्ञा दिबुदैवृघाइ के विरुद्ध है इसी प्रकार है, सह् का इच्छार्थक रूप सीक्ष् [जिसमें दीर्घ ई लुप्त हो गई घोष झकार ध्वनि का प्रमाण है सि-झ्ष्-स्, सि-ष्ष्-स् तुल० निद् जो नि(ष)द से निकला है] १ बहु० बप्सति जो भस् का विकसित रूप है।

सापेक्षतः अस्थिर तत्त्व होने पर भी महाप्राण ध्वनियों का प्राणत्व काफ़ी स्थिर तत्त्व है और यह ज्ञात हो जाता है कि संस्कृत की घोष महाप्राण ध्वनियों में स्पर्श है, न कि प्राण-ध्वनि जो अंततः मंद पड़ जाती है।

आधुनिक भाषाओं में शब्द के अंत में अथवा किसी अन्य व्यंजन से पहले महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है हि० समझना के विरुद्ध गु० में समजवु हि० सीखना के विरुद्ध सिखवु, जिनके सादृश्य पर ही प्रेरणार्थक धातु (णिजन्त) समजावुं, सिखव्युं यह तथ्य, जो प्रायः देखा जाता है, निस्संदेह इतना अधिक सामान्य है कि विभिन्न भाषाओं की वर्ण विन्यास-कला से उस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

अल्पप्राणीकरण काफ़िर में, यूरोप की जिप्सी भाषा में, बंगाल और सिंध आदि की कुछ बोलियों में बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ है। जहाँ तक घोष ध्वनियों से संबंध है, यह कश्मीरी और शिना में स्थायी रूप से मिलता है (किन्तु कुछ ऐसी महाप्राण अघोष ध्वनियाँ हैं और कश्मीरी में एक नया ह् है जिनकी उत्पत्ति प्राचीन सकार ध्वनियों से है हेस्-, शिना शिष हर, सिं० सर्षप।

घोष ध्वनियों का महाप्राणत्व यकायक लुप्त नहीं हो गया था, हर हालत में प्राचीन फुसफुसाहट वाली ध्वनि का चिह्न गुजराती (व्ह एन को मेन् या बेहेन के रूप में लिखा जाता है, सं० भगिनी कऐंठे को कहूंठं के रूप में लिखा जाता है सं० कपित्थम्) और पूर्वी बंगाली में कोमल स्वर-यन्त्र के वर्णन में पाया जाता है, उत्पत्ति की दृष्टि से ये कालखचित ध्वनियाँ सिन्धी की वाक्खचित ध्वनियों से जो विशेष व्यंजनों का प्रतिनिधित्व करती हैं भिन्न हैं सामान्यतः सिंधी में महाप्राण ध्वनियों का प्राणत्व सुरक्षित रहता है (टर्नर, 'सिंधी रिकर्सिव्स', बी० एस० ओ० एस० III, पृ० ३०१, चटर्जी 'रिकर्सिव्स इन् न्यू इंडो-एरियन, 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स' I पृ० १)।

पंजाबी में स्वर है जिसमें लुप्त प्राणत्व के घोष कम्पनों का चिह्न मिलता है जैसा कि पहले देखा जा चुका है, उसमें एक ऐसा अंश रहता है जिसका सुर प्राचीन महाप्राण के सम्पर्क में आने के कारण अधिक दूर जा पड़ता है घेर (घड़) होँ (भव-) कड़ (प्रा० कढिअ सं० क्वथित-)। आदि ध्वनियों के संबंध में इस अंश सुर का अस्तित्व परिणाम रूप में अघोषत्व उत्पन्न कर देता है कर् हि० घर्, चड् हि० झाड़। एक ओर तो शिमला भूभाग की बोलियों में और दूसरी ओर कुमार, पवाई और बोवर की निम्न और उच्च घाटी में पंजकोर के पड़ोस की घाटी में बसकारिक में (यद्यपि जो इस बोली को पूर्ववर्ती बोलियों से अलग करती है बहुत प्राचीन नहीं है) ऐसे सदृश तथ्य बराबर मिलते हैं।

अन्यत्र घोष महाप्राण ध्वनियाँ अपने प्राणत्व की रक्षा के लिये अपने को सीधे अघोष बना डालती हैं उत्तरी कश्मीर में [थुम् (धूम)] और विशेषतः जिप्सी भाषा में ऐसा पाया जाता है, थूव (प्रा० धूमा) किन्तु धुम्(भूमि)। आरमीनिया की जिप्सी भाषा हर एक स्थिति में महाप्राण स्पर्श ध्वनियों को अघोष बना देती प्रतीत होती है घोड्

(बाघ-) लुग (लुग्ध) और इसी प्रकार तरु, फल माई (भ्राता) किन्तु पुंदें (युद्ध) मन्झें (मध्य)। युरोप की जिप्सी भाषा में केवल आदि ध्वनियां अघोष होती हैं घम् (घर्म) फल् चुत्, जिनमें मध्यकालीन भारतीय भाषा की मध्य महाप्राण ध्वनियों की प्रायत्व-प्राप्त ह्रास की महाप्राण ध्वनियां जुड़ जाती हैं थुद् (दुग्ध-) फिद् (विधवा) फन्द् (बन्ध्) थं (ह)व् (जिह्वा) प्राचीन अघोष ध्वनियों का रुख महाप्राणत्व की ओर नहीं पाया जाता (कर् प्रा० कम से) और घोष ध्वनियों का रुख अघोष ध्वनियों के प्राणत्व की ओर नहीं पाया जाता प्रा० देवम् से दिव्- बेरा जिप्सी भाषा का पूर्ण ह्रास का है।

सीरिया की जिप्सी भाषा स्वर-मध्यम -घ् या कम-से-कम उसका प्रतिनिधित्व करने वाली सोष्म ध्वनि का अघोषीकरण कर देती है थेषु (गोधूम-) २ बहु० -स्(-अष) से ('जर्नल जिप्सी लोर सोसायटी' VIII पृ० १११)। प्राथमिक ह् की जग [हस्] घि (हृदय) और एक युक्त स्वरसंधीय ध्वनि में परिवत हो गये स्वर मध्यग मु^औ^ (मुख) आमे^औ^ (प्रा० अम्ह) स्वरसंधीय ध्वनि अन्य कारणों से भी हो सकती है थु^औ^ (भूमि) से तो ऊपर उदात्त शिखा की बात याद आती है।

सिंहली ही एक ऐसी भाषा है जिसमें सभी महाप्राण ध्वनियां लुप्त हो गयी हैं, अघोष और घोष दोनों में से (भूमि का बिम् धातु का दा दीर्घ का दिगु स्तम्भ का तब प्रथम का पळमु उष्म का उमु) स्वयं ह् केवल बहुत कम विवृति के रूप में (सोहोन अथवा सोन सं० श्मशान- फिगु लिय सं० गज) अथवा स् के ह्रास के एवज में आता है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि तमिल में भी उसकी समीपस्थ द्रविड़ भाषा है महाप्राणत्व नहीं है और उसमें से प्राचीन स् लुप्त हो गया है इस भाषा का सिंहल पर प्रभाव संभवतः बहुत पहले ही पड़ चुका था तुल० 'सिटिकिम पाली डिक्शनरी' दे० अट्टु।

उन बिंदियों में से जिनमें महाप्राण ध्वनियों में परिवर्तन उपस्थित हुआ हो, मुमतिस्तान भाषाओं में सोष्म उच्चारण लगभग अज्ञात है।

उसके प्राचीन प्रमाण अत्यन्त दुर्लभ हैं। आप्ट्य महाप्राण ध्वनि ही एक ऐसी ध्वनि है जिसके लिये सोष्म में उच्चारण की कुछ-कुछ रक्षा की गयी मिलती है -फम् के विरुद्ध पा० -फा से कुछ भी प्रमाणित नहीं होता क्योंकि अनभिलेखों में -फ् का परिवर्तन -भ् के साथ हो जाता है उच्चारण विशेष होना चाहिए जैसा मयूहम् में ग्रिमरा और प्राकृत में मज्झ(म्) में होता है। पुरुषवाचक सरम् सं० सरमु तुल० ह० पुस० मनष्य के मूल रूप में निस्सन्देह सोष्मता थी तुल० टॉलेमी। किन्तु

जिसका उल्लेख करना उचित होगा ? इ० तुखु० में भू धातु से है प्रभु अभिम्यूयु किन्तु यह एक निराली बोली है। यह संभवतः मध्य का अस्थायी ह् ही है जिसके तुरत बाद ही ह्-में अन्य व्यंजनों की अपेक्षा ह् आता है।

महाप्राण ध्वनियों से निकली ऊष्म ध्वनियों का यह लगभग पूर्ण अभाव भारतीय आर्य भाषा में ऊष्म के अभाव की भाँति है। ह् और अघोष शिन्-ध्वनियों को छोड़ कर, संस्कृत में यह बिल्कुल नहीं है और इस दृष्टि से उसका ईरानी, प्राचीन और आधुनिक भाषाओं से विरोध है जिनमें विशेषतः अघोष महाप्राण ध्वनियों का स्थान ऊष्म ध्वनियाँ ग्रहण कर लेती हैं, और जिनमें उदाहरणार्थ ख्व् शुरू से ही ख़्व् हो जाता है (मेइए, जाई० एज़० XXXI, पृ० १२०)। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में घोष स्वर मध्यग व्यंजन (या ऐसा होने वाले) अपने को विवृत बना लेते हैं और अनिवार्य रूप में मध्य ऊष्म की स्थिति से गुज़रते हैं किन्तु यह परिस्थिति थोड़े दिनों के लिये रही है, और नियमित रूप से तो यह केवल शिथिल और अनुनासिक व् जो -म् का स्थान ले लेता है, के संबंध में देखी गयी है अन्यत्र प्राचीन (कंठ्य और दन्त्य) व्यंजन-काल अनिश्चित उच्चारण वाली भाषा को आगे किये जाने से स्थिर रहा, जो जैनों में य्, जिसे य-श्रुति कहते हैं के रूप में देखा गया है, जो कुछ भाषाओं में लगभग स्वरों पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है, उदाहरणार्थ म० में जो सतम् से है और हिन्दी सौ (बीच की स्थितियाँ क्रमशः *सया *सउ) के विरुद्ध है, अथवा म० -एँ, गु० -एँ एक० नपुं० के सं० -अकम्, किन्तु मराठी में -आ हिन्दी गया+आ दोनों का संबंध गया (गत) से प्रकट किया जाता है। यह ध्वनि-भेदी-काल आवश्यक शिथिल ऊष्म व् भी हो सकता है, अपभ्रंश में उ और ओ (भविस० पृ० २४) के साथ मराठी में किन्हीं स्वरों के बीच में तुल० सिंहली में निय (नव) के निकट नुवर (नगर)। विवृति के लिए अथवा ठीक-ठीक रूप में एक स्वर से दूसरे स्वर तक पहुँचने के काम के लिये ह् का प्रयोग बहुत कम मिलता है। समीपवर्ती स्वरों के बीच में -य्- और -व् के प्रवेश की प्रवृत्ति से दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं की याद आ जाती है।

क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में केवल य ऊष्म ध्वनियाँ ही हैं जो स्पष्ट रूप में नहीं हैं। खरोष्ठी में लिखित अभिलेखों और पाठों में लिपि-चिह्न सहित कुछ व्यंजन मिलते हैं जो ऱ् से मिलते-जुलते हैं, किन्तु जो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं उदाहरण वर्दक (Wardak) में भग के समीप भग इस बात का प्रलोभन भी होता है कि उसमें ऊष्म ध्वनियाँ ढूँढ़ी जायँ विशेषतः जब कि -स् से निकले -ह् से उसकी तुलना की जाय। किन्तु विशेषतः इ० तुखु० की भाषा वास्तविक पंजाबी और सिंधी से संबंधित है अथवा, इन भाषाओं में ऊष्म ध्वनियाँ नहीं हैं। केवल सीमान्त बोलियाँ

में सोष्म ध्वनियाँ हैं कुछ ष् कुछ सें, कुछ मूर्धन्य ष् भी मिलता मर्ख (मन्त्र) घ्रोन् (घ्रोण) और साथ ही भा (भ्राता) कुछ θ पर्याई θसे "१" (भय) θफुष् (प्लुषि), कुछ अलग-अलग कण्ठ्य घोषर मुख् नो/और या संयुक्त रूप में कती मक्ष्(प्र (मपगृह) फ्रुर्स् (प्राप्त) पर्याई θकम् (कर्म) बलात्कारिक ताम् (धाम) उसी में स्वर-मध्यग -द् (और -त्) -स्- अथवा -र् का प्रयोग भी पाया जाता है सोषर सेर् (सेतु) लेर् (लोहित) जिव (जीवित) किन्तु पा (पाद) सी (सेतु-) सेत (श्वेत) आदि और इसी प्रकार गु (गूथ-) संभवतः स्वर-मध्यग क के स्पर्शत्व द्वारा जिसके इस भाग में कुछ उदाहरण मिलते हैं यूरोपीय जिप्सी भाषा फ्रल् (भ्राता) जुवेल् (युवति) पीएल (पिबति) मूरी मुमार् पिभर्, गिर् (घृत), बर् (*वार के लिए) [किन्तु विपरीत उदाहरण भी मिलते हैं मूरी सि (शीत) से पै (पति-) पौ (पाद) रो (रोदिति) मध्यग -थ् स् हो गया है पीछे देखिए]। ये प्रयोग ध- मान कर चलते हैं जैसा कि पूर्वी ईरानी की बोलियों में मिलता है। अफ़गानी मुंजनी और मिदग की भाँति प्रभुन और आरमीनियन जिप्सी भाषा में आदि द् >ल- भी है।

स्वयं खास भारतवर्ष में बाहर से आयी हुई सोष्म ध्वनियाँ अत्यन्त कठिनाई के साथ अपने को अनुकूल बना पाती हैं फ़ारसी खुदा (xudā) को खुदा जमीन्दार को जामीदार आदि कहा जाता है। किन्तु इधर-उधर से आयी सोष्म ध्वनियों का अस्तित्व उसमें पाया जाता है। ग्रामीण पंजाबी में एक घोड़ी-बहुत दुर्बल दन्त्योष्ठ्य ध्वनि पाई जाती है जिसका फ् के साथ परिवर्तन हो जाता है जब कि प् वास्तव में कठोर है। बंगाली में फ् और भ् का उच्चारण तेजी के साथ फ् और व् की भाँति होता है दोनों द्विओष्ठ्य हैं। दक्खिन में प्रचलित उर्दू में सिपाफ् और साथ ही रख् है, किन्तु यह अरबी का अत्यधिक प्रभाव हो सकता है (दे॰ क़ादरी 'हिन्दु॰ फ़ोनेटिक्स' पृ॰ ११) और साथ ही मराठी में (ब्लौ मास्टर के प्रमाणों के आधार पर) भी ऐसा ही पाया जाता है। यूरोप की जिप्सी भाषा में एफ् एचोप् है जो फूल अन्, श्रम् के समीप है यह तो देखा ही जा चुका है कि एशिया की जिप्सी भाषा के स्वर-मध्यग स् का आरोपण सोष्म ध्वनि पर भी हो जाता है।

४ महाप्राण ध्वनि

संस्कृत की ध्वनि-श्रेणी ह् घोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि है उसी प्रकार जिस प्रकार घोष महाप्राण ध्वनियों की फुसफुसाहट वाली ध्वनि यद्यपि दोनों में पूर्ण साम्य नहीं है क्योंकि सिंधी में ह् से पूर्व अंतिम स्पर्श तदनुरूप महाप्राण स्पर्श की अपेक्षा एक दूसरी ही बात प्रकट होती है सिंध् हि>सिंध् धि मध्यमं हिता>सम्यम् पिता ता ह का अभिप्राय यहाँ स्पष्ट है।

सघोष ह्

ध्वनि-व्युत्पत्ति-विकास की दृष्टि से ह् प्रागैतिहासिक घोष महाप्राण तालव्य ध्वनियों का दोषांश है

भारोपीय घ्'ह्	वहति	अ० वजैति		लैटिन उएहित्
	हिम तुल०	अ० ज़यम	न० एक०	हिएमुस
साथ ही	अहम्	अ० अज़म्		इगो
	हृद्	अ० ज़रेद्		कौर

भारोपीय *ध् ʷ ह् ए से पूर्व हन्ति (तुल० घ्नन्ति) अ० जैन्ति
घुह् (तुल० दुग्ध) अ० दुग् दुग्ध

स्पर्श का यह पूर्ण लोप भारतवर्ष के लिये ठीक है किन्तु वह भारतवर्ष में सर्वत्र नहीं पाया जाता। काफ़िर भाषा में उच्चारण सुरक्षित है कश्मी झिम् झिर, दे० सम्पन। स्वयं संस्कृत में कुछ द्वित्वपूर्ण या पुनरावृत्तिपूर्ण रूपों में उसके चिह्न मिलते हैं, जिनमें फुसफुसाहट वाली ध्वनियों का विपमीकरण तालव्य को प्रकट करता है, जो उसके बाद स्थायी हो जाता है जहाति प्राचीन *जझाति अ० ज़ज़ामि इसी प्रकार हन् के आज्ञार्थ २ एक० के संबंध में है जहि, प्राचीन *झधि अ० जैदि। सबंध० जम के लिये अन्यत्र देखिए।

यह तो स्वाभाविक है कि प्रारंभ में स्पर्शता घोष मध्य-स्पर्श ध्वनियों में परिवर्तित हो। इतिहास के क्रम में समस्त घोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों (प्राचीन घोष और उनके साथ अघोष ध्वनियां घोष हो जाती हैं) की स्वर-मध्य स्पर्शता लुप्त हो गयी है अथवा घोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों के माध्यम द्वारा क्रम जारी होता है और यही उसका प्रथम चरण है इसी प्रकार पिछले युग में जब कि घ् बना रहता है *झ् प्रकट होता है, ऋग्वेद में तो यह मिलता ही है कि कुछ ह् *घ् से निकलते हैं प्रत्ययों मे -महि, -महे, तुल० गाथा० -मैदी -मैदे ग्री० -मेथ आज्ञार्थ में विशेषत दीर्घ स्वर के बाद इधि के मुकाबले में पाहि अ० -दि ग्री० -थि (एम० एस० एल० XXIII, पृ० १७५ साथ ही दे० मी एच० स्मिथ यह ह्रस्व के बाद है जब कि पाली में -हि कभी-कभी बाद तक मिलता है पटिग्गण्हाहि, हसिमि सम्मोदि भासिमि) सामासिक शब्दों में (सह जो सध के समीप है -हित जो पहले रचना में था से है) अथवा सह-शब्दों में (घह्, तुल० पाली इव *ह्-वप से अवेस्त० हिव कुह्, गाथा० कुᵭअ पु० कुथा) साथ ही कुछ ऐसे शब्दों में जिनमें परिवर्तन-क्रम द्वारा स्पर्श ध्वनि की रक्षा होनी चाहिए (गाह्, गाढ़) तुल० २ एक० मात्य अ० माᵭध ऋ० गृहणातु गृहाण जो गृभ्णाति गृभ्णते के समीप है तै० सं०

में ऊष्म ध्वनियाँ हैं कुछ स्, कुछ श्, कुछ मूर्धन्य ष् भी मिला गई (मग्न) ग्रोम् (ग्राम) और साथ ही मा (माता) कुछ में पाई जैसे "ह" (यथा:) ऐमुर् (मुनि) कुछ अलग-अलग संस्कृत खोकर कुछ गो/ओर का संयुक्त रूप में कभी अङ्गुष्ठ (अङ्गुष्ठ) ष्ठुर्व (प्राप्त) पाई जैसे (वर्म) अव्याख्येय नाम् (नाम) इसी में स्वर-मध्यग -त् (और -थ्-)-ल- अथवा -र् का प्रयोग भी पाया जाता है जोकर छट् (सेतु) लेल (लोहित) जिल (जीवित) किन्तु पा (पाद) सी (सेतु) लेक (स्तक-) आदि और इसी प्रकार मु (मुख-) संभवतः स्वर-मध्यग क के स्पर्शत्व द्वारा मिलते इस भाग में कुछ उदाहरण मिलते हैं युरोपीय जिप्सी भाषा कम् (भाग्य) पुवेल (युवति) पीएल (पिबति) मुठी मुखार् सिखर्, पिर् (वृत) बर् ("घर के लिए") [किन्तु विपरीत उदाहरण भी मिलते हैं मुठी सि (सीत) से पै (पति) पी (पाद) से (सेवति) अन्यत्र द् य् हो गया है, पीछे देखिए]। ये प्रयोग ठ मान कर चलते हैं जैसा कि पूर्वी ईरानी की बोलियों में मिलता है। अफ़ग़ानी, मुंजी और यिदग की भाँति अर्मेनी और आरमीनियन जिप्सी भाषा में आदि द् >ल- भी है।

स्वयं खास भारतवर्ष में बाहर से आती हुई ऊष्म ध्वनियाँ अत्यन्त कठिनाई के साथ अपने को अनुकूल बना पाती हैं फ़ारसी ख़ुदा (xudā) को खुदा जमींदार को जमीदार आदि कहा जाता है। किन्तु इधर-उधर से आती ऊष्म ध्वनियों का अस्तित्व उसमें पाया जाता है। दक्षिणी पंजाबी में एक थोड़ी-बहुत दुर्बल दन्त्योष्ठ्य ध्वनि पाई जाती है जिसका फ् के साथ परिवर्तन हो जाता है, जब कि प् वास्तव में कठोर है। बंगाली में फ् और भ् का उच्चारण तेज़ी के साथ फ़ और व़ की भाँति होता है दोनों द्विओष्ठ्य हैं। दक्षिण में प्रचलित उर्दू में भिन्नता और साथ ही रख है, किन्तु यह अरबी का वास्तविक प्रभाव हो सकता है (दे० ग्रान्ट 'हिन्द० फ़ोनेटिक्स' पृ० ११) और साथ ही मराठी में (श्री मास्टर के प्रमाणों के आधार पर) भी ऐसा ही पाया जाता है। यूरोप की जिप्सी भाषा में पुरुष, पुकोद् है का पूरा यश, अम् के समीप है यह तो देखा ही जा चुका है कि एशिया की जिप्सी भाषा के स्वर-मध्यग स् का आरोप्य ऊष्म ध्वनि पर भी हो जाता है।

४ महाप्राण ध्वनि

संस्कृत की ध्वनि-श्रेणी ह् घोष घुमघुमाहट वाली ध्वनि है, उसी प्रकार जिस प्रकार घोष महाप्राण ध्वनियों की घुमघुमाहट वाली ध्वनि यद्यपि दोनों में पूर्ण साम्य नहीं है क्योंकि जिप्सी में ह् से पूर्व अंतिम स्पर्श तत्सम्बन्ध महाप्राण स्पर्श की अपेक्षा एक दूसरी ही बात प्रकट होती है सिद् हि>सिद् हि समुद्रेय् हिता>समयम् सिता दो ह् का अभिप्राय यहाँ स्पष्ट है।

सस्हाप ह्

शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से ह् प्रागैतिहासिक घोष महाप्राण तालव्य ध्वनियों का द्योतक है

भारोपीय ग्'ह्	बहति	अ० बजैति	लैटिन उएहित्
	हिम तुल० अ० स्यर्श म० एक०		हिएम्स
साथ ही	अहम्	अ० अजेम्	इगो
	हृद्	अ० जरेद्-	कॉर्ड
भारोपीय *घ्'ह्	ए से पूर्व हन्ति	(तुल० घ्नन्ति) अ० जैन्ति	
	द्रुह्	(तुल० द्रुग्ध) अ० द्रुज्-द्रुजत	

स्पर्श का यह पूर्ण लोप भारतवर्ष के लिये ठीक है, किन्तु यह भारतवर्ष में सर्वत्र नहीं पाया जाता। काफ़िर भाषा में उच्चारण सुरक्षित है कटी किम् खिर, दे० मन्यत्र। स्वयं संस्कृत में कुछ द्वित्वपूर्ण या पुनरावृत्तिपूर्ण रूपों में उसके चिह्न मिलते हैं जिनमें फुसफुसाहट वाली ध्वनियों का विषमीकरण तालव्य को प्रकट करता है जो उसके बाद स्थायी हो जाता है जहाति प्राचीन *झझाति अ० जजामि इसी प्रकार हन् के आज्ञार्थ २ एक० के संबंध में है जहि, प्राचीन *झधि अ० जैदि। सबंध० क्म के लिये अध्याय देखिए।

यह तो स्वाभाविक है कि प्रारंभ में स्पर्शता घोष मध्य-स्पर्श ध्वनियों में परिवर्तित हो। इतिहास के क्रम में समस्त घोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों (प्राचीन घोष और उनके साथ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं) की स्वर-मध्य स्पर्शता लुप्त हो गयी है अथवा घोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों के माध्यम द्वारा क्रम जारी होता है, और यही उसका प्रथम चरण है इसी प्रकार पिछले युग में जब कि घ् बना रहता है *ध् प्रकट होता है, ऋग्वेद में तो यह मिलता ही है कि कुछ ह् *घ् से निकलते हैं प्रत्ययों में -महि -महे, तुल० भाषा० -मैदी -मैदे ग्री० -मेथ आज्ञार्थ में विशेषतः दीर्घ स्वर के बाद हधि के मुकाबले में पाहि अ० -दि, ग्री० -थि (एम० एस० एल० XXIII, पृ० १७५ साथ ही दे० मी एच० स्मिथ यह ह्रस्व के बाद है जब कि पाली में -भि कभी-कभी बाद तक मिलता है पण्डितेहि, इमिभि सब्बेहि भातिभि) सामासिक शब्दों में (सह जो सध के समीप है हित जो पहले रचना में धा से है) अथवा सह-शब्दों में (दह, तुल० पाली दय *ह-दघ से अशोक० हिद कुह भाषा० कुऽभ गु० कुथा) साथ ही कुछ ऐसे शब्दों में जिनमें परिवर्तन-क्रम द्वारा स्पर्श ध्वनि की रक्षा होनी चाहिए (मधि, माहु) तुल० २ एक० मात्थ, अ० माऽभ ऋ० पृहपातु गृहाण जो गृभ्णाति गृभ्णीते के समीप है, तै सं०

उपार्जहि प्रि॰ को उपायत् का कर्म॰ है ऐत॰ ब्रा॰ म्यप्रोह् (एक उस अंश में जिसमें ग्रामीण रूप परंपरागत रूप के विरुद्ध है और शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से ठीक है) अथर्व॰ म्यप्रौष पा॰ निग्रोध के लिये है।

अति प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषाओं से ऐसे उदाहरणों की संख्या में बहुत वृद्धि हो जाती है अशोक॰ और पाली में आधिक सह-प्रयोग (मवति) के धातु के आदि में होति है स्वर-मध्यग की दृष्टि से अशोक॰ लघु (लघु) अहेतु(म्), निगोह् (म्) पाली में सं॰ दधाति के लिये दहाति (तुक॰ अशोक॰ उपदहेतु) है, जो यदि सं॰ ह्रित- पर विचार करके देखा जाय तो पुनर्निर्मित किया या सुरक्षित रखा जा सकता है अन्त में कुछ रहिर, लहु जैसे शब्द है। बाद की मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में परिवर्तन सामान्य हो जाता है, कमजोर स्थिति वाली सभी महाप्राण स्पर्श ध्वनियों में से केवल घोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि ह् बच रहती है।

अघोष महाप्राण जिह्-ध्वनि से उत्पन्न मध्यकालीन भारतीय ह्

इसके अतिरिक्त संस्कृत में अघोष महाप्राण ध्वनि थी किन्तु उसकी गणना स्वतंत्र व्यंजन के रूप में नहीं होती और क्योंकि वह अघोष से पूर्व या मूक से पूर्व शब्दान्त्य -स के स्थान पर आता है। लिखावट में वह देखा जाता है, यहाँ वह विसर्ग ह् है मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसके चिह्न नहीं मिलते यदि पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ बनाने (अग्नि अथवा अग्गी<अग्नि) में नहीं और -अ के संबंध में नहीं तो इस बात में कि -अ जो स्वभावतः संवृत और जो उतना ही संवृत है जितना कि अन्तिम घोष से पूर्ववर्ती शब्द के अन्त्य *-अस्, *-अज् से निकले सं॰ -ओ के साथ मिल जाता है।

मध्यकालीन भारतीय प्राकृत में समुदायगत स् विवृत रूप में रहता है, और उससे नवीन महाप्राण स्पर्श ध्वनियाँ निकलती हैं। जब कि समुदायीकरण अघोष स्पर्श के साथ होता ▮ तो समुदाय ही अघोष रहता है जब कि वह बचे हुए अनुनासिक के साथ होता है तो प्राण-वायु ध्वनि घोष हो जाती है पा॰ म्हा म्हा (स्ना) पम्ह-, (प्रस्न-) उम्ह (उष्म-) गिम्ह (ग्रीष्म) तिण्ह (तीक्ष्ण) आदि। घोष ध्वनियाँ जो निस्संदेह, साथ ही अति तीव्र नतिपूर्ण अज्ञात व्युत्पत्ति वाले स्वर-मध्यग ह् से ।

प्रारंभ में मूक दीर्घ के पश्चात् स-भविष्यत् वाले क्रियामूलक प्रत्ययों में पा॰ काहामि जो *करिष्यामि से है, तुक॰ अशोक॰ वह॰ कप्(प्)अति ? -स्स- -प्य का सामान्य प्रयोग पा॰ -स्स है। इसके अतिरिक्त पाली में ही -ह से एहिति और पकेति से पकेहिति (पचामति) हैं जो एहिति के अनुकरण पर निर्मित हुए प्रतीत होते हैं हा और हर से हाहति हो-से होहिति भाहिसि पसाहिसि कुछ और भी है, विशेषतः संयोजक

स्वर कारिहिति प्रकार जो जैन प्राकृत में सामान्य हो जाते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन रूपों से जिनकी अब तक व्याख्या नहीं हुई थी -ह् वाले आधुनिक भविष्य० का संबंध जोड़ा जा सकता है। यह भविष्य० अब भी काफ़ी मिलता है उस क्षेत्र से बाहर भी जहाँ सिभ्-ध्वनियाँ सामान्यतः विवृत होती हैं (मारवाड़ी ब्रज बुंदेली भोजपुरी प्राचीन बंगाली कश्मीरी फ़िलिस्तीन की जिप्सी भाषा)।

बहुत बाद की आधुनिक भाषाओं द्वारा प्रमाणित प्राकृत की एक महत्त्वपूर्ण शाखा में सख्यावाची शब्द मिलते हैं, सं० दश- का प्रतिनिधित्व दह और दस- द्वारा हुआ है (-दह और -रस वाले योगात्मक शब्दों में) और -सप्तति- का -हत्तरि वाले योगात्मक शब्दों में संभवतः क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि प्राचीन काल में समस्त भारत में मिलने वाले संख्यावाची शब्द पश्चिमी क्षेत्र के थे (गु० सिं० अहंदा कश० तुक० म्ह० सुयोमा सिंध के पूर्व में बहुत प्रचलित था मेगास्थ० सौअनोस् अथवा सोअनोस्, आधुनिक सोहान) जहाँ अन्य स्थानों (पूर्वी बंगाल का विशेषतः इस युग के लिये उदाहरण न दिया जाय) की अपेक्षा विवृत सिभ् ध्वनियाँ अनुनासिक के बाद लोप हुई अघोष स्पर्श ध्वनियाँ (किन्तु कारनेक में पन्नरस भी है) और साथ ही कुछ-कुछ स्वर-मध्यग -र् को -र् रूप में हो जाते हैं, अधिक उपलब्ध होते हैं? किन्तु -हंघ (संघ) कण्हा नागार्जुन-कोण्ड में मिलते हैं एपी० इंडि० XX, पृ० १७ २० और सुवन्नमाह महिप्रोड् में, जो निश्चित रूप से पश्चिमी प्रभाव की ओर संकेत करते हैं। हर हालत में यही बात सामने आती है कि अयोगात्मक शब्दों में सिन्-ध्वनियों से उत्पन्न -ह् है दे० पिशेल पृ० २६२ और यदि श्री एच० स्मिथ ने अत्यन्त कौशलपूर्वक दि(ह्)यह की व्याख्या यह(न्) द्वारा विकृत सं० पा० दिवस- से की है तो भी अन्य उदाहरण हैं जो इस व्याख्या के अन्तर्गत नहीं आते।

अपभ्रंश के नाम प्रत्ययों (संबंध० एक० -अह बहु० -अहं अधि० एक० -अहि, तथा -अहो) और क्रियामूलकों को अलग रखना आवश्यक है जिनमें आकृतिमूलक सादृश्य का हाथ है। किन्तु यह प्रत्यक्ष व्युत्पत्ति गुजरात और राजपूताना में रुक नहीं जाती जहाँ ऐसे निश्चित नाम हैं जहाँ स् के लिये ह् का प्रयोग प्रायः मिल जाता है, देखिए अन्यत्र।

महाप्राण के बाद की स्थिति

शब्द के प्रारंभ में ह् सामान्यतः कठोर रहता है किन्तु स्वरों के बीच में वह दुर्बल रहता है। इसी से उदाहरणार्थ आधुनिक बंगाली के विकृत रूप (अपभ्रंश -अह) से बने -आ में पाये जाते हैं, र बहु० -आ अथवा -ओ में जो अपभ्रंश -अह, -अहु से हैं। कुछ

शब्दों पर से प्राचीन स्पर्शता का सारा प्रमाण मिट गया है म० थेरा (सिवार) मेथुन् (मैथुन) आदि।

स्वर-मध्यग ह की दुर्बलता से इस बात का पता चलता है कि उसका प्रयोग साधारण विवृति की दृष्टि से रहा हो म पिओ (प्रिय) के समीप पिहु नही अथवा नई (नदी) बंगाली बेहुला (विपुला) आदि सिंहली में ऐसा प्राय मिलता है। किन्तु प्रा० विहत्थि (वितस्ति पा० विदत्थि-) पर निस्संदेह हत्थ-(हस्त-) का प्रभाव है (एच० स्मिथ)।

कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें महाप्राणत्व ने किसी पूर्ववर्ती व्यंजन से सम्बद्ध रह कर अपने को बनाये रखा है। यूरोप की जिप्सी भाषा मे इस संभावना के कारण आदि घोष को अघोष होते देखा जाता है थिव् (जिह्वा) थुद् (दुग्ध-) जो धम् (घर्म) धोव् (धाव्) की भांति है, आदि।

जब कोई शब्द स्वर से प्रारंभ होता है, तो फुसफुसाहट वाली ध्वनि में उससे पहले आने की प्रवृत्ति पायी जाती है प्रा० होट्ठ- म होट् (ओष्ठ-) हि० हम, गु० हमे (प्रा० अम्हे) गु हूनो (उष्ण) आदि।

अभिव्यंजक ह्

अंत में स्फुट रूप में कुछ आदि ह् मिलते हैं जो शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान द्वारा सिद्ध नहीं होते और जिनका प्रभाव लगभग कुछ शब्दों की अभिव्यंजकता बढ़ाने में है *हृ-दय के लिये अशोक० हिद, हेवं हेमेव [ए(व)मेव] हेविस (पा एदिस- सं० एतादृश), हूंचे (वं—सत् तुल पा० यानुने और सं० यद् च) पा० हुवं हेवं हाकिम हेट आदि (वे० सक्सीसि पृ ८८९ नोट ८ पृ० ८९४ नोट १३)। आधुनिक काल मे पं० होर् राज० और दक्खिनी हौर्, गँवारू हिन्दी हर्, साहित्यिक हिन्दी और (अपरम्) पं बोली हेक्क (एक- उसकी पुनरावृत्ति देखिए) म हा वं होथा हेथा (प्रा० एत्थ) हाकुलि- (आकुल-) सिंहली है, हो जो ए, ओ के समीप हैं और वह भी इतने प्रमुख रूप में कि सिंहली ह् के लोप की ओर झुक रही है (एच० स्मिथ)।

५ शिन्-ध्वनि

भारत-ईरानी में एक मात्र शिन्-ध्वनि है सामान्यतः अघोष किन्तु घोष स्पर्श ध्वनियों की समीपता के कारण जो घोषत्व प्राप्त करने की क्षमता रखती है (अ० मस्ति चरि तुल सं० मस्ति एधि) और दूसरी ओर इ, उ ऋ और कंठ्य (अवि एक० म ईपृषस्, तुल सं० घुमत्सु किन्तु अ० अवृषएषु, हुमुषइन्द्-अ सं० मत्स्यु,

मिमु पृपु अ० संबंध० एक० गरेर्स्) के बाद नियमित रूप से शकार ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है।

भारतीय भाषा में यह नियम पहले से ही रहा है, और ईरानी की अपेक्षा अच्छे रूप में रहा है जिसमें समीपवर्ती भारोपीय भाषाओं की भाँति आदि और स्वर-मध्यम रूप में असंयुक्त विवृत स् है सं० सन्ति अ० हेन्ति, सं० असि, अ० अहि।

किन्तु यह देखा जा चुका है कि शिन्-ध्वनि से निकले शकार-ध्वनि वाले रूप में जो मूर्धन्य हो जाता है संस्कृत दन्त्य स्पर्श ध्वनियों के एक नवीन वर्ग को जन्म दिया जो मूर्धन्य कहा जाता है। अथवा प्राचीन ष् के पूर्ण स्वरीकरण से जिसमें शिन् ध्वनियों सहित समीपवर्ती दन्त्य ध्वनियों का मूर्धन्यीकरण कर दिया था यह फल प्रकट किया कि स्वर ब के पश्चात् ष् की काफी बड़ी संख्या है और वह स् के परिवर्तित रूप की तरह नहीं है जाम्बे का संभवतः चतुष्क जर्मन फ्रेस्स पी० पेस्क फिमोस् से निकला है कपति तुल० साहित्यिक कर्दुर्शिव। यह एक महत्त्वपूर्ण नवीनता है।

दूसरी ओर भारतीय भाषा में वे घोष ध्वनियाँ नहीं रहीं जो ईरानी में सुरक्षित रहीं। दंत्य या ओष्ठ्य ध्वनियों से पूर्व ये नहीं मिलतीं अवृध पहल्मी अवम् विहमिन् तुल० अ० दीर्घम्नो। दन्त्य से पूर्व ये स्वर को जो दीर्घ हो जाता है अपना कम्पन प्रदान कर विलीन हो जाती हैं और ह्रस्व अ के समय में ध्वनि का परिवर्तन कर देती हैं मेरिष्ठ- अ० नश्रिस्त सद् (तब *स-ज़्द्) से पूर्व० २ बहु० देविरे *आसध्वम् से २ बहु० अपूर्व० आध्वम् *निज़्द से नीड- तुल० जर्मन नेस्ट सीसिन्त प्राचीन *सि-ज़्द्-स- सद् का इच्छार्थक सन्नन्त रूप। धातु के अन्त में -ज़् जो घोष से पूर्व -ष् हो जाता है, से निकली दो घोष ध्वनियों में से एक -अ् स्वर का संकोच करने में विलीन हो जाती है अस्मो दूसरी -ओ् ड् हो जाती है अभिड्।

संस्कृत में दो शिन्-ध्वनियाँ प्रतीत होती हैं, जो सापेक्षिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं, और दोनों ही बिल्कुल अघोष हैं। अथवा उसमें एक तीसरी शिन्-ध्वनि आ गई है, और वह भी बिल्कुल अघोष है, और जिसका कारण यह है कि भारोपीय की तालव्यप्रधान ध्वनियों के विभिन्न प्रयोग से *क् संस्कृत में श् हो गया जब कि *ग् का प्रतिनिधित्व *ग्^य (ए) की भाँति ज् द्वारा और *ग् ह् का प्रतिनिधित्व *ग्^य ह् (ए) की भाँति ह् द्वारा होता है। तो लगभग समस्त भारतीय भूमि-भाग में (केवल काफ़िर में प्राचीन स्पर्श ध्वनि मिलती है) प्राचीन अघोष स्पर्श ध्वनि एक तीसरी शिन्-ध्वनि में परिणत हो गयी प्रतीत होती है और जिसकी विशेषता है तालव्यीय उच्चारण और वह भी बिल्कुल अघोष इसके विपरीत ईरानी में वह अपनी घोष प्रकृति ग्रहण किये रहती है अ०

स् ष् पु॰ प्रा॰ θ थ्। संस्कृत में अन्य सिन्-ध्वनियों के साथ इतना अधिक संबंध है कि कुछ परिस्थितियों में प्राचीन कंठ्य ध्वनि षकार ध्वनि हो गयी है, और यह अपने को मूर्द्धन्य सिन्-ध्वनि के रूप में प्रस्तुत करती है सप्ता अ॰ अर्श ग्री॰ ओक्टो वृष्टि, अ॰ वर्शी तुल॰ वैरिस अ॰ वर्समी।

तो संस्कृत में तीन सिन्-ध्वनियों की एक नितान्त नवीन प्रणाली मिलती है, जिनका संबंध जीभ के अग्र भाग की गति द्वारा प्राप्त तीन प्रकार की स्पर्श ध्वनियों से है। इसके अतिरिक्त इन सिन्-ध्वनियों का आपस में परिवर्तन भी हो जाता है यह तो देखा ही जा चुका है कि स् और ष् पूर्ववर्ती ध्वनि-श्रेणी पर निर्भर रहते हैं, और ष् और श् परवर्ती पर। अन्य रूपों में तालव्य ध्वनियों के सामीप्य द्वारा स् श् हो जाता है (पश्चा, तुल॰ अ॰ पस्नं साहित्यिक पस्चाई स-स्च् जो स्च् का दोहरा रूप है) अथवा समीकरण द्वारा हो जाता है (श्वशुर, तुल॰ अ॰ ख्सुर इसी प्रकार मध्यकालीन भारतीय भाषा की पश्चिमी बोलियों में अशोक॰ अनुसशन) स्वरूप द्वारा भी यह ष् हो जाता है पोलश् जो *स्वेश से है तो ष् के विपरीतकरण द्वारा श् हो जाता है शुष्क- जो *सुष्क उच्चरित से निकले *पुष्क- से बना है अ॰ हुस्क- शुश्रूष् से निकले अशोक॰ सुश्रूष आदि।

इसके अतिरिक्त ये सिन्-ध्वनियाँ अपनी ही थोड़ी-बहुत अव्यवस्था के कारण समाप्त हो जाती हैं और भाषा दृष्टि से उनका सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में बना रहना वास्तविकता से साम्य नहीं रखता। अशोक के अभिलेखों में अकेले उत्तर-पश्चिम सीमा भागों में तीनों सिन्-ध्वनियाँ मिलती हैं और यही परिस्थिति खरोष्ठी में लिखित और इ पुनु॰ में बाद के अभिलेखों के संबंध में कही जायगी (समान अव्यवस्थाओं सहित उदाहरणार्थ क्ष सं शकु और सर्व कोनाव 'इंस्क्रिप्शंस विदिष' पृ॰ ९२)। अशोक के अन्य अभिलेखों में (कुछ असंबद्धताएँ, जो केवल लेखन प्रणाली के कारण हैं, भारवी के अंतिम बोलचाल-भवनों में दृष्टिगोचर होती हैं) और मध्यकालीन भारतीय भाषा के सभी उत्कीर्ण लेखों में सिन्-ध्वनि सामान्यतः स् के साथ अपवाद रूप में श् के साथ जुड़ी हुई है। भट्टिप्रोलु का समाधि-स्मारक एक अपवाद है जहाँ एक ओर स् का श में परिवर्तन हो जाता है पुत(स्)स, दूसरी ओर म(स्) पुया और सरीर के लिये एक विचित्र चिह्न है (भट्टिप्रोलु के स्वच्छ पार्श्व-खण्ड में इनसे भिन्न प्रकार ध्वनि मिलती है किन्तु केवल तालव्य के संबंध में मूर्द्धन्य का कोई उदाहरण नहीं मिलता) साथ ही इस समाधि-स्मारक के कारण ही तो उत्तर-पश्चिम के कुछ रूप नहीं हैं यद्यपि भट्टिप्रोलु का स्तूप कृष्णा-समुदाय (अमरावती जग्गपेट, नागार्जुन कोण्ड) के अन्तर्गत आता है। मध्यकालीन भारतीय भाषा के साहित्यिक सिन्-ध्वनि

को ही मिला देते हैं (स् में केवल नाटकों की मागधी में स्) केवल एक अपवाद मृच्छकटिका में क्रीड़ा की बोली (जो ढक्की या टक्की कही जाती है) में पाया जाता है, जिसमें प्रत्यक्षतः श् है, ष् और प् का स् में योग उपस्थित होता है किन्तु स्वयं इसी अकेले ग्रन्थ के लिये पाठ ठीक नहीं है और निष्कर्ष अनिश्चित है विरलतापूर्ण उल्लेखों में जो बात देखी जाती है वह है र् का स द्वारा प्रतिनिधित्व के रूप में एक "मामधिसन्ते" और एक वह शब्द जिसकी बाद की विशेषता है संस्कृत -अ, -अम् के लिए -उ प्रत्यय का प्रयोग यह विपथगामी प्राकृत का एक प्रकार है।

शिन्-ध्वनियों की अव्यवस्था संभवतः एक सापेक्षिक दुर्बलता का चिह्न है। हर प्राकृत में इतिहास के प्रारम्भ से ही अघोष ध्वनि विश्राम-स्थल पर अपने को विवृत करती है शब्द में धातु के अन्त में स्पर्श का पृथक्त्व जैसा यह मास से मार्ग्मि उपस् से उपश्मि-, अर्थ० वस् से वसात्सी में है, अपवाद-स्वरूप है और आकृति-मूलक परिस्थितियों से सम्बन्धित है।

कभी-कभी मध्यकालीन भारतीय भाषा में -ष्य- का प्रतिनिधित्व ह् द्वारा होते हुए देखा जाता है। विशेषतः स्पर्श ध्वनियों के अस्तित्व के कारण शिन्-ध्वनि नियमित रूप से अपने को विवृत करती है और समुदाय की जटिलता में फुस फुसाहट वाली ध्वनि अपना स्थान बना लेती है—महाप्राण स्पर्श ध्वनियों वाली भाषा में यह एक साधारण बात है—साथ ही यदि स्पर्श से पहले प्राचीन शिन्-ध्वनि आये तो ऐसा होता है हत्थ-(हस्त-) थव-और थव-(स्तव-) सुक्ख (शुष्क-) पक्ख (पक्ष) और अनुनासिक के साथ शिन्-ध्वनि अनिवार्य रूप से पहले आती है अम्हे (अस्मे) उम्ह (उष्म-)।

जो कुछ भी हो जीवित शिन्-ध्वनियों का समन्वय लंका में लगभग सर्वत्र पाया जाता है (किन्तु वहाँ श् और स् फिर आपस में मिल जाते हैं)। इसके अतिरिक्त उसका उच्चारण परिवर्तनशील है इसी प्रकार मागधी प्राकृत में केवल श् या स् जो सामान्यतः दन्त्य है नेपाली में मध्य शकार ध्वनि है और बंगाली तथा उड़िया में विशेषतः उसकी विवृति और भी अधिक होती है और आसामी और भीली में वह ख् हो जाती है पूर्वी बंगाली पैशाच गुजराती सिंहली (शब्द के अन्त के अतिरिक्त) और सिन्धी के स्वर मध्यग में ह् भी संस्कृत ष् का ख् उच्चारण और उसके लिखने में समानता जो उत्तर भारत में प्रचलित है सोष्म ध्वनि की भी कल्पना करते हैं किन्तु यह कब और कहाँ से हुआ है?

तालव्यीय स्वरों के कारण मराठी में दन्त्य शिन्-ध्वनि का तालव्यीकरण हो जाता है, उन्हीं परिस्थितियों में जिनमें तालव्यीय कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियों का।

उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में अब भी चिन्-ध्वनियों की थोड़ी-बहुत विशेषता है जैसा कि खरोष्ठी में लिखित मध्यकालीन भारतीय पाठों में मिलता है। कश्मीरी में हैं १ सत् (सप्त) और वौस् (आस्य) २ शुऐंह् (षट्) शुरह् (षोडश) किन्तु षेंह् (षिष) ३ शीर् (शिर:) और शुह् (शिषति-) शहुन (श्सुन)। इसी प्रकार शिना में १ सत् (सप्त-) शूं (सेना) २ षोद ११" ३ शूं (षा शुम), किन्तु संयुक्त रूप में अॉपु (अभ्रु-) शैप् (श्वभ्रू) पें (श्वास)। अन्यत्र चिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि में भेद मिलता है जैसे बसुत(बसन्त) सी (शीत) उश्पे (औषध) तारवाली हस् (हँसना) वश (१) षुषवसें (१६) तिस् (प्यास)। इसी प्रकार युरोप की जिप्सी भाषा में (एशिया की प्राकृत के साथ जाती है) ग्रीक सो-(सोना) सप् (साँप) वस् (बास) शों (६) शेसे (वर्ष) सैक् (१०) बेसे (१०) बिसे (२)।

यह देखा जा चुका है कि भारत-ईरानी में चिन्-ध्वनि और घकार ध्वनियों के घोष रूप मिलते हैं विविध कारणों से वे (घोष रूप) संस्कृत में नहीं हैं। "प्राकृत" भाषाओं में यह निष्कासन निश्चित रूप से है बाहर से आये शब्दों का ष अर्द्ध-लिपियों में बदलकर ष् हो जाता है आ० चमीण्डार के लिये चमीदर, फ़ा० राजी के लिये राजी। [illegible] में ष और षें पाए जाते हैं जिनकी दुहरी व्युत्पत्ति है

१ काफ़िर ष् गड् से उत्पन्न ष् षूंह् (ए) से उत्पन्न जैसी षीम् (बर्फ़) षेंमेंद् (मार डालना)।

२ ष् स्वर-मध्यम -स् से कभी-कभी पशई ष्वीम् की हल्मनूस्न (अंत में सं०-आमसि से निकला प्रत्यय है -ऐंष्) तुल० पशई और खोवर की अन्य बोलियों में -आष्, शीराही स्वष् (श्वसा)। बुरेश की शिना में प्राय आषु (आस्य) हष् (हँसना) षिष् (विषद) तुल० गिलगिट में औह, हम् जो वेष् के समीप है।

तुल० अशुन दवेर (अक्षि) षुष् भी जो जैसी षंदंबे (विचति) के विरुद्ध है।

३ मध्यकालीन भारतीय भाषा की तालव्य ध्वनियों का ऊष्मीकरण शिना वर्ग, क० दश् (दहते) शिना षुजें (छिपते) मधी (मध्य) साथ ही शिषे (*भिष्य्) षी (दुहिता) का विकृत रूप (षिषे) कर षाल्-(ज्वालय) षुजेंषिष् (उत्पद्यते प्रा० उप्पज्जै) शिना में मूर्धन्य ष् ट् वाले एक समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है शिगु (दीर्घ से *दीघ-) षा (भाला) [षार (झाला) में ष् सुरक्षित है]।

न० २ के प्रयोग का चिह्न मध्यकालीन भारतीय भाषा में उत्तर-पश्चिम की ओर भी मिलता है मनिषपत्र के अभिलेख में माषे (माशे) मिलता है, निय के पाठों में वस और वस (वास) अथवा ष् सिक्कों में गुडुफ़स राजा के हस्ताक्षरों में मिलता है

तो यह पूछा जा सकता है कि क्या इस प्रमाण की बोली में स्वर-मध्यग स् के लिये ष् नहीं होना चाहिए (रैप्सन खरोष्ठी इन्स० III पृ० १०१, ११२) किन्तु ह० पुनु० के प्रयक्षरि में ष् वास्तविक अर्ध-स्पर्शी है दे० अम्यन।

विदेशी नामों में ष् के अन्य रूप ज्, मु, स् — कोनोव, खरोष्ठी इन्स० पृ० १०८ के अनुसार ग्स् भी उतना ही विदेशी है और भारत में उसका वास्तव में प्रयोग नहीं मिलता यद्यपि उसका प्रवेश बौद्ध रहस्य की वर्णसंकेत वर्णमाला में प्रवेश हुआ होगा, दे० एस० लेवी Feestbundel kkl Bataviaasch Gen. १९२९, II पृ० १००।

६ अनुनासिक

संस्कृत ने भारत-ईरानी से न् और म् लिये हैं। इस बात को जानते हुए कि न् को समुदायों में क्या स्थान मिलना चाहिए, हिन्दू वैयाकरणों ने व्यंजनों के प्रत्येक वर्ग में अनुनासिक रखे हैं और ङ, ञ् और ण् का भेद उपस्थित किया है। किन्तु अकेली मूर्धन्य ध्वनि ही एक स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणी है और जो स्वरों के बीच में आ सकती है अर्थात् प्रागैतिहासिक ऋ का प्रतिनिधित्व करने वाले स्वर के बाद अथवा स्वयं उससे पहले र् या ष् हो सकते हैं। तो उसमें यह एक नई ध्वनि-श्रेणी है किन्तु उसका सीमित अस्तित्व है यह आदि में नहीं मिलती और मध्यकालीन भारतीय भाषा में ण् का अत्यन्त विस्तार हो जाने पर भी यह उसमें कई पाठों में केवल आदि में आता है और आधुनिक भाषाओं में शब्द के प्रारंभ में ण् नहीं आता।

आधुनिक समय में ञ् और ङ केवल गौण रूप में और बाह्य शाखा की भाषाओं में मिलते हैं सिंधी भिञ प्रा० भिञ्ञ सं० भज्ञान जिप्सी अभेञम् (-ञनि ?) रूम० बेञे (भगिनी), फ़ारसी के मियां के लिये मिआ, मे० आञिञो काईयो जिप्सी कोङघि (कङ्कट) असमी अथवा (मज्जार) बंगाली बाङाल (बङ्गाल)।

तो ङ्, ञ् और ण् एक ऐसे देश में अकेली स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणियाँ हैं जहाँ अन्य ध्वनियों के साथ उनकी गड़बड़ नहीं हुई।

७ अन्तःस्थ

प्राचीन ईरानी में भारोपीय अन्तःस्थ ल और र् दोनों ही का प्रतिनिधित्व र् द्वारा होता है। फ़ारसी अभिलेखों में ल केवल तीन विदेशी नामों में आया है इन विदेशी नामों में जो यहाँ के लिये सामान्य हो गये र् ही मिलता है जैसे बैबीलोन का नाम है बाबिरुश। मध्यकालीन फ़ारसी का ल प्राचीन संयुक्त र्द् के फलस्वरूप है। तो भी

फ़ारसी में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका ल् निश्चित रूप से भारोपीय है रूम्, फ़िरेश्तन्, मासूरम् (तुल० सं० स्तूप) कल् (अ० कौर्न सी कलपुस सं० वतिकुल्व)। बोसोऐस में प्राचीन ल् बराबर मिलता है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि सामान्य भारत-ईरानी में दो ल् और र् थे।

यह संस्कृत में भी बराबर, और अधिक स्पष्ट रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है राम्, सं० रेम् भरति सं० फ़र्ट भय:, सी ट्रेस दूसरी ओर भूम सं० लूनेट अथर्व बल्म साहित्यिक अनुमत पक्षित- तुल० ग्री० पैलिन्नोस् क्या तुल कौर्तीन (koutchéen) क्लाम (klāya) (अपने को अच्छा न पाना) प्लीहा तुल० ग्री० स्प्लेन् आदि।

किन्तु ऋग्वेद में जो अपने विषय की दृष्टि से उत्तर-पश्चिम भारत तक सीमित है, र् लगभग उतना ही प्रमुख है जितना भारत-ईरानी में ग्रासमन के कोष में आदि ल् वाले शब्द केवल दो कालमों में हैं, जब कि आदि र् वाले शब्द ५८ में हैं और ये शब्द, इन लगभग सभी शब्दों की भाँति जिनमें किसी-न-किसी स्थिति में ल आता है, कुछ अंशों में हल (Hills) के संग्रह में मिलते हैं थोड़ी सी संख्या में वे र् के साथ स्वयं ऋग्वेद में प्रायः मिल जाते हैं। *यह देखना आवश्यक है कि किस सामान्य रीति द्वारा प्रागैतिहासिक* ॰ल् या ॰ल मूर्धन्य ध्वनियों की उत्पत्ति के लिए ज् और ल् पर आधारित होकर र और ऋ की भाँति हो जाते हैं।

क्लैसीकल संस्कृत में र् की अत्यधिक महत्ता है, किन्तु ऋग्वेद के अति प्राचीन अंशों की अपेक्षा कम निर्धारक रूप में। सर्वप्रथम यह भारोपीय से आये ल् वाले एकमूलक विभाजी शब्दों में से एक में प्रकट होता है ऋग्वेद के कुछ प्रारंभिक अंशों में चलते चलन मिलते भी हैं जो सामान्यतः मृ (ग्री प्लेको) धातु से हैं लेकिन, वाल्कल- लेकान जो रम् (तुल० ग्री एर्गीलेफ) के विपरीत है। ऋ० सामान्य अतीत विषयक अनिष्पन्न pf. रिरिपु (ग्री० अलेइफो) अभ्यास- अविभाज्य को मर् अथर्व भल- (ग्री० पैलोमस) के आवृत्ति वाले रूप हैं पुरु- (ग्री० पोलु) और संयुक्त रूप में मिश्र- जो पुरु- और मिश्र के लिये हैं जो क्लैसीकल भाषा में एकमात्र उदाहरण हैं। ऋ के वम्र वम्रक- के विरुद्ध पा० सं० मे वल्मीक- (अज्ञात प्रचलित ई प्रत्यय सहित) ऋ के रपु रप् के लिये अथर्व में लपु लाल्प् है, ऋ० के रिह्, रुर के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में लिह् रुप्- है, अथर्व० गिर् के बाद का का गिल्- मिलता है आदि। क्लैसी-कल संस्कृत में अर्थ के अनुसार इन एकमूलक विभाजी शब्दों में से कुछ का पुनर्विभाजन हो गया है।

ल् वाले अनेक शब्दों की अटलता और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारोपीय ने वास्तविक भाषा में उनके बचे हुए रूपों को बनाये रखा है। ऋग्वेद में उसकी अत्यधिक दुर्बलता दीसी की अपेक्षा बोली की कसौटी कम है उसमें उनकी विशेषता या उनका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है स्वयं क्लैसीकल संस्कृत में उनकी सापेक्षिक दुर्बलता ब्राह्मण परंपरा की शक्ति का प्रतीक है। इससे उस क्रम की गणना करना संभव हो जाता है जिसे व्याकरण की परंपरा शतपथ ब्राह्मण III, २ १ ११ की एक कथा के अंतर्गत रखती है शब्दोच्चारण करने से वंचित पराजित असुर चिल्ला उठे थ हेलवो हेलव्(ओ) जिसके दूसरे रूप हैं हेलो हेल(ओ) पतंजलि न हेलयो हेलय् (ओ) रूप दिया है जो 'हे'रय' का बर्बर रूप होना चाहिए। इससे क्लैसीकल नाटकों की मागधी प्राकृत के प्रयोग पर भी कुछ प्रकाश पड़ सकता है जो निम्न श्रेणी और हास्यास्पद व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त होती थी।

यह प्राकृत नितान्त कल्पित नहीं रही और कम-से-कम एक भूमि-भाग और एक युग में एक ऐसी बोली के रूप में रही है जिसमें न केवल ल का अस्तित्व रहा वरन् जिसमें पश्चिमी और ईरानी बोलियों के विपरीत र् भी मिलता है। लेख इसके प्रमाण हैं रामगढ़ के सुतनुका-लेख सोहगौर (गोरखपुर) के फलक में केवल ल् है विशेषत अशोक के उन अभिलेखों में जो गंगा की घाटी और उड़ीसा की तरफ मिले हैं नियमित रूप से ल है। इस भूमि भाग के पश्चिमी सीमांत पर, वैरट (बैराट?) के अद्भुत अभिलेख में आदि और स्वर-मध्यम ल् मिलता है (लज विल पालये, विहालम्) और यह अलग अलग किये गये संयुक्तों के उदाहरण में मिलता है (अलहामि सं० अर्हामि पलिय्यमानि), किन्तु संयुक्त रूप में र् किसी अन्य रूप में परिणत नहीं होता सर्वे प्रियदर्शि अभिप्रेते प्रसादे [उपतिसपसिने (-प्रश्न) एक ऐसा उदाहरण है जो लाघुलोवाद और अलियवसानि की भाँति है यही अभिलेख है जिसमें विचित्र पूर्वकालिक कृदन्त अभिवादेतुनां मिलता है वैरट (बैराट?) के दूसरे अभिलेख में जो पत्थरी घोषणा-पत्र का उदाहरण है, आलभितवे है, किन्तु देवानंपिये भी है]। दक्षिणी सीमा पर साँची में चिल- (चिर) और सुलयिके (सूर्य- से उत्पन्न) रूप हैं रूपनाथ में ये दोनों अक्षर मिलते हैं, किन्तु बिना किसी प्रत्यक्ष सिद्धान्त के।

यदि यह बात स्वयं मागधी प्राकृत नाम से स्पष्ट और प्रमाणित है कि इस विचित्र ल वाली बोलियों का केन्द्र बनारस और पटना का भूमिभाग ही होना चाहिए, तो ध्वनि-श्रेणी के वास्तविक विस्तार और उसकी तिथि की गणना करना कठिन है। ऋग्वेद में शासति और विशेषण कोदाल- (साहित्यिक कौशिल) के विपरीत लकोध का एक उदाहरण मिलता है, और लोमन्- के दो उदाहरण बाद की एक ऋचा में जिसका

सामान्य रूप है रोमन् [तुल० मायर्लैंडिश रुऐम्ने (ruamne) रुआम्नी (ruamnae)]। ये रूप तथा अन्य जो प्राचीन पाठों में मिलते हैं, यथा० वा० सं० बभ्लुशा ऋ० बभ्रु [तुल० फ़े० भूरो (*भूरक-) और सं० भल्लूक- से बने शब्द के निकट है], अथर्व० लिश् ऋ० रिश् (तुल० रिष् ग्री० ऐरेइको) एक कठिन समस्या प्रस्तुत करते हैं। क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि अन्य बातों की भाँति इस बात के संबंध में 'पूर्वी' मध्यकालीन भारतीय भाषा का परिवर्तन जो उसकी विशेषता है, अत्यन्त प्राचीन है और सर्वप्रथम प्रमाणों के समय का है? अथवा यह स्वीकार करना आवश्यक है कि भारोपीय में एक अस्थिरता का चिह्न मिलता है जिसकी ओर अनेक बार संकेत किया जा चुका है और जो निस्संदेह अथर्व० कम्पति पु० एक लुपिति, ली० लुम्पी सं० लुम्पति लै० रम्पो और परिवर्तन-क्रम की दृष्टि से पूर्ण रति गिलति अर्थात् एर् और एल् (बै० अन्य के अतिरिक्त मेइए, Ann. Acad. Sc. Fennicae, XXVIII, पृ० १५७) की गणना करता है? वास्तव में प्रत्येक आधुनिक भाषा र् और ल का भेद उपस्थित नहीं करती बंगाली प्राचीन र् और ल् का भली भाँति भेद करती है यही बात बिहारी में है जो प्राचीन मगध के भूमिभाग में और साथ ही पूर्व और पश्चिम में दूर तक बोली जाने वाली भाषा है और र् ल् का स्वर-मध्यग रूप है (टर्नर, 'फोन्टीटिस्ट नालोजी' पृ० १६) शेष के रूप हाल के हैं यथाक्रम—र्(ल) एड् १०१५ के एक इलाहाबाद के निकट के अभिलेख में है (आर्कियोलोजीकल सर्वे १९२१-२४ पृ० १२१) सिंधी में भी ऐसा ही भेद मिलता है।

यह पूछा जा सकता है कि क्या अभिलेखों में प्राप्त विभिन्न ळ का उच्चारण विभिन्न है? श्री ग्रियर्सन का यह अनुमान है कि कम-से-कम कुछ उदाहरणों में यह सत्य र् का प्रतिनिधित्व करता है। यह सच है कि इसका मतलब यह हुआ कि सामान्य र् स्पष्टतः मूर्धन्य होना चाहिए, जो एक ऐसी परिभाषा है जिसकी स्थिति पाणिनि तक जाती है और जिससे संभवतः यह भी प्रमाणित हो जाता है कि परवर्ती न् पर जितना मूर्धन्य-प्रभाव है उतना ही विवेचना का है। अनेक ध्वनि-श्रेणियों को अपने अंतर्गत लेने वाली एक लेखन-प्रणाली की कल्पना अशोक द्वारा एक ही से अभिलेखों में प्रयुक्त ळ् के प्रयोग द्वारा संभव प्रतीत होने लगती है। यह समस्या प्राकृत के ण् के संबंध में भी उठती है। प्रत्येक रूप में यह ण् गौण है जब कि अन्तस्थ (ऋट्, सं० मर्द् प्रकार) के संपर्क से वे दन्त्य ध्वनियाँ जिनका मूर्धन्यीकरण हो गया हो वास्तव में अशोक के 'पूर्वी' अभिलेखों की विशेषता है।

जिस प्रवृत्ति पर हम विचार कर रहे हैं, जो इतनी प्रमुख है कि कुछ लिखित पाठों में पाई जाती है, उसने कुछ अन्य चिह्न भी छोड़े हैं। पाली में चत्तालीस मिलता है जो

प्राकृत रूप में है, और जो संख्यावाची नामों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं की सूची में एक समस्या और जोड़ देता है प्राचीन विषमीकरण द्वारा पा० लुद्द (रौद्र) प्रा० हलद्दा, दलिद्द दद्दुर (हरिद्रा दरिद्र, दर्दुर) की व्याख्या की जा सकती है अंतिम में बहिर- (बधिर) की भाँति प्राय मिलने वाले एक प्रत्यय का प्रभाव है पा० अस्सखित्त में भी समवत दो मूर्धन्य वर्णों (अस्तरित) के विषमीकरण का चिह्न विद्यमान है क्या यही बात ही पा० एरण्ड तरुण (एरण्ड, तरुण) जैन करुण (करुण) में नहीं है? दूसरी ओर जैन चलण चलति के साथ चरण के विकृत प्रभाव का परिणाम है अंत में इंग्लाल संस्कृत अंगार भारोपीय शब्द, साहित्यिक अल्पलित प्रा० निघाल आदि की अपेक्षा अधिक सीधे रूप में मिलते हैं। इन सब रूपों में से कुछ मराठी जैसी प्राचीनता-प्रिय भाषाओं के प्रयोगों द्वारा प्रमाणित होते हैं।

दो समान रूप से आधुनिक भाषाएँ एक ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करती हैं जो क्लैसीकल संस्कृत के अत्यन्त निकट है।

उर्दू में स्थानीय दृष्टि से र् वाले समुदाय से मिलते जुलते न मिलते हैं ल्बिन् की पर्याई कार्य मयोगत की मस्कुन क्लाम् (घाम) पर्याई लाम् मस्कुन क्लाम् (कर्म) पूर्वी पर्याई जिसे "१" यह उन परिवर्तनों में से एक है जो इस क्षेत्र के समुदायों में अभी हाल ही में उत्पन्न हुए हैं।

शब्द में व्यंजनों का विकास

१ अन्त्य व्यंजन

लिखने में और संस्कृत के वैयाकरणों के अनुसार, प्रत्येक वाक्यांश के अंत में शब्द का वास्तविक अन्त होता है, उसे छोड़ कर, परवर्ती शब्द का आदि जब पूर्ववर्ती के अन्त पर निर्भर रहता है तो स्पर्श ध्वनियाँ जो चाहे अघोष हों या घोष, अनुनासिक ध्वनियाँ जो चाहे उच्चरित हों या न हों सिन्-ध्वनियाँ जिनका प्रतिनिधित्व अघोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि द्वारा अथवा र् द्वारा हो अन्ततः पूर्णत लुप्त हो जाती है।

किन्तु वाक्यांश में शब्द के अन्त के व्यंजन का प्रयोग उसी रूप में नहीं होता जिस रूप में मध्यवर्ती व्यंजन का।

मध्यवर्ती व्यंजन या तो अघोष होता है या घोष, और उसमें केवल एक दूसरे व्यंजन से पहले आने पर ही परिवर्तन होता है स्वरांत और स्वर से पूर्व अघोष बना

रहता है मरुत् मरुते की भाँति। इसके विपरीत शब्द के अन्त में परवर्ती शब्द का आदि तत्त्व है जिससे व्यंजन का रूप निर्धारित होता है फलतः अभरद् तम किन्तु अभरद् यस्मै अभरम् न अस्तु, शब्दों के अन्त के लिये क्रमशः परिवर्तनशील रूप हैं। वाक्यांश के अंत में अघोष का प्रयोग चल पड़ा है, किन्तु इस संबंध में वैयाकरण एकमत नहीं हैं और पाणिनि को यह पसन्द नहीं है।

एक ऐसी भाषा में जिसमें महाप्राण ध्वनियाँ एक प्रणाली का मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण अंग हैं, यह एक खास बात है कि शब्द के अन्त की महाप्राण ध्वनि वाक्यांश में वाक्यांश के अंत की भाँति अपना महाप्राणत्व खो देती है ऋ० ×.८९.१७ ककुप् विमसूमत् १०१ १२ ककुद् नर. जो अन्य से मिलते ककुभ के विरुद्ध है तो ग्रासमोलोमी का नियम" केवल शब्द के मध्य के लिये काम आता है अभाक ९ १ सामान्य अतीत विषयक जो दग्ध के विरुद्ध द(ग्)ह से बना है ×. १४ ११ त्रिष्टुभ् गायत्री उससे ऋ० गुत्कार मै० स मनुराज् की रचना शब्द के अन्त में स्पर्श ध्वनि के बाद की फुसफुसाहट वाली ध्वनि के इस अंश की तुलना समुदाय के दूसरे व्यंजन से की जा सकती है वास्तव में महाप्राणत्व सामान्यतः कठोर होता है, और यह देखा जाता है कि स्वर-मध्यम महाप्राण स्पर्श ध्वनियों में, स्पर्श-भाग फुसफुसाहट वाली ध्वनि के बिना उच्चारण और ध्यान दिये हुए जा चुका है।

व्यंजनों के समुदाय का जो शब्द के प्रारंभ और मध्य में सामान्य होते हैं, अन्त में आना असंभव है वहाँ वे प्रथम स्पर्श में परिणत हो जाते हैं अतः कर्षा० तुल० विकरणयुक्त अनर्क- चीक अथवा योग्, जो परवर्ती तत्त्व के बाद आते हैं, और जो *अमोर्क्त से निकले हैं, तुल० मुक्त जो अ० मनोर्तृ के विरुद्ध है और न के विरुद्ध *अमर्त् और *अमर्त के लिये २-३ एक० अक्, पराक् *परानृक्ते के लिये जो अ० परृक्ते के विरुद्ध है, श्रीयत् (म्) *श्रीमन्त्स् के लिये जो अ० स्सृते के विरुद्ध है। यह देखा जाता है कि यह विशिष्टता भारतीय भाषा में है और ईरानी से उसका संबंध है यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि फ़ारसी अभिलेखों में शब्दों को अलग-अलग करने वाला चिह्न मिलता है जब कि भारतीय लिखावट अटूट क्रम से लगातार चलती रहती है।

ये सब बातें अन्त्य व्यंजन की विशेष दुर्बलता की द्योतक हैं, वास्तव में प्राचीन वैयाकरणों ने अन्त्य स्पर्शों को 'मन्द' और 'दुर्बल' कह कर निन्दा की है, और फिर अन्य परवर्ती स्पर्शों के संपर्क में आदि स्पर्शों की भाँति ही अतरंग स्फोटक कह कर।

प्राचीनतम मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से इस विकास ने रूप धारण किया जब कि प्राचीन स्पर्श ध्वनियों (और इससे भी अधिक फुसफुसाहट वाली ध्वनि को

प्राचीन थिन्-ध्वनियों और अनुनासिकों की मुखरता का प्रतिनिधित्व करती थी) का स्वयं अतरंग स्फोट ही बिलकुल लुप्त हो जाता है। मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वर मध्यम के रूप में अन्त्य नहीं है नवीन अन्त्य स्वरों ने अपने को आधुनिक काल तक बनाये रखा है इससे शब्दों और वाक्यांशों में भी परिवर्तन हुआ है, क्योंकि शब्दों का अवसान फिर सामान्य हो जाता है।

अन्त्य व्यंजन आधुनिक काल तक स्थायी बने हुए हैं किन्तु मर्यादित शब्दों में अघोषत्व के चिह्न मिलते हैं म० बाप् और बापू (प्रा० बप्पाब) छत्तीस० सुपेद् सराप् (प्रा० सुफ़ेद शैपद्)।

२ मध्यवर्ती व्यंजन

भारतीय-आर्य भाषा के व्यंजनों के इतिहास में शब्द के मध्य में दो प्रकार का परिवर्तन-क्रम प्रमुख है स्वर-मध्यगों की दुर्बलता और दूसरी ओर समुदायगत अनुरूपता यहाँ तक कि उनका पूर्ण आत्मसात किया जाना। दोनों परिवर्तन शब्दांशों के विभाजन को बहुत दूर तक अक्षुण्ण बनाये रखते हैं।

स्वर-मध्यग

स्पर्श ध्वनियों में घोष महाप्राण ध्वनियाँ सब से कम सुरक्षित हैं क्योंकि पूर्व इतिहास काल में ही *भ् का जो स्पर्श-भाग था वह भारतीय भूमि-भाग के अधिकांश में लुप्त हो गया था केवल काफ़िर अपवाद स्वरूप थी सं० हन् कती बेमार अ० बन् हर्, कती विर, अ० बरंकु- यह बात उस समय तक जारी रहती है जब कि घोष महाप्राण ध्वनियाँ अपने को स्वाभाविक दुर्बल स्थिति में पाती हैं अर्थात् स्वरों के बीच में। इसी कारण से वेद के समय से प्रत्यय -महि आदि है। जिस समय समस्त स्वर-मध्यग अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं महाप्राण ध्वनियों में भी वैसा ही घटित होता है द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व मे पतञ्जलि और खारवेल प्रमाण हैं। मथुरा का पेरीप्लस ने बलिभमबेष् (-भठ-) दिया है, ह० गुनु० के हस्त० में गय यय (गाथा माथा) है इन नवीन घोष ध्वनियों ने घोष महाप्राण ध्वनियों के प्रकार का अनुगमन किया है और क्लैसीकल प्राकृत में वे ह् हो जाती हैं।

इस विकास का सर्वत्र मूर्धन्य ध्वनियों को छोड़ कर सभी महाप्राण ध्वनियों से है और हर जगह उसके प्रमाण मिलते हैं, केवल फ़िलिस्तीन की जिप्सी भाषा को छोड़ कर, जिसमें -प्- और-थ् (ठह के फिर से अघोष हो जाने के कारण) से निकला स् र् पर

आधारित -ध् से भिन्न है या लुप्त हो जाता है द्रि॰ बहु॰ -स्(-भ्य) मेसू (मोधुम-) मुस् (गुप) किन्तु पिमार (पिबति) आदि।

अन्य तथ्य समूची स्वर-मध्यग स्पर्श ध्वनि की दुर्बलता की ओर संकेत करते हैं। पुरोहित या उसकी स्त्री से संबंधित यजुर्वेद के एक मंत्र में समीपवर्ती स्वरों में ओष्ठ्य भाव उत्पन्न करते समय व् का लोप हो जाता है तौंतो अथवा तोंते राम (तंव के लिए तौं) मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह एक सामान्य बात है अव के लिये ओ अशोक॰ मोति होति (गिरनार भवति) अवि के लिये ऐ, ए अशोक गिरनार थैर या थेर (स्थविर) और इसी प्रकार निरंतर रूप में -अय- -अयि के लिये ए (-ए रूप में प्रेरणार्थक धातु)। यह क्या अय/ए और अव/ओ की समानता नहीं है जिससे अवैदिक संस्कृति संधि स्पष्ट होती है—ए अ -ओ अ >ए' आ' ?

ऋग्वेद की लेखन-प्रणाली में स्वर-मध्यग ड् के लिये ळ (और ढ् के लिये ळ्ह्) देखे ही जा चुके हैं, जो ड् के साथ ल् से मिलते अवेस्तिका के कुछ ल् द्वारा और पाली में निरंतर ळ् द्वारा प्रमाणित होते हैं। इसके विपरीत या तो अंतरंग स्फोट वाले (द्विदृभि) दम-युक्त (दम्भ) या पुनरावृत्त (विविड्ढि) रूप में ड् बना रहता है। एक विशेष लिखन प्रणाली द्वारा अनेक आधुनिक भाषाओं में ड् (ड़) का दुर्बल रूप अब भी देखा जाता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में अलग-अलग रखी गयी मूर्धन्य ध्वनियाँ महाप्राण न हुई स्पर्श ध्वनियाँ मिलती हैं। सर्वप्रथम अघोष ध्वनियाँ घोष हुई जिससे सर्वप्रथम ग्रीक भूगोल-लेखकों में पलिम्बोत्र (पाटलिपुत्र) और पेरीप्लस में दखिनबदेस् (दा दक्षिणापथ) किर्‌हदइ (किरात) तुल॰ मिन्नगर (नगर) का साधारण घोष। पाली में यह स्थिति केवल एक बहुत थोड़े मध्य में उदाहु (उताहो) में और कुछ ऐसे शब्दों में जो कम स्पष्ट हैं पायी जाती है पिबति (पिबति) भिष (भिष) और सुब (सुक) में यह अपवाद रूप में आगे बढ़ी हुई दिखायी देती है किन्तु सामान्य रूप में यह रूढ़ि-प्रिय है। अशोक भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कालसी में है हिद (हित) जिसकी में है लिपि (लिपि) धौमढ़ के (हिद) लोग से लोक- के अन्य सभी उदाहरणों का प्रतिवाद हो जाता है क्या यह भ्रम है? बहु॰ हेदिस धौलि हेदिस कालसी हेदिस में पाली एदिस की भाँति घोष ध्वनियों का अक्षर लोप मिलता है *ए(दाँ)दिस जैसे गिरनार में एतारिस (और एतारिस) एक विषमीकरण विषमीकरण के कारण चतु(द्)थ (चतुर्थ) चातु(द्)दस तुल पाली चुद्दस (चतुर्दश) में -द् का लगभग पूर्ण लोप हो गया मिलता है। शाहबाजगढ़ी में जो अन्य दृष्टियों से रूढ़िवादी है दीर्घ स्वर के बाद प् के स्थान पर य् मिलता है कांबोज एव समय पाली में प्राय -इय और

-इक- प्रत्ययों का परिवर्तन उसी प्रकार के विकास का अनुमान कराता है, कंठ्य ध्वनियों का प्रारम्भिक तालव्यीकरण कालसी में पाया जाता है कालिकया (शाटि वृति) पितिक्य और लोकिक्य किन्तु कलिम्म क्षयरे से -य वाला रूप होना चाहिए यही बात रामगढ़ के संबंध में है, देवदासिक्यि।

बाद को उसी प्रकार के प्रयोग कंठ्य तालव्य और दन्त्य ध्वनियों के लिये सामान्यतः मिलते हैं, और जैन तथा आधुनिक वर्ण-विन्यास से उनका अनुमान लगाया जा सकता है सं० सत्य, प्रा० स(य)च्च, म० सें हि० सैन्कड़ों और सी सं० राजा प्रा० रा(य)अ आधुनिक राइ और राओ विपर्ययीकरण के उदाहरण जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है (पा० तेरस आदि) और यूरोपीय जिप्सी-भाषा और सिना के ल् प्रयोग एशियाई जिप्सी-भाषा और कोवार के र् प्रयोग को छोड़कर, इतना ही है जिनका संबंध दन्त्य ध्वनियों से है। इसी प्रकार -म् और व् से व् की उत्पत्ति होती है और, अनुनासिक व् -म् का प्रतिनिधित्व करता है (दे० आगे) ऐसे सब उदाहरण घोष्मीकरण की थोड़ी-बहुत स्थायी गुंजायश रखते हैं।

स्पर्श ध्वनियों की भांति स्वरों के बीच अनुनासिक ध्वनियों में भी परिवर्तन होता है। इस दृष्टि से म् से जहाँ तक संबंध है उसका आधुनिक भाषाओं में घोष्मीकरण हो जाता है (हि० गाओं पु० म० गामु सं० ग्राम-) मध्यकालीन भारतीय भाषा में भी उसके कुछ उदाहरण मिलते हैं, किन्तु वे अनुनासिकों के कारण और फिर विपर्ययीकरण के कारण हैं जम् का प्राकृत में जम्बै जैन अणवयग्ग जो पा० अनमतग्ग के लिये है।

दन्त्य अनुनासिक ध्वनि मूर्धन्य में परिणत हो जाती है। वैदिक स्थाणु आदि को देखा ही जा चुका है। पाणिनि को हर हालत में दन्त्यमाध्यम ज्ञात था जो मानव से है ऋ० मन् पन्य के लिय पतंजलि ने मण और शतपथ ब्राह्मण ने पणस्य दिया है। पाली में ऐसे अनेक उदाहरण हैं माण (मान) जो जानाति के विरुद्ध है, फेण सुण और सुन सं० धनै के लिये सणिम् दन्तपाण जो पवन के समीप है अण्णुक- जो जानु के समीप है, आदि। प्राकृत में यह नियम है कि सब स्वर-मध्यग ण् मूर्धन्य हो जाते हैं। कुछ पाठों में वैयाकरणों द्वारा प्रमाणित प्रत्येक स्थिति के लिये इसी लेख-प्रणाली का प्रमाण मिलता है। यह सामान्यीकरण जो उच्चारण की दृष्टि से नहीं बताया जा सकता मनुलेखन-पद्धति के साधारण तथ्य के कारण होना चाहिए निस्संदेह ण् के दो उच्चारण हैं उदाहरणार्थ जैसे सुमिण (स्वप्न गुज० स्वपति के लिए पा० सुपति) में ण् अनुनासिक व् है और इसके अतिरिक्त एक मिश्रित भ् है। यह कहना सत्य है कि कोसम्ब के अशोक के अभिलेख में प्राकृत नियम का ही पालन हुआ है, और जो साथ ही

विषमीकरण द्वारा प्रमाणित प्रतीत होता है (टर्नर, 'दि पश्चिमल इम्प्लिके० ऑफ अशोक' पृ० ११ १२) किन्तु यह पूछा जा सकता है कि क्या इस विशिष्ट उदाहरण में लेख-प्रणाली का विपर्यय तो नहीं हो गया।

हर हालत में यही बात रह जाती है कि न् और ण् का विरोध शक्तिशाली और दुर्बल का विरोध है, और जो प् अथवा ब् और भ्, त् अथवा द् और ठ अथवा ध्, म् और व् के विरोध के अनुरूप है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि श्री टर्नर ने गुजराती ण् का अनुनासिक ऊष्म के रूप में उल्लेख किया है।

अथवा आदि न् या पुनरावृत्त रूपों स्वर-मध्यग ण् का विरोध ह० कु० में कुछ प्राकृत अभिलेखों में और कागज पर लिखे जैन हस्तलिखित ग्रन्थों में सामान्यतः मिलता है और यही बात आधुनिक भाषाओं के बहुत बड़े समुदाय में मिलती है मराठी गुज-राती सिन्धी पंजाबी राजस्थानी कुमायूँनी लोक-प्रचलित हिन्दी वर्ग (जिसमें ण् ड़् है जो थोड़ा-बहुत अनुनासिक है)।

कुल मिलाकर, स्वर-मध्यग दुर्बल व्यंजनों का एक वर्ग ही प्रदान करते हैं, जो थोड़े बहुत स्थायी हैं जिनका परस्पर तीव्र विरोध रहता है, जिनके उदाहरण आदि व्यंजनों और जैसा कि देखने को मिलता है प्राचीन समुदायों द्वारा मिलते हैं।

३ व्यंजन-समुदाय

भारत में व्यंजन-समुदायों की सामान्य प्रवृत्ति तत्वों को आत्मसात् कर लेने की ओर है यह न केवल उनमें जिनका संबंध गुजरता से है (पूर्व एक १ बँद, २ बँध अधि० एक० पवि बद्ध परस्तु सामान्य अतीत २ एक निश्चयार्थ एक आज्ञार्थ० थाँव आदि) किन्तु साथ ही उनमें भी जिनका संबंध उच्चारण से भी है। पहली प्रवृत्ति ईरानी में मिलती है और सामान्य आवश्यकताओं से उत्पन्न होती है दूसरी भारतीय-आर्य भाषा की विशेषता है।

इस प्रकार ष् आगे आने वाले त् का मूर्धन्यीकरण करता है पुष्ट (अ पुश्त) जिसमें ष् प्राचीन स् से निकला है अष्ट (अ अश्त) जिसमें ष् एक प्राचीन तालव्य से निकला है तुल अष्टौ इसी प्रकार लुप्त ऋ का चिह्न रेखित् लिह् से लेढि, जो अस् से निकले एधि के विरुद्ध है के मूर्धन्य में दिखाई पड़ता है। तालव्य स्पर्श ध्वनि पूर्ववर्ती स् पर कल्पित अ० कम्पित् न् पर, न केवल उस समय जब कि वह पहले आता है (पञ्च अ० पञ्च) वरन् यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है, जब वह बाद में आता है यज्ञ (अ यस्न ग्र गेर्न् स्पर्श के दो विभिन्न प्रयोगों सहित किन्तु अनुनासिक को बराबर बनाये रखते हुए) प्रभाव छोड़ती है।

सिन्धी में दन्त्य ध्वनि की गड़बड़ एक ही केन्द्र-बिन्दु से उच्चरित परवर्ती अन्तस्थ के साथ हो जाती है अङ्गाल कौंमून।

दो स्पर्श ध्वनियों का उदाहरण विशेषतः खास बात है। भारत में ये दो स्पर्श ध्वनियां प्रारंभ से ही रही हैं किन्तु प्रथम व्यंजन के स्फोट में स्पष्टता का अभाव है साथ ही अस्य भव्य होने के कारण उत्पन्न सुबोधता की विहीनता और निश्चितता के अभाव की ओर प्रवृत्ति मिलती है साथ ही स्फोटक का उच्चारण अंतरंग स्फोट पर अतिक्रमण कर जाता है। इस रीति के अनुसार, भारतीय का ईरानी से स्पष्ट विरोध है। ईरानी में दो सोष्मीकरण स्पर्श ध्वनियों में से प्रथम के उच्चारण को आश्रय प्रदान करता है। समुदायों में उनके दुहरे उच्चारण बने हुए हैं उदाहरणार्थ अ० बख्त फ्रा० बख्त् सं० भक्त में जो प्राकृत भत्त हिं० भात् के विरुद्ध है अ० में हफ्त फा० में हफ्त् सं० में सप्त प्रा० में सत्त हिं० में सात्।

समीकरण मध्यकालीन भारतीय भाषा की विशेषता है किन्तु अति प्राचीन काल से पृथक्-पृथक् रूप (अयोगात्मक?) इस बात के प्रमाण हैं कि शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र और आकृति-विचार-शास्त्र से प्रभावित लिखित परंपरा की अपेक्षा उनका अधिक प्रचार हो गया था उत् से उच्चा तुल० अ० उस्पे पृष्कों तुल० अ० ११६८- *मद्गु तुल० मद्गु के लिये मज्जति। इससे यह जान कर आश्चर्य न होगा कि एक ग्रीक परंपरा जो ३०० ईसवी पूर्व के लगभग की है मध्यकालीन भारतीय भाषा के लिखित प्रमाणों से पूर्व की सम्राट् चन्द्रगुप्त का नाम इस रूप में प्रदान करती है सन्द्रकोत्तोस्।

तो दोनों स्पर्श ध्वनियों के संबंध में यह तथ्य सर्वव्यापी और प्राचीन है जब समुदाय में केवल वास्तविक स्पर्श ध्वनि आती है, तो अन्य तत्त्व के खिन्-ध्वनि या स्वनंत होने के कारण चीजें बड़े पुरुष रूप में सामने आती हैं।

१ खिन्-ध्वनि—ईरानी में स् अपने को आदि में और स्वर-मध्यग में ही विवृत नहीं करता वरन् स्वनंत हो जाता है (अ० अहूमि पु० फ्रा० अमिय् सं० अस्मि, अ० हजङ्रम् फ्रा० हजार् सं० सहस्रम्) किन्तु यह स्पर्श ध्वनि पु० फ्रा० अस्तिय्, फ्रा० अस्त् (अस्ति), अ० पस्कात् पस्त (पश्चात्), और साथ ही घोष ज ध्वनि एषि मज्गॅम् फ्रा० मग्ज(मज्जा) मस्नास्(-अज्न से तुल० नवृमो) और षकार ध्वनियों वहिश्त फ्रा० बिहिश्त (वसिष्ठ-) अश्त फ्रा० हश्त (अष्टा) मीढ्वस्-फ्रा० मुज्द (मीढ्ह) से पूर्व रहता है।

संस्कृत में स् कठोर है, यहां तक कि यदि आकृति-विचार-शास्त्र की दृष्टि से सहायता प्राप्त हो तो वह असाधारण रूप में स्पर्श हो सकता है अथर्व० अवात्सी जो वस् से है माद्भिः, उपद्भिः जो मास् उपस्- से है। मध्यकालीन भारतीय भाषा में

आदि और स्वर-मध्यग स् बने रहते हैं और इसी प्रकार सामान्यतः आधुनिक भारतीय भाषाओं मे। किन्तु स्पर्श ध्वनियों के साथ मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका प्रयोग समान नहीं है।

पाली और क्लैसीकल प्राकृत में छिन्-ध्वनि का ठीक-ठीक उच्चारण लुप्त हो जाता है जैसा कि दो व्यंजनों के समुदाय में दुर्बल व्यंजन अथवा स्पर्श के साथ का स्वगत वह केवल फुसफुसाहट वाली ध्वनि रह जाती है, जो जैसा कि महाप्राण ध्वनियों से पूर्व भाषा में स्वाभाविक है स्पर्श ध्वनि के बाद आती है, ठीक वैसे ही यदि मूल छिन्-ध्वनि उच्चरित स्पर्श ध्वनि से पहले आती फलतः मुक्क-(शुष्क-) जो पक्ख (पक्ष) की भाँति है हत्थ (हस्त) अट्ठ (अष्ट) बप्फ- (बाष्प) जो घस- या छर- (त्सरु-) अच्छरा (अप्सरस्-) और प्रागैतिहासिक दृष्टि से भी प्रत्यय -छ- अर्थात् जो *स्के- से है, की भाँति है।

अशोक॰ में हर जगह प(च्)छा (पश्चात्) मिलता है और उदाहरणार्थ प(क्)खि (पक्षिन्) जो प्रमुख है किन्तु स् का प्रयोग सर्वत्र एक-सा नहीं है। गिरनार और शहबाजगढ़ी में पाली की भाँति संमुखि(ए)त (-क्षिप्) है किन्तु क्षम् (क्षम् पाली खम् पाली मे विशेष्य क्षमा भी है जो विकृत रूप में सामान्य है) और छण् (क्षण् पाली खण्) गिरनार में छु(द्)रक-(क्षुद्र) है किन्तु शहबाजगढ़ी मे खुद्र और कालसी में खु(द्)द है अंत में कालसी में छम् है, किन्तु खम् भी।

स्त् वर्ग (और स्थ् जिसमें योग उपस्थित होना स्वाभाविक है) में शहबाजगढ़ी और गिरनार में *अस्ति नास्ति हस्ति समस्तम* (और गिरनार *विस्तत* सह॰ विस्थित)की दृष्टि से साम्य है, जो कालसी के अ(त्)थि न(त्)थि ह(त्)थि समुतुथ विठ्ठ- के विरुद्ध है उससे शह का ग्रह(त्)थ है जो गिरनार घरस्त (तुल॰ सं॰ गृहस्थ) के विपरीत कालसी गह(त्)थ के साथ जाता है पूर्वी प्रभाव के अंतर्गत प्रतीत होता है किन्तु *गिरनार थैर* (स्थविर) अथवा इ(त्)थी (स्त्री) जो कालसी के समान है और फिर शहबाजगढ़ी मे इसी और स्त्रियक के बारे में क्या कहा जाय? दूसरी ओर, घरस्त जिसमें पहले महाप्राण द्वारा दूसरे महाप्राण का विपमीकरण कठिनाई से स्वीकार किया जा सकता है इस बात का सन्देह उत्पन्न करता है कि स्त् अनुमेयतन फुसफुसाहट वाली ध्वनि प्रकट करने के लिये यथेष्ट है फलतः उच्चारण की अनुमेयन-पद्धति देर से हुई। इस सन्देह की पुष्टि मूर्धन्य समुदायों की तुलना से होती है जिसमें गिरनार में सेस्ट (श्रेष्ठ-) तिस्टमुतो तिस्टेय (तिष्ठ्-) अधिस्टाम (अधिष्ठान) और स्टित-(स्थित) में महाप्राणत्व-विहीन है देखिए उस्टाम (तुल॰ सं॰

उत्था) जो शह० से (ट)ठ काफ़्री से (ट्)ठ शह० ति(त्)थे शह० थिर(त्) थितिक-, पौलि चित्त(ट्)ठितीक- के विरुद्ध पूर्ववर्ती रूपों (तुल० प्रा० ठाइ और मारि ट्- के समस्त आधुनिक रूप) के प्रभावान्तर्गत है। इस रूप में या अन्य रूप में यह स्वीकार करना आवश्यक है कि पश्चिमी बोलियाँ अधिक रूढ़ि-प्रिय थीं।

यदि अशोक ने प्राचीन ठीक उत्तर-पश्चिम में शिन्-ध्वनियों (य् से पहले या स्वयं संबंध० एक० -अस्स किन्तु भविष्य० इस्सति) का भेद बनाये रखा तो यह कोई संयोग नहीं है, और न यह कोई संयोग है यदि स्वयं गिरनार में ष् का स्वर लोप हो जाने से अनुसरित (मिकेल्सन जे० ए० ओ० एस० XXXI, २३७) के मूर्धन्य की समस्या हल हो जाती है और ओमुड का भी ष् लुप्त हो जाता है। उत्तर-पश्चिम सीमा की बोलियाँ आज भी बनी हुई हैं और शिन्-ध्वनि का और सकार-ध्वनि का भेद बना हुआ है, और समुदाय में शिन्-ध्वनि के थोड़े-बहुत स्पष्ट चिह्न सुरक्षित हैं सं० शुष्क (पा० प्रा सुक्ख हिं० सूखा सिंहली सिकु) के प्रतिनिधि हैं कश० हीशु शिना शुकु जिप्सी-भाषा शुको किन्तु अश्कुन शास् संभवत स० बस है। दन्त्य या मूर्धन्य से पहले मिलता है शिना हस् कश० अथ किन्तु जिप्सी-भाषा वस्त् खोवार होस्त, पशाई हास्त, हाथ् (हस्त) और कश० हसु (हस्तिन्) कश० अँठ किन्तु खोवार ओश्ट्, पशाई अस्त् शिना अष् (अष्ट) शिना पिट्, कश० पेठ् रूसी पृटि किन्तु जिप्सी भाषा पिश्त अश्कुन प्रिष्टि कलाश पिश्टो (पृष्ठ-) शिन्-ध्वनि शिना बष् अश्कुन बस् (बाष्प) में स्पष्टत ओष्ठ्य पर छायी हुई है कश० बस् (बृहस्पति) कश० पोश्, कश्ठी पिश् (पुष्प) यह प्रयोग ह० दुगु० में तो मिलता ही है पुप तुक पोपपुरिम पेशावर का रहने वाला—जो अर (Ara) के अभिलेख में है। क्-रूप से पहले भी ऐसा ही मिलता है कश० मास्करी से बों सि।

२ स्वनंत—स्पर्श ध्वनि और स्वनत के संपर्क से जो समस्या उत्पन्न होती है उसका समाधान दो प्रकार से हो सकता है। या तो स्वनत के घोष कंपनों के एक अंश से स्वर-तत्त्व अपने को मुक्त कर लेता है जो थोड़ा-बहुत अज्ञात होता है और एक नया स्वर प्रदान करने की शक्ति रखता है या जैसा कि दो स्पर्श ध्वनियों के संबंध में देखा जाता है, उनमें समीकरण उत्पन्न हो जाता है व्यंजन का उच्चारण या तो सुरक्षित रहता है या उसे अनुकूल बना लिया जाता है उदाहरणार्थ त्व्>त्त, त्र त्म्>त्त, प्पु त्र>त्त ट्ट।

पहली रीति संस्कृत की नवीनता नहीं है। भारोपीय में ही व्यंजन के बाद आने वाला स्वनंत व्यंजन-पक्ष के अंतर्गत स्वनंत से संबंधित स्वर-तत्त्व द्वारा प्रतिनिधित्व

प्राप्त करता है सं० पुर्द प्री० परोस् प्(इ)या प्री० प्रियौंस्, संबंध० पुमुर्ष प्री० ओप्तुमोस्। भारत-ईरानी में य् और व् वाले विविध रूप मिलते हैं, वैदिक में तो विशेष रूप से बहुत हैं और यदि अनुलेखन-पद्धति की अपेक्षा छंद की दृष्टि से गणना की जाय तो।

पु० फ्रा० मर्तिय अ० मर्स्य विभक्त्यात्मक सं० मर्त्(इ)य- है, किन्तु पु० फ्रा० हर्तिय (जिसमें र् त्य् के साथ सम्पर्क प्रमाणित करता है) अ हैथ्य सं० सत्य- है, प्रस्तुत उदाहरण की भाँति अनेक उदाहरणों में पुनर्विभाजन समुदाय से पूर्व आने वाले अक्षराघ के गुरुत्व पर निर्भर रहता है उदाहरणार्थ यह प्रवृत्ति य्(इ)य प्रत्यय के दो रूपों के संबंध में दृष्टिगोचर होती है। शेष स्वयं वैदिक में जिसमें स्वतंत्रता सबसे अधिक ग्रहण की गयी है, वह सीमित है -त्व (१ उदाहरण को छोड़ कर) में संबंध० एक० के प्रत्यय में -त्या में अन्त होने वाले क्रियामूलक विशेष्य में भी सबसे अधिक अंत्य (अ० अस्य-) चत्वार (अ० चथ्वारो) स्वप्न नपुं० (अ हख्येनो हृस्वतात्मक) स्वप्न (अ० ख़्वफ्न) की भाँति अलग-अलग शब्दों के समुदायों में पृथक्करण कभी नहीं हुआ। और मध्यकालीन भारतीय भाषा इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि प्रत्ययों में स्वरों का अस्तित्व संभव है अशोक० चौकि क(इ)तविय जो जिना क(इ)त(इ)व के विरुद्ध पड़ता है, तुल० पाली कत्तब्ब [गिरनार में तो वही प्राचीन समुदाय मिलता है क(इ)तव्य] कर्मवाच्य जिसका पाली प्रकार है पुच्छ्-इयति तुल० सं० पृच्छ्यते रूप स्पष्टतः सुरक्षित रखने की इस स्वतंत्रता का एक प्रयोग है जो उसी प्रकार है जिस प्रकार वैदिक स्तुष्-अमिति स्फुट शब्दों में सामान्य नियम समीकरण का है अशोक० और पा सच्च (सत्य), अशोक० कालसी च(इ)तालि (किन्तु मुखरता के समीकरण सहित गिरनार चतुपारो अन्तस्थ ष्क् का तुरंत स्पर्श हो जाने से किन्तु उच्चारण का सादृश्य नहीं होता) पा० चत्तारि यही बात पा० चजति (त्यज्) के आदि के संबंध में है जिया स्त्रियो की गणना ज्या ज्य के अनुरूप वैदिक शब्दों की भाँति की जाती है ऐसा ही अन्य भाषाओं से निकले आधुनिक शब्दों में मिलता है (उदाहरणार्थ नेपाली जिउरि, हिओ) जो निस्संदेह मध्यवर्ती के अभाव ही स्पष्टता के कारण संभव हो सका है।

स्वगत के अन्य उदाहरणों में वैदिक और मध्यकालीन भारतीय छन्द यह प्रकट करते हैं कि आगम इतना अधिक होता था कि लिखते समय उसका प्रयोग होता ही नहीं। ईरानी में पु० फ्रा० दुवम [सं० ध्रुव अ० द्(उ)व] जैसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। किन्तु र् से संबंधित असंख्य उदाहरण वेद में मिलते हैं इन्द्(अ)र, पित् रौं, साथ ही प्(अ)रक पित्-ध्वनि से पूर्व दर्-शत अनुनासिक सहित अमृ्त । इससे यह स्पष्ट

हो जाता है कि प्री० एस्रोस् का प्रतिरूप अथर्व० रुधिर हो सकता है तथा आदि स्वर का मात्रा-काल पुरुष तुल० पा० पुरिस पास में परिवर्तनीय हो सकता है प्राचीन रूप पुरो इटैलिक *परूसो- सं० परि-सिच के अनुरूप है -उस- -उरि वाले रूप उसी प्रणाली पर आधारित हैं और पितृरो के आश्रित पितृरों जैसे शब्दों का प्राचीन 'गुरुत्व' बनाये रहते हैं। स्वरों के वितरण में इस स्वतन्त्रता ने वल्गु और वग्नत जो अनिमग् के निकट है, कृणुमसि भी जो कृणुमसि के निकट है विकरण के निर्माण की सफलता संबंधी एक कोड़ कर एक के बाद रहने वाली लय की प्रवृत्ति को विपर्यस्त रूप में उत्पन्न होने में सहायता पहुँचाई है।

क्लैसीकल संस्कृत में ऱ् वाले उदाहरण बहुत कम हैं, यदि कम-से-कम कोषों द्वारा प्रदत्त चाचिर जैसे उदाहरणों की गणना न की जाय अथर्व० का रुधिर से वा० रहुर (वै० दह) महाकाव्य मनोरथ (*मनो-रूथ-) अचिर (अञ्ज) और मिलते हैं। किन्तु प्रवृत्ति सबल रही है और वारह से लिये गये शब्दों में यह अब भी दृष्टिगोचर होती है।

स्मन् के विरुद्ध पाली में तुम्हे तुमस्स हैं जो सिंहली तुमह (Ep. Zeyl. I, पृ० ७३) और भिन्ना तोमुं द्वारा विवर्जित हो जाते हैं जब कि जिप्सी-भाषा पेस मारमन् की प्रचलित ध्वनि के साथ साम्य रखता है प्रा० अप्प हि० आप् आदि। सं० प्राप्नोति का प्रतिनिधि गिरनार में प्रापुनाति पाली में पापुणाति हु० दुनु० संभावक प्रकार (वाग्दर्भ०) में पमुनि (*पामुने) है इन रूपों की पुष्टि ने० आदि के पाव् मु० पाम् सिंहली पुवम् द्वारा होती है पाली पप्पोति का कोई रूप शेष नहीं है।

संस्कृत राज्ञा का संबंध० राज्ञ है, किन्तु पाली में राजिना अशोक० में ऱ्(ञ) भिने भाजिने हैं प्राकृत में णा और अशोक० गिर० शह० रञ्जो प्रा० रण्णा के निकट रहस्यो हैं वास्तव में संज्ञा-रूप विकरण-युक्त कम हो जाने के कारण उसमें बिल्कुल नहीं रह जाता केवल नेपाली आदि के राणि में इसी राज्ञी का रूप शेष है।

व्यंजन समुदायों का समीकरण एकरूप नहीं हो जाता, तुल० ग्री० सन्त्रोतोस् जिसका पहले उल्लेख हो चुका है जिसमें द्वितीय समुदाय पर, और अशोक० की पश्चिमी लेखन प्रणाली पर प्रथम समुदाय बाद का है। किन्तु यह बहुत पहले ही छमा था कम-से-कम ऱ् वाले समुदायों से उसका अनुमान लगाया जा सकता है जिनमें अत्यन्त प्राचीन वैयाकरणों ने स्पर्श का सापेक्षिक महत्त्व देखा है पुरुर् छंद में स्वीकृत स्थायी उच्चारण है पाणिनि ने उसे वैकल्पिक माना है, किन्तु हीन प्रयोग में यह असंभव है प्रथम शब्दांश कवल बौद्ध संस्कृत में नियमित रूप से ह्रस्व मिलता है, तत्पश्चात् एक ऐसे युग में जब कि समुदाय वास्तव में कठिनाई से मिलता है।

सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक परिस्थिति में स्पर्श ध्वनि प्रधान रहती है सर्प

से पा॰ सप्प उद्र से उद्द नाम(न्)र से मम्म मुक्त-और मुक- से मुक्क- राष्ट्र से रट्ठ- भक्य से सक्क उच्यते के लिए वुच्चति अमृवन् से अब्रु मग्न से मग्ग आदि। किन्तु इस स्पर्श ध्वनि का उच्चारण स्वगत के साथ अनुकूलता प्राप्त कर सकता है इस प्रकार पा॰ सच्च (सत्य) मज्ज (मद्य) में दन्त्य ध्वनियाँ तालव्य हो जाती है।

ये अनुकूलताएँ समान रूप से नहीं मिलतीं।

दन्त्य+व् वाले समुदाय से दन्त्य या ओष्ठ्य मिलता है, जो उदासीन नहीं व नियमित रूप में होता है। गिरनार के अशोक-अभिलेखों में क्रिया-मूलक विशेष्य के रूप -त्पा (-त्वा) चत्पारो (चत्वार) द्वादस (द्वादश) में मिलते हैं और कालसी में च(त्)तालि (चत्वारि) मिलता है और दुवाडस सुरक्षित मिलता है। पाली में चत्तारो है और कर्म तम् (त्वम्) है किन्तु बारस भी है और दूसरी ओर क्रियामूलक विशेष्य के रूप में द्(त)वे और -त्वा रूप सुरक्षित मिलते हैं उसमें दुवार भी उस समय मिलता है जब कि टोलेमी ने नगर का नाम बरके (द्वारका) दिया है किन्तु उसमें दीप-(द्वीप)मिलता है जो अशोक॰ (जंबुदीप) टोलेमी (इअबदिओउ) और प्राकृत के साथ साम्य रखता है। इस अंतिम शब्द में ओष्ठ्य के अस्तित्व ने निस्संदेह उसके प्रति अनुकूलता प्रकट की है किन्तु अन्य प्रयोग कम-से-कम अस्थायी रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते। उदाहरणार्थ सं॰ ऊर्ध्व के लिये पाली में उद्ध है जो वर्गीकृत प्राकृत की ओर भी झुका हुआ प्रतीत होता है तुल असामी ऊब जैन प्राकृत में उब्भ (तुल॰ पा॰ उब्भ-ट्ठक-) है जिसकी पुष्टि म उभा सिं उभौ पं॰ उभ्, बंगाली उबि द्वारा होती है साथ ही उसमें उद्ध भी है जिसकी पुष्टि सिंहली उदु से और संभवत: सिंहल से बहुत दूर, पशई उद्धे कश॰ ब्रोंद् से होती है। प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास है इतिहास जिस पर प्रकाश नहीं पड़ा प्रमुख बात यह है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्रारंभ में ही विविधता मिलने लगती है।

त्+म् के लिये पाली में आश्चर्यजनक रूप में अत्त है और साथ ही अशोक में पूर्व और उत्तर में है किन्तु गिरनार में आत्प है, जो उस विकास का प्रथम चिह्न है जो प्रा आप्प रूप धारण कर लेता है जो महाराष्ट्री में अत्यधिक प्रचलित है और जो नाटक में पहले रूप के साथ परिवर्तनीय है अप्पा विशेषत: कर्ता॰ है किन्तु बंगाली में आपन् है जो विकृत रूप पर आधारित है और आप् रूप लगभग सर्व-प्रचलित है (सिंहली बद् को छोड़ कर उत्तर-पश्चिम में तन् वाले रूपों का मूल ईरानी है दिवा तोमुर्दे)। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रत्यय-त्व -त्वन ॥ -प्प प्पन (हिन्दी -पा -पन् आदि) रूप बराबर पहले ही से केवल गिरनार (महत्पा) में

मिलते हैं और पाली की भाँति प्राकृत भी केवल -त्त, -त्तम स्वीकार करती है, यहाँ सामान्यतः उधार लिये जाने का संदेह किया जा सकता है।

दन्त्य + र् के समुदाय के लिये पुनर्विभाजन उल्टा भौगोलिक दृष्टि से है। अशोक के अभिलेखों में 'तीन' के लिये शहबाजगढ़ी में त्रयो है गिरनार में भी तेरह Mans. में त्रेदश है, गिरनार में तैरस किन्तु इसके अतिरिक्त तिस्नि तेरस रूप मिलते हैं जिनके साथ पाली तयो तीणि तेरस का साम्य है साथ ही मिलते हैं शह० और गिर० पराक्रम्- [गिर० में परा(क)क्रम् भी] जो कालसी आदि के पल(क)कम से भिन्न है शह० अत्र किन्तु गिर० अ(त्र)ग । अथवा पश्चिमी बोलियों में र् वाले समुदाय थोड़े-बहुत सुरक्षित हैं कश्मीरी गृट्‍शाम् अशुन म्याम् जिससे मैथी ग्राम् (ग्रामा) निकला है कश्मीरी दृट्‍शें पित्र् पशाई काई(भ्राता) कश्मीरी पुत्र पशाई पुत्से सिना पूर्ट (पुत्र), अस्कुन त्राप्, खोवार ग्रोश, सिना जच (द्राक्षा) खोवार ग्रोसुम् (ग्री० ईशिम) है जो हि० घाम् से भिन्न है। सिन्धी भाषा में केवल दन्त्य और ओष्ठ्य वाले (समुदाय) संयुक्त रूप हैं भ्रुउ (भाई) त्रिन् (रख जो *त्रय् का अंतिम रूप है और रायी से है) त्रिन्द्र (हि० नींद् सं० निद्रा) ड्रम् किन्तु गव्। सिंधी में मूर्धन्य हुए केवल दन्त्य संयुक्त हैं ट्रे (तीन) पुट्ठ ड्राख् ड्रिग्रद्रु किन्तु चम्रद्(चक्र-) अमि (अग्र-) भाई आदि।

अन्य र् जो पूर्ववर्ती व्यंजन को द्वित्वयुक्त व्यंजन की भाँति बना देने में सहायक होता है अपने को पूर्ववर्ती व्यंजन के साथ मिला लेने की संभावना प्रकट करता है दीर्घ >*गीर्घ कश्मीरी दृग्‍हर्, सि० ड्रिघो(न कि *ड्रिहो) कलाश ड्रिग घिना डिगु ताम्र क्श० ताम्‌ सि० ट्रामो पु० गुज० त्राँबु तुल० कश्मीरी में ही चूम (ढंब)।

यदि दूसरी ओर व्यंजन से पूर्व र् की समस्या पर विचार किया जाय, तो यह ज्ञात हो जायगा कि एक ही क्षेत्र में र् आदि व्यंजन के साथ भी सम्बद्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है किन्तु ऐसा बहुत कम होता है कलाश द्रोन् ग्रोम् तुल० सिना ग्रोम् पशाई ग्राम् इसी प्रकार अशोक० में अनुम ध्रु(व)व ध्रम मिलते हैं किन्तु कीर्ति के लिये किट्ठि वर्ग के लिये वग प्रकारों के अस्तित्व से निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने में रुकावट पड़ती है।

इन दुर्लभ किन्तु भली भाँति स्थानीय बातों को अलग रख देने पर, मध्यकालीन भारतीय भाषा और नव्य भारतीय भाषाओं में अब भी र् दन्त्य की संभावना रह जाती है वास्तव में परिणाम होता है कभी दन्त्य कभी मूर्धन्य।

अशोक के अभिलेखों में ऐसा प्रतीत होता है कि गिरनार वाले अभिलेख की

प्रवृत्ति दन्त्य की ओर है [अ(त्)थ अनुप(त्)त् क(त)त(न्)न प(द्)प्-की(त्)ति] और पूर्वी अभिलेखों की प्रकृति मूर्धन्य की ओर है [कि(ट्)टी अड्ड विय(ड्)ड] किन्तु धौलि में अ(त्)थ क(ट्)टविय- और क(त्)तविय मिलते हैं कालसी अनुवट् और अनुवत् उत्तर-पश्चिम में अथ अठ चिह्न मिलते हैं, किन्तु किट्रि भी मिलता है और अन्त में शह० अनुवत् ।

अस्तु, न तो एकता से न बोली द्वारा और न शब्द द्वारा निश्चित निष्कर्ष निकलता है। इसी प्रकार पाली में चक्कवत्ती है, जैन प्राकृत में चक्कवट्टी। पाली में अत्थ बहुत आता है किन्तु अट्ठ भी प्रचलित है विशेषतः सामासिक रूपों में दोनों समीपवर्ती रूप एक संवाद में मिलते हैं, दूसरा प्रश्न में पहला स्वामी को दिये गये उत्तर में इसके विपरीत अड्ड की अपेक्षा अद्ध कम मिलता है, संभवतः संस्कृत से निकले वर्धा अद्धा और अधृष्ण् के कारण उसका प्रयोग कम होता गया हो। पाली में क्रियामूलक रूपों में सर्वत्र किति वत्त् कत्तब्ब और वट्टम् मिलते हैं किन्तु साथ ही वड्ढ और वुड्ढ- वड्ढि वुड्ढि और वुद्धि को बहुत कम प्रयुक्त हुआ है दूसरी ओर वड्ढकि-(वर्धक-) है अन्त में वड्ढ सं० वर्ध यह संभवतः आदि र् के कारण निरोधात्मक विषमीकरण के फलस्वरूप उसका दन्त्य रूप होना चाहिए। तो दोनों प्रयोग प्राचीन हैं आधुनिक विभाजन दुरूह है और शब्दावली पर निर्भर है, केवल सिंधी को छोड़ कर, जिसमें भी टर्नर के मतानुसार, केवल र् +थ् से मूर्धन्य होता है, र्+त् ध, थ् से दन्त्य। उनसे मिले शब्द के लिये प्रत्येक भाषा में समानता नहीं मिलती ; मर्दन के लिये मराठी में माडण् तथा मळणं है, और सिंहली में मडिनु तथा मदुनु है।

इसी प्रकार अनुनासिक के बाद आने वाली स्पर्श ध्वनि के भी अनेक प्रयोग हैं। यदि अत्यधिक देखेगये तथ्यों पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि विभाजन भौगोलिक आधार लिये हुए है। उ० पूर्व की बोली में विशेषतः अधिक अनुनासिकता ने (तुल० पमुणि पा० पापुणे सं० प्राप्नुयात् ममो पा णाणम् बदमयो सं पद मन्त ण् के अनुनासिक रूप से ऐसा हुआ है तुल विपर्यस्त अनुलेखन-पद्धति पुफिप सं पुष्पम् इव) एक तो अनुनासिक के बाद आने वाले कठोर को मृदुत्व प्रदान करने में प्रोत्साहन दिया पग (पङ्क) पब(पम्प) सबस (सम्पस)प्रबसदि(-पंसन्ति) दे० इसके बाद इसकी पुष्टि एक पुरुषवाचक नाम द्वारा होती है प्री० कम्बगार टोलेमी (कम्पाक-)।

दूसरी ओर उसने घोष स्पर्श ध्वनि को (कंठ्य ध्वनियों कोछोड़ कर) आर मसात् कर लेने के लिये प्रोत्साहन दिया है तुमदि (तुम्ब्) उदुमर (उदुम्बर) अम्हन- (अम्बन) गमहिर (गम्भीर) पमित (पम्बित) ।

ये दोनों विशेषताएँ आज सिंधी, लहंदा और पंजाबी में अविरल रूप में और दर्द तथा जिप्सी-भाषा में स्फुट रूप में मिलती हैं

१ अनुनासिक + अघोष

सि० पञ्जाह (पञ्चाशत्) जो हि० पचास् से भिन्न है कर० पञ्चाह्, किन्तु पञ्चह

सि० कञ्चा सि० कञ्झो कर० कोञ्छ्^ट, यूरोपीय जिप्सी-भाषा कञ्रो नूरी कञ्च् मै० काँडो यह विकास शिना कोर्ण् (कष्ट) तक में चलता है

सि० पञ्जु, पं० पञ्ज्, नूरी पञ्ज् शिना पोन्ँ पशाई कोवार पन् (पञ्चम्)

पं० ने० हिउन्द् कर० वन्द, यूरोपीय जिप्सी-भाषा इवेन्, पशाई येमन्द् शिना योनँ कोवार योमुन् (हेमन्त),

३ बहु० के प्रत्यय सि -अनि पं० -अण् नूरी -अन्द्, यूरोपीय जिप्सी-भाषा -एन् (-आन्ति),

सि० पं० कम्न्, ने० काम् कर० कम (कम्न्),

सि० सङ्गर, पं० सङ्गल ने० सांगलो तथा साङ्लो शिना शाङाळ्ई किन्तु कर० हौन्द् मु-म० सांकळ (शृंखला)

सि० बम्भु, पं० बम्भ् (वंश), सि० हुम्बु, पं० बम्भ् (भग्नु) सि० कञ्ज् (ह्)ओ (कांस्य) सि० हुम्बु, कर० उम्ब्^ट, स्ती० लम्बिस् (हंस)।

२ अनुनासिक + घोष

सि० कामो पं काम्रा कर० काम् शिना कोन् (काण्ड)

सि० पं० कर० घुम् (घुम्र) सिंहली को छोड़ कर स्पर्श ध्वनि इस शब्द में हर जगह अपना लोप कर देती है

पं० बन्ह्, कर० बाँग्^ट शिना बुर्लोम् नूरी -बनि (बन्ध्) कूनू बान् जिसमें 'बाँध' का अर्थ फ़ारसी में बन्द् हो जाता है और जिससे यह प्रकट होता है कि यह प्रवृत्ति सदैव रहती है।

तो भी यह सोचना गलत होगा कि यह प्रवृत्ति पश्चिमी भूमि-भाग में ही मिलती है। मालवा (वह भूमिभाग जिसमें गौणार्थीय के स्थान पर मोनार्थीय रूप मिलता है) के निवासी वैयाकरण पतञ्जलि (ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी) के नाम को अति प्राचीन और स्पष्टत महत्त्वपूर्ण नाम पतञ्चल से अलग करना कठिन है (मिडीलुस्की बी एस० एल० XXXIII, पृ० ९१) स्वयं पतञ्जलि ने, इसे स्थानीय कारण के अंतर्गत न मान कर, मञ्चक (मंच) के स्थान पर अशुद्ध उच्चारण मञ्जक- की ओर संकेत

लिखावट में अब भी दुहरा व्यंजन मिलता है और कविता में अव्व् (अव) की दीर्घ गणना सुरक्षित है। कच्छ की सिंधी और भड़ौंच की गुजराती में, पूर्वी राजस्थानी में बोलचाल की हिन्दुस्तानी और सामान्यतः गंगा की घाटी की सभी ग्रामीण बोलियों में पुनरावृत्त रूप मिलते हैं, किन्तु ये सरल रूप में भी मिल सकते हैं, और साहित्यिक भाषाओं में ये ही सरल रूप प्रचलित हैं। हि० भूखा खेतों में होता किन्तु स्थानीय बोलियों में भुक्खा (बुभुक्षित) खेत्तो (क्षेत्र), होत्ता (पा० भवन्तो)। मराठी में यह सरल रूप सामान्यतः मिलता है। अन्त में सिंहली में जिस प्रकार सभी स्वर ह्रस्व हैं उसी प्रकार सभी व्यंजन सरल हैं (पीछे शब्द-रूपों को छोड़ कर)।

निष्कर्ष यह है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से पुनरावृत्त रूपों का सरलीकरण हो जाता है, और यह भी एक अनुकूल परिस्थिति में अर्थात् दीर्घ स्वर के बाद। यही चीज है जो अशोक के भविष्य० के प्रत्ययों में धिन्-ध्वनि की विकृति प्रमाणित करती प्रतीत होती है। साथ ही तुल० पा० कहापण (कार्षापण-) आदि स्वर का ह्रस्वीकरण एक दीर्घ शब्द में और इसके आसपास अपनी स्थिति सरलतापूर्वक स्पष्ट कर देता है।

जैन प्राकृत में समवायगत रूप म् दीर्घ स्वर के पश्चात् ए की भाँति ही परिवर्तित हो जाता है, जाम- (याम) गोय (गोम) खेय (क्षेम) जाया (यामा) पाई (पानी)। यह अन्तिम रूप अकेलीकृत मराठी में मिलता है (क्या राहणी सं० रयणी हि० रैन् के प्रभावान्तर्गत?)। आज भी बंगाली में मा(म्) या के प्रमाण मिलते हैं सिंहली में दूसरी 'रात' म् "मून" इ "माया" (मून सून-) है।

अकेलीकृत प्राकृत में दीह् जो *दीघ से जो स्वयं बाद को *दीग्घ- (दीर्घ) से निकला है जैसे सीस *सीस्स- (शीर्ष) से और पास *पास्स- (पार्श्व) से। सं० वेष्ट् से पाली में वेद् है ही जिससे सौर० वेढ् जिससे अन्ततः म० वेढ् बंगाली वेड़, ने० बेह आदि निकले हैं इसी प्रकार मे० कोर् जो कुष्ठ- से है, बराठ जो काष्ठमातृका से है।

इन लगभग अपवादों में पुनरावृत्त रूप जो स्वयं सरल हो गये हैं, विशेष व्यंजन हैं। यह देखा जा चुका है कि इसके विपरीत अन्त्य और स्वर-मध्यग नष्ट हो जाते हैं अथवा कम-से-कम दुर्बल पड़ जाते हैं। इससे मध्यकालीन भारतीय शब्द की विशेषता निर्धारित होती है जिसमें केवल आदि या पुनरावृत्त रूप में विशेष व्यंजन रहते हैं, जो किसी अन्य स्थिति में नहीं रहते और जिनमें विकृति प्राप्त रहती है। बहुत बाद को स्वरीय अन्त्य के लोप, पुनरावृत्त रूपों के सरलीकरण और विकृति के न्यूनीकरण ने भारतीय-आर्य भाषा को एक सामान्य रूप-रेखा प्रदान की है, किन्तु जिसमें व्यंजनों का समुदायग्रस्त रूप कठिन हो जाता है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की व्यंजन-प्रणाली की प्रमुख विशेषता है आदि, आश्रित और पुनरावृत्त स्पर्श-ध्वनियों में निरन्तर विरोध और स्वरों के बीच में सोष्म ध्वनियों का थोड़ा-बहुत बना रहना। अघोष दन्त्य ध्वनियों के लिये है

सिं०- अस्त पुत- (पुत्र) मुत (भुक्त), सौर० मेहुण (मैथुन) आदि संक्षिप्त रूप में कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियों के लिये।

एक विचित्र बात सिन्धी दन्त्य ध्वनियों से संबंधित है (जिसमें विशेष ध्वनियों के साथ सामान्यत: काकलीय आघात रहता है) उसमें मूर्धन्य दन्त्य का विशेष रूप है जहाँ (दधि) डह्[उ] (डम्भ) जो वूम् की भाँति है, हड्[उ] (प्रा० हड्डि) ड् केवल अनुनासिक के साथ आता है तन्ड्[उ] (तन्तु)। जैसा कि देखा जा चुका है, ण् दुर्बल रूप है न् का ड् कहीं कहीं है (सिंहली मराठी गुजराती राजस्थानी पंजाबी उड़िया) ड़ का दुर्बल रूप है कई भाषाओं में विविध रूपों ड् और ड़् का भेद पाया जाता है (गैटर, फ़ेस्टश्रिफ्ट याकोबी पृ० ३४)।

यह प्रणाली स्पर्श ध्वनियों के लिये भी लागू होती है (उदा० ण् का वर्ण, सिंहली और गुजराती में ण् एक दुर्बल रूप है) और यह दो अर्थों में वास्तव में ण् का दुर्बल पक्ष ड़, ण् का विशेष पक्ष ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करता है पाली से आये मध्यवर्ती पुनरावृत्त रूपों में यही बात पायी जाती है कट्टब्ब (कर्तव्य) जो बम्म (वर्म) से भिन्न है सिंधी में अभी यह वाघ्[उ] (व्याघ्र) बोली में है, किन्तु चड्ड्[उ] (चर्म-) कट्य्[उ] (कर्तव्य) भी है लगभग पूरे हिन्दी समुदाय पूर्वी समुदाय दर्द के थोड़े से भाग (खोवार, शिना कलाश तीराही) और यूरोपीय जिप्सी-भाषा में एक साथ आदि ब् है व् तो उनमें केवल स्वरों के बीच आता है (सिंहली मराठी पंजाबी कश्मीरी काफ़िर और एशियाई जिप्सी भाषा में अकारण सर्वत्र व् सुरक्षित है)।

यही बात य् के दुर्बल रूप य् के संबंध में है सिन्धी कश्मीरी और सिंहली आदि ही उनका भेद उपस्थित करती है, जब कि सामान्यत: य् "सबल" की ज् से गड़बड़ हो जाती है सिं० जो कश्० यु सिंहली य (सं० य), किन्तु सिं० अब्[उ] कश्० अद् सिंहली अद (प्रा० अज्ज सं० अद्य) की भाँति सिं० जिभ्[भ], कश्० जव्, सिंहली दिव (जिह्वा)।

जिह्-ध्वनि के लिये पीछे देखिए।

४ पुनरावृत्त रूप

यह देखा जा चुका है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में और तत्पश्चात् आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्राचीन समुदायगत रूपों से निकले अथवा तदनुरूप पुनरावृत्त रूप भरे पड़े हैं उदाह० पाली म समास के द्वितीय शब्द क आदि व्यंजन का पुनरावृत्त रूप हो जाता है पटि-क्कूल- सं० प्रति-कूल- पटि-क्कमति सं० प्रति-क्रामति हिन्दी में जैसे मट्टी और माटी मक्खन् और माखन हैं वैसे ही मीरी और मिर्री "दैव का प्रथम स्थान" जो मीर (अरबी अमीर) से है, अड्डक "पाठ" (अरबी अबक "श्वास") है। मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रत्ययांत का आदि पुनरावृत्त रूप धारण कर लेता है जो उसके बिना साधारण स्वर-मध्यग में परिवर्तित हो जाने की गुंजायश रखता है प्रा० त्ति (इति) व्व (इव) च्चेय (चैव) तुल० म० -चि किन्तु सि० -च् "वही" इसी प्रकार इपसरात्मक सं० ह् (१) म जैसे सहायक शब्द के स्वनत के बारे में है जिसका लोप हो जाता स्वयं शब्द को संकट में डाल देता है पा० हिम्मो, हैसी हिम्मो यूरोपियन जिप्सी-भाषा हम् (यह शब्द सब जगह नहीं बना रहा) आदि।

अंत में एक ऐसा ही किन्तु अधिक महत्वपूर्ण उदाहरण उस दुहरे रूप का है जो कम-से-कम विद्वत्तापूर्ण शब्दों में स्पष्ट है (प्रा० सवेर्म्म आदि) जो उसस उत्पन्न होने वाले व्यंजनों के ह्रास और सेप पद वाली परिस्थिति की दृष्टि से आवश्यक उपाय है वेम या वेम और वेव लोह् प्रतिनिधित्व करता है लोम और लोह् का यह भाव वैयाकरणों की अपेक्षा लेखन प्रणाली और साथ ही बोलने में अधिक देखी जाती है। वैयाकरण तो केवल उनके परिवर्तनों की व्याख्या करते समय उनका उल्लेख करते हैं।

किन्तु इसके अतिरिक्त और यह भी निश्चित प्रमाणों द्वारा न माप सकने योग्य अनुपात में प्रत्येक युग में अभिव्यंजक या केवल नादप्रिय पुनरावृत्त रूप रहे हैं अनुलेखन-पद्धति-परंपरा की सामान्य कठोरता के रहत पर भी अति प्राचीन संस्कृत में उसके उदाहरण मिलते हैं, और इससे इतर के उदाहरणों क महत्त्व की रक्षा होती है।

पुनरावरोध (unterpe lation) के रूप अन्य पर आधारित अन्य जिसकी व्युत्पत्ति भारोपीय [illegible] को अलग कर देने से (दे० मेइए, बी एस०एल० XXXIV, पृ० ?) उसका अति प्राचीन प्रयोग निश्चयात्मक रचनाओं के प्रत्ययों को सघनत्व बनाना है

ऋ० इत्था इत्थम् जो उदाहरणार्थ कथा कथम् में भिन्न है। पाली में इत्थं मिलता है किन्तु अन्य प्रत्यय ने स्थानीय अर्थ ग्रहण कर लिया है (-त्थ से निकले -त्थ वाले नामों का प्रभाव ?) फलतः इत्थ और सामान्य विवरण क साथ निश्चयात्मक रूप के

समन्वय द्वारा एत्थ अञ्ञत्थ (अञ्ञथा) तत्थ आदि। यह वर्ग जीवित रहा है सिंहली ऐत्र म० एम् एथे पं० इत्थे "यहाँ" हि० इत् उत् आदि। इसी आदर्श के अनुकरण पर पाली में एत्तो (इत), एत्तको एत्तावता मिलते हैं।

ऋ० के प्रथम अष्टक के अन्त में जो टोना-संबंधी ऋचा है उसमें पुल्लिंग इयत्तक-, स्त्री० इयत्तिका जो नपुं० इयत् से निकले हैं, -अक-, -इका प्रत्यय सहित हैं तुल० पा० यावतक- (-त केवल द्वित्व आदि में पाया जाता है)। पा० एत्तक- तत्तक- यत्तक- कित्तक- वर्ग का यह प्रथम प्रतिनिधि है जो प्राकृत में सामान्यतः प्रचलित है [एत्तिअ केत्तिअ केत्तिअ] और आज तक प्रचलित है मे० एति, इतो हि० इतना इता आदि यूरोपीय जिप्सी-भाषा केति नूरी किन आदि।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की दृष्टि से प्रत्यय नहीं वरन् प्रथम व्यंजन है जो द्वित्व रूप ग्रहण करता है। उससे प्राकृत में एक्क बना जिससे निस्सन्देह गु० एको निकला अथवा म० एक्कहों और एकक- (हि० आदि 'एक')।

उसका स्पष्ट मुख्य यह प्रमाण है जो शब्दों के एक ही समुदाय में मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा निरन्तर प्रयुक्त एक अन्य बात में है अर्थात् फुसफुसाहट वाली ध्वनि का उपसर्गीकरण (इसके विपरीत ह् निपात परसर्ग के रूप में आता है)। पीछे दिये गये उदाहरणों में गुज० हवू जो एवो के समीप है, सि० हिकु आदि भी जोड़ लेने चाहिए।

इसी प्रकार हि० जब् जो 'जों' से भिन्न है, तब् जो तो से भिन्न है जैसे स्व एक प्रकार से *जम्ब *तम्ब (यावद् तावद्) का प्रतिनिधित्व करते हैं। परसर्ग प० उप्पर्, हि० ऊपर, यूरो० जिप्सी-भाषा ओप्रे जो हि० पर् म० वर् के निकट है, *उप्परि से संबंध प्रकट करते हैं। यही बात सिं० सि० अपभ्रंश अव० सचित (धनी) म० मुद्दाम् (अरबी मुदाम्) में दिखाई देती है। विशेषणों में पाली में उज्जु तो है ही जो उजु (ऋजु) के निकट है। रोमन की भाँति बंगाली में 'सब' के लिये वाक्यों में पुनरावृत्त रूप मिलते हैं—अपित शब्द में और निश्चयपूर्ण शब्द में सब्बे (सर्वे), सक्कले (तत्सम सकल)। यदि लिखित की अपेक्षा वास्तविक उच्चारणों की गणना की जाय तो सूची निस्संदेह बहुत बड़ी हो जायगी म० औतो का उच्चारण अब वतो होता है, आदि।

पुनरावृत्त रूप सरलतापूर्वक पहचाने जा सकने योग्य सर्वनामों और क्रिया-विशेषणों या विशेषणों से बाहर प्रचलित मिलता है। कुछ स्फुट बातों की झलक देखी जा सकती है। एक शब्द जैसे पा० कप्पति सं० महा० कल्पते स्पष्टतः कथा कथयति (कथा के संबंध से कथम् आजकल प्रचलित नहीं है) का वजन है। पशुओं के कुछ नाम देखना आवश्यक है (तुल० सिं० उक्कक जो सं० वर्षा से भिन्न है) वैदिक कुक्कुट (v 51.

कोकोएड़े) शब्द *कुक्क- गुज० म० कूक। अवर्व० कुर्कुर कुक्कुर से पहले का है, किन्तु हि० कुत्ता म० कुत्रा में जो पुनरावृत्ति है वह सोपविदन कुरा कुंमि कुइ, कश्मीर कुर्कुर (आवाज देते समय कूर्चे) में नहीं है यही बात 'उल्लू' शब्द के लिये है जिसका अर्थ 'मूर्ख मनुष्य' भी होता है सं० उलूक हि० आदि उल्लू निस्सन्देह 'भालू' शब्द के संबंध में भी भल्लूक- अर्थात् *भेक- गुज० पं० हि० अ० बेरी जो सं० बभ्रु से भिन्न है *भूरो- हि० भूरा साथ ही 'मोर' का नाम अशोक० म(ज)भूक- शह० म(ज)भुर और मे० मुयुर जो सं० मयूर से भिन्न है, अशोक० गिर० प्रा० मोर हि० मोर्।

शरीर के कुछ हिस्सों के नामों का उल्लेख विशेषतः किया जाता है पाली में तो अब्भुक- है ही म० कुल्ला और साथ ही कुल्ला में -ल्ल्- की संभावना है, गुज० देशी कूर्न सं० कूरुस पं० भुत्त म० भु० हि० भूद, कश्० चोंप् आदि (स्त्री०) जिनकी व्युत्पत्ति जो भी हो (प्रविड़ गुज० ता० घुत्तु) उनमें पुनरावृत्त रूप है (देशी कोल्लो कुल्लो जो संभवतः प्रविड़ है, गुज० कश० कोरल् कोल्ल और उनके साधारण परिवर्तन प्रकार है)। इसी प्रकार म० खेपू खेप् देशी खिप्प जो सं० खेप से भिन्न है नए निस्संदेह एक विशतापूर्ण शब्द है जिसका प्रयोग बहुत-से शब्दों के लिये होता है (गुज० प० नहूँ यूरो० जिप्सी भाषा नह)। एक शब्द विशतापूर्ण होने पर भी उसकी व्युत्पत्ति का अनुमान नहीं किया जा सकता म० थानू जो पं० थान् (स्तन स्तन्यम् का अर्थ दूध है)। अंत में प्राकृत भक्त जिससे 'भात' के आधुनिक शब्द प्राप्त होते हैं, स्पष्ट नहीं है।

अभिव्यंजकता ही हर एक बात की व्याख्या के लिये यथेष्ट नहीं है एक-स्वयं-पूर्ण है किन्तु क्यों "१९" पं० में उणीह है जो सि० उणीह, म एकुणीस से भिन्न है, क्यों "८०" हि० पं० में 'अस्सी' है, किन्तु सि० असी (अशीति) है और क्यों "९०" हि० पं० में नब्बे म० नव्वद्, सं० नवी (नवति) है? क्या अब तक उनमें प्राकृत घटित १०" यद्यपि "७०" का साधम्य न देखा जाय? किस कारण से प्राकृत में अकस्मात् अब्भुक और ओह कोक- और *खिक्क- आ गए? म खिड्खिनें (खिजन) से भिन्न हि० खिसकाना क्रिया तो सोची जाती है किन्तु प्रा० खल्ली म० खाएवे क्यों? *खप्पति तो असंभव है इसी प्रकार देशी में कोणो "कोना" और कोण्णो "मकान का कोना" (मराठी कोप् और कोन्) दर्भ और तत्सम "बिस्तर" दर्भ और दर्भ "ढकना" ओम्मालो और ओमालो चोटी नदी" साथ-साथ चलते हैं।

निस्सन्देह यहां एक अधिक सामान्य प्रवृत्ति प्रस्तुत करने के लिये स्थान नहीं है पंजाबी में एक भरम् प्रकार के शब्द का उच्चारण सामान्यतः लगभग भल्लन् होता है (श्री ग्रियर्सन के अनुसार)। ऐसा प्रतीत होता है कि अंत में यदि बोलचाल की भाषाओं

में प्राचीन दुहरे रूप बनाये रखने की प्रवृत्ति है, तो यह संभवतः इसलिए क्योंकि उन्हें मध्यवर्ती प्रथम व्यंजन को दुहरा रूप प्रदान करना प्रिय है हिं० में बोला जाता है लोग्गों पे वास्तव्, बंगाली में साद्दि (अरबी० शादि)। इस समस्या का अध्ययन नहीं हुआ।

अंत में पुनरावृत्त रूपों के पर-प्रत्ययों की ओर संकेत करना भी आवश्यक है पाली प्रमाण करती है दुद्दुल्ल- भट्टिट्टक- जिसमें महृ-ल से निकला मह्ल्लक- जुड़ जाता है तुल० अशोक० दिल्ली महा-लक- -ल्ल- वाले पर-प्रत्ययों के बड़े अच्छे दिन रहे हैं और उन्होंने विशेषतः प्राचीन भूतकालिक कृदन्तों को विस्तार प्रदान किया है। -क्क- वाले रूपों का व्युत्पत्ति में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है हिं० उड़ाकू, लड़ाका सिं० पियाकु आसामी भमक- (स्तंभ् भमक-) (बर्बमति) आदि।

निष्कर्ष

भारतीय-आर्य ध्वनि-प्रणाली पर समग्र दृष्टि से साथ ही काल और विस्तार की दृष्टि से विचार करने पर, उसके तत्वों के स्थायित्व की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। साहित्यिक भाषाओं की अनुलेखन-पद्धति यदि इतनी अपरिवर्तनशील हो तो लिखित और बोले जाने वाले रूपों में इतना असाध्य पृथक्त्व देखने को न मिले जिसके सुन्दर उदाहरण फ्रेंच और अंगरेजी भाषाओं में पाये जाते हैं। यदि फ़ारसी शब्द उमेद से बने उर्दू शब्द उम्(मॎ)ईद का उच्चारण कोई सुने तो तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि एक ऐसे मुसलमान से काम पड़ रहा है जिसे एक अच्छी इस्लामी शिक्षा का गर्व है किन्तु वही व्यक्ति एक भारतीय व्युत्पत्ति के शब्द के ए का उच्चारण कभी ई नहीं करेगा।

यदि इतिहास के सुदीर्घ काल में ध्वनि-प्रणाली स्थायी रही है तो वास्तव में उसका कारण यह है कि इतिहास के आदि काल में ही परिवर्तनशील सिद्धान्तों को ग्रहण या समन्वित कर लिया गया था। मूर्धन्यों की सृष्टि, स्वर या महाप्राण ध्वनियों का वि स्पर्शीकरण ऐसी ही बातें हैं केवल एक वास्तविक नवीनता ने अर्थात् तीन शिन् ध्वनियों के ह्रास के सरलीकरण ने हर जगह अपने को अपने शब्द तक सीमित नहीं रखा और जहाँ उसने सीमित रखा है, वहाँ उस समय उसने शिन्-ध्वनि और सकार ध्वनि के युग्म में सुधार उपस्थित किया है (मराठी बंगाली) यही है जो भारत-ईरानी सूत्र था और एक ऐसा सूत्र जो विपरीत समुदाय की अपेक्षा अधिक सामान्य और अधिक स्थायी है। इन महान् घटनाओं के समीप केवल आंशिक और स्थानीय नवीनताएँ हैं, जैसे काफ़िर में उ का तालव्य-भाव कश्मीरी का स्वर-संबंधी साम्य सिहली में

कश्मीरी में और (अंशतः) मराठी में तालव्य-ध्वनियों का दन्त्य-भाव आश्वसित ध्वनियों अथवा ऊष्म ध्वनियों का प्रकट होना।

किन्तु यदि प्रणाली के तत्त्व बने ही रहते हैं, तो उनके रूप में परिवर्तन हो जाता है। बहुत दिनों से ए और ओ संयुक्त-स्वरों के रूप में नहीं रह गये और आधुनिक ऐ, औ विवृति के कारण हैं और उनका कोई विशेष आकृति-मूलक महत्त्व नहीं। अब तो व्यंजनों के समुदायगत रूप भी नहीं मिलते अन्यथा जो इतर के थे और जिन्हें अलग-अलग किया जा सकता था। शब्द में उनका स्थान विशेषतः तत्त्वों का विभाजन ग्रहण कर लेता है। वे स्वर जो प्रबल स्थिति में नहीं होते वे अपने प्रधान मात्रा-काल के लोप हो जाने की ओर अपनी ध्वनि परिवर्तित करने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं, चाहे यह संवृत होने के कारण हो (ए>इ) चाहे उदासीनता के कारण हो (इ>अ शून्य) चाहे अन्त में समीपवर्ती स्वरों के सावर्ण्य द्वारा (सिंहली, कश्मीरी)। व्यंजनों का वितरण उनके सापेक्षिक बल जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में उनके तुल्य रूपों द्वारा निर्धारित होता था की अपेक्षा शब्द-व्युत्पत्ति पर कम निर्भर रहता है।

ध्वनि-प्रणाली के इस नवीन सन्तुलन के आकृति-मूलक परिणामों की महत्ता आसानी से देखी जा सकती है। संस्कृत प्रणाली अन्यथा नियमित थी कम-से-कम स्पष्ट थी ध्वनि की दृष्टि से मात्रा-काल की दृष्टि से यौगिक रूप धारण करने की प्रवृत्ति की दृष्टि से निश्चित स्वर, समीपवर्ती व्यंजनों से स्वतंत्र स्वर व्यंजन अधिक परिवर्तनशील किन्तु जिनकी परिवर्तनशीलता तुरन्त समीपवर्ती ध्वनि-श्रेणियों से सम्बद्ध रहती है (दूर जाकर मूर्धन्य हो जाने वाले न् को छोड़ कर) उपयोगिता रहने पर भी जिनके समुदायगत रूपों का सरलतापूर्वक विश्लेषण किया जा सकता है (क्ष् को छोड़ कर, जो ठीक आकृति-स्वभाव के थे और जो संस्कृत यौगिक रूपों से बाहर के हैं)। इस प्रकार की ध्वनि-प्रणाली उस रूप-विचार के भली भाँति अनुकूल रहती है जिससे शब्द प्रभावित रहते हैं मूल और प्रत्यय-संबंधी तत्त्वों के स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम धातु और पर-प्रत्यय के बीच पर प्रत्यय और प्रत्यय के बीच व्यंजनों का संपर्क। जब से इन परिवर्तन-क्रमों का अभाव होने लगता है, इन रूपमानों के बीच की सीमा अव्यवस्थित हो जाती है, इस प्रणाली में परिवर्तन होने लगता है।

द्वितीय खण्ड

रूप-विचार



शब्द परिवर्तन-क्रम

भारोपीय की भाँति वैदिक संस्कृत के शब्दों में विविध और दुरूह चिन्ह होते हैं जो एक ओर धातु द्वारा अभिव्यक्त केन्द्रीय विचार से संबंध प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वाक्यांश में उनके कर्म का द्योतन करते हैं इसके विपरीत शब्दों के क्रम का कोई व्याकरण-संबंधी महत्व नहीं होता। प्रस्तुत चिन्ह तत्वों और विशेषतः स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रमों, के विविध पक्ष प्रकट करते हैं सुरों का कार्य-संपादन जो प्राय: उसमें सम्बद्ध रहता है थोड़े-बहुत महत्वपूर्ण प्रत्ययों की उपस्थिति या अभाव (पर-प्रत्यय अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय) अंत में प्रत्यय।

कुछ परिवर्तन क्रमों का महत्व केवल ध्वनि-संबंधी है उदाहरणार्थ ये वे हैं जिनका संबंध शिन्-ध्वनियों से है (अस्, स्स् इय् ल् आदि) अनुनासिकों का मूर्धन्य-भाव (यक्ति- प्रयाण-) स्पर्श ध्वनियों का समुदायगत रूप (ददाति दत्ते देहि दिग्ध, दिदृग्धि, दिग्धु) अंत में बाद में आने वाली ध्वनि-श्रेणी के अनुसार भारोपीय ओष्ठ्य-कंठ्य ध्वनियों का द्वित्व पक्ष [हन्ति जिघ्नते घन भजति भग) यह अन्तिम परिवर्तन क्रम तो भारत-ईरानी में अब भी सामान्य है अ० तुक० 'को' संबंध० पेहा संस्कृत में नहीं मिलता का कस्य चिन् चित्, अ० चंह्य् से भिन्न नवीन है, अ० चित्। आकृति-मूलक (या रूप-विचार क) महत्व के परिवर्तन-क्रम स्वरों में प्रकट होते हैं।

सर्वाधिक प्राचीन ज्ञात शब्द-व्युत्पत्ति-विचारक यास्क जिघ्नते से निकले घ्नौ (X-१७) की व्याख्या करते समय एक ओर तो प् के स्थान पर सामान्य पर-प्रत्यय -न माना है, दूसरी ओर मूल स्वर का गुण तो थे और ति एक ही धातु के दो पक्ष हुए। इसके अतिरिक्त (II, १-२) उन्हें दा- से प्र-त्त्-तम् (दिया) में अस्- से स्-त: में गम् से ज-गम्-न में स्वर-लोप की नियमितता और गम् से ग-तम् साथ ही राजन् से राज्ञा में स्वनतों का लोप स्वीकार किया है उन्होंने अप् में पृथु का अप् में अर्थ-का बल देखा है। क्योंकि उन्होंने इन सिद्धान्तों से असत्य निष्कर्ष निकाले हैं, क्योंकि उन्होंने अन्य क्रम अपने वाली बातों का उल्लेख किया है इसलिए उन्होंने परिवर्तन-क्रमों, जो भारोपीय की भाँति संस्कृत में धातुओं को प्रभावित करते हैं, के एक पक्ष की गणना की है परवर्ती वैयाकरण इस सिद्धान्त को ठीक करते हैं और वृद्धि स्वीकार करते हैं।

वास्तव में धातुओं और कुछ रूपभागों में स्थायी व्यंजनों और परिवर्तनशील स्वरों का अथवा किसी परिवर्तनशील स्वर का, जो भारोपीय में ए, ओ, ए, जो अथवा शून्य का रूप धारण कर लेते हैं, कंकाल-मात्र है। भारत-ईरानी में *ए और *ओ की *अ के साथ गड़बड़ के कारण ध्वनि-प्रणाली केवल मात्राकालिक विकार स्वीकार करती है अ आ शून्य (अद् आद्, द्)।

एक और दुरूहता अनुनासिकों में मिलती है अन्य स्वरांतों के स्वर-संबंधी रूप थे अ, इ, उ जब कि भारत-ईरानी में *ऋ और *ऌ अ हो गये थे तो यह स्वर व्यंजनों और स्वरांतों की धातुओं में गुण का द्योतक था किन्तु अनुनासिक की धातुओं में शून्य श्रेणी का जहाँ तक अनुनासिक की धातुओं के गुण से संबंध है, उसमें एक साथ ही स्वर और अनुनासिक व्यंजन पाये जाते हैं, न कि केवल स्वर (य यम् यम्)। जहाँ तक अन्य स्वरांतों से संबंध है उनमें गुण उसी रूप में नहीं मिलता प्राचीन संयुक्त स्वरों के सरलीकरण के कारण ए और ओ उसी रूप में आते हैं जिस रूप में अर और इसी प्रकार ऐ, औ आर् के सदृश हैं।

भारोपीय *ə का *ए/ओ के साथ योग था इ, शून्य (जो स्वर से पूर्व *ə का प्रयोग है) के भारत-ईरानी परिवर्तन-क्रम की उत्पत्ति के कारण है उदाहरणार्थ पा पवि पत् महान्-न् मोहि मह्-ए। यह परिवर्तन-क्रम ईरान की अपेक्षा भारत में अधिक अच्छे रूप में सुरक्षित है। ईरान में प्रस्तुत इ आदि पश्चात् के अतिरिक्त [पित किन्तु दुग्(ə)घा] व्यंजनों के बीच लुप्त हो गया है, और जहाँ दीर्घ श्रेणी क्रियाओं में सामान्य हो गई है अ० स्तात सं० स्थित शो स्था।

जब भारोपीय *ə वाली द्वयक्षरात्मक धातुओं में मध्यवर्ती ध्वनि-श्रेणी स्वरांत थी तो उसमें विरोधी बातें उत्पन्न हो गईं जिसके स्वरांतों के अनुसार विभिन्न परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं

जनि मूर्त भवि भीत किन्तु भरि पूर्ण-, दीर्घ तुल० प्राचीन जनि जात (जार्त) भवि भ्रान्त।

ये असम्बद्धताएँ, जो अंशतः संस्कृत के ही ध्वनि-संबंधी विकासों के कारण हैं, वैदिक रूप-विचार को विशेषतः दुरूह बना देती हैं, और फलतः नाश के कारणों से बचने की उसकी शक्ति क्षीण कर देती हैं।

शब्द के सभी अंशों के लिये परिवर्तन-क्रम लागू हो सकते हैं, और उनमें सन्तुलन रहता है उदाहरणार्थ किसी एक अंश की शून्य श्रेणी का दूसरे की अधिक या थोड़ी सबल श्रेणी से विरोध होता है

स्तौ-मि बहु० स्तु-म' कर्म० सम्-र अपा० स्नु-ओं, षत्(स्) संबंध० स्नु-अ'।

यह बात छिपी रहती है, उदाहरणार्थ कर्म० एक० की -अम् प्रत्यय वाली संज्ञाओं में क्योंकि अम् *म्न के स्थान पर आता है उसी से दम्-अम् जो दत्-अ से भिन्न है अथवा किसी क्रिया में जिसमें विशेष धातु 'दुर्बल' रूप में सुरक्षित मिलती है अद् मि किन्तु अद्-अन्ति।

ये गौण दुरूहताएँ प्राचीन प्रणाली की जटिलता बढ़ाने में सहायक होती हैं और जैसा कि देखा जाता है धीरे-धीरे भाषा ने इन सभी परिवर्तन-धर्मों का बहिष्कार कर दिया यह रूपों के एक ऐसे वर्ग की पूर्ति करने की ओर झुकी जो प्रागैतिहासिक काल में प्रचुर मात्रा में थे अर्थात् रूप जिन्हें विकरण-युक्त कहते हैं ये वे हैं जो मूल (धातु और उसके पर-प्रत्ययों से निर्मित है) के बाद स्वर स्वीकार करते हैं, भारत-यूरोपीय *ओ भारत-ईरानी और संस्कृत -अ और जिनमें स्वरत्व स्थायी रहता है और स्वराघात निश्चित।

अविकरण-युक्त अथवा विकरण-युक्त भारतीय-आर्य भाषा की पुंजी में विभाजन संज्ञा और क्रिया के लिये बराबर महत्त्वपूर्ण है।

सज़ा

संस्कृत संज्ञा

विकरण

वैदिक संस्कृत जिन संज्ञाओं से सुसज्जित है वे अधिकांशतः भारतीय-ईरानी हैं और उनकी रचना उन्हीं सिद्धान्तों और अधिकांश में उन्हीं अंशों से हुई है जिनसे ईरानी और भारोपीय संज्ञाओं की रचना हुई है।

संज्ञा सामान्य हो सकती है या संयुक्त। उसकी रचना प्रायः भारतीय-ईरानी काल और उससे भी पहले से चली आ रही है।

वास्तव में वैदिक संस्कृत में भारोपीय शब्दों की रचना के सभी रूप सुरक्षित और विकसित हुए हैं केवल वे जो द्वितीय अंश पर स्थित संज्ञा संबंधित क्रियामूलक रूप हैं, जिनके लिये प्रारम्भ में कम प्रमाण मिलते हैं, वेदों के बाद लुप्त हो जाते हैं ये दातिवार भरद्वसु और (भारतीय-ईरानी का) क्षयद्वीर प्रकार के हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार तीन की संख्या के हैं।

द्वन्द्व का संबंध विशेषणों से है नीललोहित अथर्व० दासिमसत्य किन्तु विशेषतः विशेष्यों से यहाँ भारतीय-आर्य भाषा एक ऐसा सान्निध्य प्रस्तुत करती है जिसमें दो पद द्विवचन में हैं द्यावा-पृथिवी संबंध० मित्रयोर्-वरुणयोः, तुल० अ० संप्र० अहुराएइब्य मिथ्राएइब्य, सामान्यतः संस्कृत पहले पद को विकरण में परिवर्तित करती है इन्द्रवायू और अर्थ को आगे बढ़ाने की दृष्टि से सम्यक रूप में बहुवचन अहो-रात्राणि अथवा समष्टिगत नपुंसक० इष्टा-पूर्तम् अथर्व० इष्टाकृतम्।

तत्पुरुष सन्निवेशन अथवा अनुकूल बनाने की अपेक्षा आश्रय के विविध रूप प्रकट करता है भूमा-स्पृ पूर्व-हूति , विश्-पति गो-हन् , अ० गओवॆजन् । द्वितीय अंश समास के विशेष रूपों को प्रायः प्रभावित करते हैं हविर्-अद् पशु-तृप्, सोम-कृत् तुल० अ० पसु-कॅरॅप् इस स्थान पर पूर्वकालिक कृदन्त नहीं मिलते न कृदन्त किन्तु -त वाला क्रियामूलक प्रायः मिलता है गोजात अहर्जात तुल० अ० हुँभो-जात । प्रथम अंश कभी-कभी अपने प्रत्यय को बनाये रखता है अभयंकर तुल० अ० वीरॅम्-चॅन् दिविक्षित् पहला प्रकार, जो एक ऐसे उदाहरण में जिसमें अनेक ह्रस्व शब्दांश बाद में आते हैं निश्चित लय की संभावना प्रकट करता है, संस्कृत में बहुत विकसित हुआ।

बहुव्रीहि अपने आधिक्य और कवीलेपन के कारण संस्कृत रचना की एक अद्भुत मौलिकता है राज-पुत्र सब-पृष्ठ- अथर्व० यम-श्रेष्ठ- पति-श्याम, तुल० अ० ह्रइदर-गमोएं-। संस्कृत ने एक विशेष प्रकार को जन्म दिया जिसका पहला पद -त वाला क्रियामूलक है जिसका बाद में आने वाली संज्ञा के साथ क्रिया-जैसा संबंध रहता है प्रयत-दक्षिण : क्लैसीकल साहित्य उसका संबंधवाची परसर्गों के रूप में प्रचुर प्रयोग करता है।

ऐच्छिक रूप मे बहुव्रीहि मे समासान्तविहीन पर-प्रत्यय आते हैं प्रजर्व-क-, सुहस्त्-य महाहस्तिन् संपद्-अ बिन्दु-क- तुल० अ० दय्रा-मएष्टि हु-ऐθय सर्व-आप- अन्तिम तीन प्रकारों का विकास अधिकाधिक और होता जाता है विशेषत अन्तिम का के विकरण की सामान्य प्रवृत्ति और भी अधिक होती जाती है। वास्तव में -क द्वारा पर प्रत्यय का प्रयोग बहुव्रीहि वर्ग की सीमा को बहुत अधिक पार कर जाता है और निरन्तर रूप मे विस्तृत होता जाता है चाहे वह अन्त्य के छँट जाने के कारण हो पवह चाहे प्राय व्याप्ति के कारण हो सुपथ पुरुषाहर्मे। इससे सब प्रकार के दुरूह रूप प्रकट होते हैं किन्तु रचना एक दम सरल और सामान्य रहती है।

वेदों में समासों की आवृत्ति और व्याप्ति लगभग वैसी ही है वैसी होमर की रचनाओं में क्लैसीकल भाषा में उनकी बड़े प्रचण्ड रूप में वृद्धि हो जाती है किन्तु उसमें यह प्रयोग शैली की दृष्टि से रोचक है, न कि भाषा के वास्तविक इतिहास की दृष्टि से निस्सन्देह इसकी व्याख्या शिथिल वाक्यिक संबंधों के और रूपकों के स्थिर समुदायों के प्रति रुचि द्वारा हो जाती है, और जहां तक उसका रूप से संबंध है वह संस्कृत की दुरूह रूप-रचना की आवृत्ति को नियमित करती है किन्तु यह अंतिम कारण उसी हद तक ठीक है जहां तक ग्रन्थकार, जिन्हें अपने व्याकरण की वैज्ञानिकता प्रकट करने में आनन्द आता है, एक पाठक-मण्डल प्राप्त करना चाहते थे जिसके लिये मध्यकालीन भारतीय भाषा तो वैसे ही एक पुरानी और सापेक्षिक दृष्टि से दुरूह हो गयी थी। जो कुछ भी हो अशोक की मध्यकालीन भारतीय भाषा उदाहरणार्थ और आधुनिक भाषाएँ यह प्रकट करती है कि रचना का प्रयोग एक प्रकार से नियंत्रित रहा है।

विकरण की रचना की दृष्टि से समासों के द्वितीय पद, सिद्धान्तत जिनमे अकेले संज्ञा-रूप हो सकते हैं साधारण रूप में आते हैं।

इनमें से कुछ नाम-धातुओं ने अपने प्राचीन परिवर्तन रूपों को बनाये रखा है बहु० कर्ता० आप:, संबंध० अपाम् (अ आपो अपाम्) एक० कर्म० पादम् संबंध० पद (अ० पादम् पदो) एक० कर्ता भू-, संबंध भुव (ग्री० ओफ्रुस्, ओफ्रुओस),

एक० कर्ता० द्यौः, संबंध० द्यव: और सादृश्य द्वारा द्याम् (विपर्यस्त रूप में अ० कर्ता० एवं संबंधी के व्यंजन सहित) गौः, गाम् संबंध० बहु० गवाम् (अ० गाउशे, गमम् गव्भम्) ग्ना, ग्नानाम् संबंध० ग्नः (अ० ग्ना ग्नानम् ग्नो) दां सप्र० -दें (तुल० अ० बहु० दमीव्हो) आदि परिवर्तन-क्रम और, वांसम् करण० एक० मासा जो अ० माङ्ह्, यर्ष से भिन्न है, में लुप्त हो जाता है भाट् (कर्तृवाची संज्ञा) करण० भासा (कार्यवाची संज्ञा) में भारत-ईरानी के समय से उसका भिद् (अ० वीस् पुरानी फ़ारसी विथ्-) अप् (अ० पु० फ़ा० आपी) में भारोपीय के समय से मास् (अ० पु० फ़ा० माह्) में उसका अभाव पाया जाता है। इन संज्ञाओं के प्रमाण कम और अपूर्ण हैं विशेषतः कर्ता० के बहुत ही कम हैं कर्म० नक्तम् (क्रिया विशेषण) द्वि० नक्ता से भिन्न नक् केवल एक बार आता है किन्तु एक० संबंध० दास् (अ० दोघ्हो) के लिये कर्ता० आस्यम् (लै० ओस्) है एक० करण० दसा सप्र० दसे कर्ता० कर्म बहु० दस जो लै० जूस से भिन्न है संबंध० एक० पनस् (पति) बहु० पनाम् जो कर्ता० एक० पनम् से है संबंध ० एक० हृद आदि जो हृदयम् और हृदि से भिन्न है कर्ता० कर्म० बहु उदा जो एक० उदकम् से भिन्न है दृशे दृशे क्रियार्थक संज्ञा। एक काफ़ी अच्छी संख्या तो केवल समास के द्वितीय पद के रूप में है सर्वभा-पूर्वभा- वृत्रहन् दक्षिणावृत् और आवृते परिपद् क्रियार्थक संज्ञा और आम् भावये गत्यात्मक क्रियार्थक संज्ञा और आसम् क्रियार्थक संज्ञा आदि। अंत में समुदाय का विस्तार क्रियामूलक धातु इ, उ और ऋ के बाद -त् व्याप्ति के नियमित प्रयोग द्वारा सीमित है जैसे जित् वृत्-मृत् -स्तुत् (अ०-बेरेत्, -स्तुत्) इसी प्रकार अक्रियामूलक विकरणों के बाद क मस्यक (लै० मस्सर) के ह्रस्व स्वर को आश्रय प्रदान करता है, यकृत्, अ याकरः शकृत् (ऊधर, स्वर् के विपरीत) में कंठ्य ध्वनियों के समक्ष -त्- अस्थिर रहता है।

वास्तव में शब्दावली का एक बहुत बड़ा अंश संज्ञाओं से निर्मित है जिनमें धातु पर-प्रत्यय से आती है, पर-प्रत्यय युक्त होने अथवा पर-प्रत्यय से आये शब्दों के साथ सम्बद्ध होने और जिनमें अर्थ बना रहने के अतिरिक्त एक विशेषता लिये रहते हैं जो थोड़ी-बहुत प्रमुख रहती है जब कि एक ओर उदाहरण द्वारा रूपान्तरों और तुलनात्मक रूपों की परिभाषा प्रदान की जाती है, तो दूसरी ओर साधारण विस्तार या व्याप्ति के तुल्य प्रयोगों की।

व्युत्पन्न शब्दों का मूल रूप प्रायः परिवर्तन के साथ परस्पर सम्बद्ध रहता है। विशेषतः गौण व्युत्पत्ति आदि में वृद्धि के साथ आ सकती है सौमनसम् "सुमनस् होने की स्थिति", तुल० अ० हुओमनङ्हेम् सप्तम्, साप्तम् "सप्त-समूह" पार्थिव

पार्थ(इ)र्य तुल० पु० फ्रा० मार्तिय-। उसमें यह भारोपीय और भारत-ईरानी प्रणाली है जिस पर अवेस्ता में गौण ह्रस्व रूपों का आवरण पड़ा रहता है, जो इसके विपरीत संस्कृत में बहुत अधिक विकसित हुई है—जिससे विद्वत्तापूर्ण गद्य की संस्कृत का आधुनिक भाषाओं से संबंध स्थापित होता है।

रूप और प्रयोग की दृष्टि से पर-प्रत्ययों की सूची बहुत-कुछ ईरानी की सूची से साम्य रखती है।

कर्तृवाच्य कृदन्त वर्तमान सन्त् अ० सन्त् /सत्- भंवन्त्- अ० कर्म० बरेन्तृवम् दधत्- ग्री० तिथेइस् पूर्ण विद्वांस् (संस्कृत में ठीक-ठीक अनुनासिक)/ विदुष्- गाथा० कर्ता० वीदूवा करण० वीदुसे।

तुलनात्मक वस्-यस् अ० बन्-यह स्वादु-ईयांस् (विशेष कारक में कारक में ठीक-ठीक अनुनासिक)/ स्वादु-ईयस् तुल० ग्री० एडाइओन्।

संबंधवाचक विशेषण, एक तो बहुत कम मिलने वाले मघवन् अ० म^घवन ऋतावन्- अ० अशॅवन् दूसरे जो प्रायः मिलते हैं पुत्रवन्त् अ० पुथॅवन्त् मधुमन्त् अ० मaदुमन्त्, त्वावन्त् अ०थ्वावन्त् इससे संस्कृत में एक नया कृदन्त उत्पन्न हुआ कृतवन्त् (अ० विकरेतवन्त् ही अकेला इस प्रकार का ईरानी उदाहरण है) -इन् मनीषिन्, तुल० अ० परेनिन्।

संज्ञाओं कर्तृवाची संज्ञाओं विशेषणों कार्यवाची संज्ञाओं जो क्रियार्थक संज्ञाओं अथवा भाववाचक के निर्माण की प्रवृत्ति रखती हैं वे प्रकार के अनुसार रूप

श्रवस् अ० स्रवह् सुमनस अ० हुमोसवह्

ज्ञाति पीति क्रियार्थक संज्ञा-रूप में पीतये तुल० अ कॅरते दाइतिम्।

धातु अ० धातु गातु अ० गातु "स्थान" इस पर-प्रत्यय ने -तवे के सम्प्रदान क्रियार्थक संज्ञा और -तुम् के रूप में कर्म प्रदान किया है।

अर्यमन् अ० ऐर्यमॉन् धामन् अ० दाम क्रिया सं० विद्मने अ० स्तओमैने क्रिया० सं० दावने गु वीदवनोइ अ वीदवनो

संबंधवाची संज्ञाएँ स्वसर अ० ख्वङ्हर् पितर, अ पितर् कर्तृवाची संज्ञाएँ धर्तर् अ दातर्।

यह प्रचलित पर-प्रत्ययों के संबंध में है क्योंकि स्वयं रूपों द्वारा व्याख्या-योग्य कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका संरचन की दृष्टि से विग्रह नहीं किया जा सकता दंसन् (अ० दंसन् ग्री० ॅकटोन् अश्मन् अ० असमन् ग्री० अॅकमोन् उषस्- अ० उषह् ग्री ऐओस् आदि) इसी प्रकार कुछ पर-प्रत्यय केवल ग्रहण किये गये शब्दों में बिना किसी विकास के आते हैं जैसा कि वे प्रधानतः -न और -उ (अन्य -ति और -नु) के रूप

में हैं। केवल जिगीषु, पृतनायु पृतन्यु जैसे व्युत्पन्न क्रियामूलक विकरण के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के रूप में दिये जा सकते हैं

पति अ० पैति- ग्री० पोसिस् क्रिया० सज्ञा-गमे तुल० अ० मंमोइ पाँय अ० पञ्द (परिवर्तनीय) सक्थे संप्र० अ० हुर्ते जो सत्ता से परिवर्तनीय है अ० हत पुरु अ० पमोउरु- ग्री० पोलुस् वाहु अ० बाज़ ग्री० पुएँकुस् सूनु अ० हुनु गौथिक सुनुस् ऋुस्ह् रूप उर्मि अ० वरमि पूर्णि तुल० अ० सएनि शिपणु तुल अ० पसन्-।

प्राचीन दुस्ह प्रत्यय और भी हैं पर्मिन् अ० परंमिन् सर्वताद् (जिससे है सर्वताति) अ० हौर्वताद् बहुत-से तो उन शब्दों या सब्दों के समुदायगत रूपों तक सीमित हैं जो भारतीय-ईरानी भाषा से आये हैं और जो वास्तव में प्रचलित नहीं हैं प्रातर्-इत्वन् तुल० अ० भेरथ्वन् वायुप् जो वायु के समीप है, अ० वायु, अधिकरण० वर्मुनि तुल० ग्री० अइएस् और अइएन् मन्यु, अ० मैन्यु मृत्यु अ० मेरॅथ्यु।

बहुत अधिक प्रचलित और यह भी सुरू से प्रत्यय विकरणयुक्त स्वर है। कुछ उदाहरणों में तो व्युत्पत्ति का मूल्य अब भी स्पष्ट है वर अ० वार -वर जो वृणीते से भिन्न है, अ० वरॅने उसका अर्थ कभी तो स्वराघात द्वारा प्राय किसी भारोपीय नियम द्वारा निश्चित होता है वर "पसन्द" वर "विवाहार्थी" शोक-"फूट पड़ना" शोक- "चमक प्रकाश"। किंतु यह बल यहां में स्पष्ट नहीं है दाम (अ० दसॅम तुल० सं० डेमेम डेसीमुस) में और विशेषत अस्थ (अ० अस्थ-) वृक (अ० वॅह्रक-) देव (अ० दएव) भय (अ० बय्व) हस्त- (अ० जस्त), कुछ सर्वनाम एष एत, अ० अएसे अएत कुछ विशेषण दीर्घ अ० दर अ- अन्य अ० मन्य आदि जैसे ग्रहण किये गये शब्दों के भाषा काल में व्युत्पत्ति के चिह्न नहीं मिलते।

वास्तव में -अ यदि प्रत्यय से अधिक नहीं तो उसी भाषा में व्यापकत्व के कारण काम आता है ऋग्वेद से उदाहरणार्थ पाद मांस- भाज प्राप्त होते हैं जो अपने सदृश अविकरणयुक्त के साथ-साथ मिलते हैं। अन्यत्र जैसा कि देखा जा चुका है, -अ समासों में स्वयं जुड़ जाता है, विशेषत षष्ठी तत्पुरुष समासों में (पडक्ष- 'चरम्पस-' और द्विगु समासों में (समुद्र)।

यह रूप अविकरणयुक्त रूपों को अधिकाधिक आघात पहुँचाते हुए प्रचलित होता है उसमें उसके लिये मूल की अपरिवर्तनशीलता और स्वराघात की स्थिरता रहती है (जहाँ तक क्रिया-विशेषणमूलक महत्त्व से सबंध है उसे छोड़ कर दक्षिण 'दाएँ' जो दक्षिण से है) उससे पहले वा -आ अथवा -ई द्वारा स्त्रीलिंग बनाने में

सरलतापूर्वक सहायता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उससे प्राय: मिल जाने वाले उन उदाहरणों की ओर संकेत करने में लाभ होता है जिनमें विकरणयुक्त -अ अनुनासिक संयुक्त स्वरों की मूल्य श्रेणी से निकलता है जि-मर्व देव-कर्म अधिराज इससे विकरणयुक्त इन विकरणों के परिवर्तन की भूमि तैयार होती है तुल तै० सं० अलोमक-। शेष विकरणयुक्त स्वर मूल से ही भारतीय-ईरानी से आगे कुछ पर-प्रत्ययों को प्रभावित करता है और स्वयं अन्य (पर प्रत्ययों) तक प्रसारित हो जाता है।

निम्नलिखित प्राचीन और महत्वपूर्ण विकरणयुक्त पर-प्रत्यय हैं

मध्य अविकरणयुक्त कृदन्त -आन में दधान (अ० दधान) (बिना मध्य अर्थ के वॉकनिगल बी० एस० एल० XXXIV पृ० १८) जिसके आधार पर संस्कृत में विकरणयुक्त क्रिया-रूप ग्रहण करते हैं -मान अं० -म्न इध्यमान अ० इर्सम्न।

क्रियावाचक विशेषण में यह स्थिति -त (भूर्त अ० भूत भूत अ० बेरेत-) और -न- (पूर्ण अ० पेरेन-) में मिलती है क्रियावाचक विशेषणों के लिये -य- [वस्(इ)य अ० वरेम्य, मर्द(इ)य अ मर्म्य] और -त्व [वक्त्(उ)व अ वख्दध्व] -त (यजत अ० यजत) में सम्भावना रहती है ये अंतिम दो रूप भारत में लुप्त हो गये हैं जब कि दूसरे -अनीय -अय्य- -एण्य वाले रूपों से सम्बद्ध हो जाते हैं और वे ही अकेले शेष रहते हैं।

तमबन्त -इष्ठ- में मिलते हैं जो तुलनात्मक पर-प्रत्यय -यस् से स्थानसूचक पर प्रत्यय -थ (सप्तथ 'सात' अ हप्तथ) रहित मिलते हैं वहिष्ठ- अ वहिश्त तमबन्त बहुवची समुदाय में स्थिति प्रकट करने वाले पर-प्रत्यय सहित (अन्तम अ० अन्तम) -तम से। इसी प्रकार कुछ विशेषण-विशिष्ट तुलनात्मक हैं जिनमें युग्म समुदाय में विरोध प्रकट होता है उपर अ उपर उपस्तर तुल अ० असे अओपेस्तर जो वैदिक ओजियस् से भिन्न है। ये अन्तिम दो रूप संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में बहुत अधिक प्रचलित हैं।

साधन अथवा वस्तुवाचक संज्ञाएँ ओत्रम् अ० अओथ्रम भत्र अ० मूथ्र वर्तमानकालीन विकरण पर आधारित कृन्तत्र की रचना से प्राचीन काल में पर प्रत्यय की स्थिति का परिचय मिलता है किन्तु क्लैसीकल भाषा में यह केवल विपरी रूप में ही अधिक है।

कार्य और भाववाचक संज्ञाएँ -अ में यज्ञ, अ० यस्नस् ते स्थानम् पु० फ्र स्तानम् समरणम्, पु फ्र हमरनम्। नपुंसक० वर्ग से जो अधिकाधिक उर्वर संस्कृत में क्रियार्थक संज्ञा का तुल्यार्थक और एक अंश तक आधुनिक भाषाओं में ए

क्रियार्थक संज्ञा मिलती है करणम् हिं० करना। -त्व में भाववाचक बहुत्व म० बहुत्व और -त्वन में बहुत्वन तुल० अ० माहरिθवन-।

अन्य पर-प्रत्यय विशेषतः व्युत्पत्ति बताने के काम आते हैं गौण व्युत्पत्ति में -इ (सारथि वधुवि) बहुत कम मिलती है -य बहुत अधिक मिलता है और वह विभिन्न रूपों में आता है (सत्य हिरण्य स्वराज्य कर्मकमूलक कृदन्त पीछे देखिए)। सब से अधिक महत्वपूर्ण -क- है, इसलिए नहीं कि वह प्राचीन शब्दों में मिलता है (शुष्क अ० हुश्क- अस्माकम् अ० अह्माकम्) न कि इसलिए वह सरलतापूर्वक साधारण विशेषणों का कार्य सम्पन्न करता है (अन्तक- जो विशेष्य से निकला है एकक- जो एक से निकला है) किन्तु इसलिए कि शीघ्र ही बिना समासान्त के व्याप्ति उत्पन्न करने का कार्य सम्पन्न किया सनक- सन की भांति वीरक- वीर की भांति दूरकें दूरे की भांति मुहुर्के मुहु की भांति और इसी प्रकार यकें यें की भांति और फलतः बा० सं० असकौ असौ की भांति (रणु 'स्टूडिया इंडो-ईरानिका' पृ० १६४) जिसमें साधारण व्याप्ति का महत्व जिसकी क्रम रचना निर्धारित नहीं की जा सकती भली भांति प्रदर्शित है।

इस व्याप्ति का -अक- -इक- -उक- (जो -न्- -र्, -अन् वाले अन्य विकरणों में मिल जाते हैं) रूपों के अन्तर्गत महत्त्व केवल नव्यकालीन भारतीय में विकसित होता है और आधुनिक विकरणों के दो बड़े वर्गों में से एक उससे निकलता है।

यह भी देखने की बात है कि उसमें इन रूपों के समीप निस्संदेह दीर्घ स्वर से अधिक सम्बद्ध रूप होने चाहिए, जिनके ईरानी में सुन्दर प्रमाण मिलते हैं *पवाक- में पावक का आवश्यक छन्द-मात्रा-पतन है (यह ठीक है कि आगमन के अनुसार यह स्त्री० पर्वा पर आधारित होना चाहिए और फलतः अ मर्स्याक- प्रकार से भिन्न होना चाहिए, किन्तु यहीं यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि रूप के परिवर्तन की व्याख्या प्रचलित पक्ष के रूप के प्रति प्रतिकूलता से होनी चाहिए) जीव-जन्तुओं के नाम देखने योग्य हैं मण्डूक- उलूक- पृदाकु बा० सं० वल्मीक- जो म्र० के वम्रक- वम्रीं के समीप है (प्रचलित रूप देखने योग्य है)। शेष अन्य सशक्त पर-प्रत्ययों में विकल्प रूप में दीर्घ उपान्त्य स्वर होता है -ऊक- -आलु- -आर -ईन- आदि।

विकरणयुक्त स्वर और पर-प्रत्ययों का यह अन्तिम समुदाय समासों में प्रचुर मात्रा में मिलता है इसके अतिरिक्त आकृतिमूलक सरलीकरण का कार्य उसमें वही है जो साधारण में है (गोघ्न- जो गोहन्- से भिन्न है, प्रपदम् जो अ० फ्रपद् से भिन्न है) जिनसे समूहगत विशेषण की विशेषता का भी पता चलता है भद्र-धारय उरु-व्यच वि-मन्युक-।

पर-प्रत्ययों का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग वह है जिससे स्त्री० बनाने में सहायता प्राप्त होती है। वे भारोपीय(-आ -ई,से निकले हैं और कम-से-कम स्वर वाले विकरणों में पुल्लिंग के साथ युग्म निर्मित करते हैं कंठ्य ध्वनियों की व्याप्ति में यह देखने योग्य बात है कि -अक का प्रचलित स्त्री रूप -इका है पतिका से भिन्न वर्तका बोली के प्रयोग के रूप में पाया जाता है तुल पा० वट्टका (एस० केयी जे० ए-एस० १९१२, II पृ० ५१२)।

परिवर्तन-क्रम

जैसा कि देखा जा चुका है, विकरणयुक्त संज्ञाओं में एक अपरिवर्तनीय विकरण रहता है इसके विपरीत अविकरणयुक्त जिनकी प्राचीन काल में संख्या बहुत थी, कुछ परिवर्तन प्रदर्शित करते हैं, वे चाहे विकरण के चयन में हो चाहे स्वर-श्रेणी में अंत में चाहे स्वरित में हो।

१

पुरुषवाचक सर्वनामों और कुछ निश्चयवाचक सर्वनामों में भारोपीय के काल से नियमित रूप में चेतन वस्तुओं के लिये एक विशेष विकरण रहा है

अहम् माम्, मम

सं सा तम् तस्य तें आदि

विशेष्यों का विशेषण नपुं का एक प्राचीन समुदाय भी उसी प्रकार अनुनासिक विकृत-वाच का विकरण प्रस्तुत करता है जो कर्ता० कर्म० एक० के विकरण का विरोध करता है या अपने को उससे सम्बद्ध कर लेता है।

(१) -र् का मुख्य काल

अहर् अहन् संबंध बहु० अहनाम् (अ० अस्नम्)

ऊधर् ऊध्न (हित्ती एसहुर्) एसनस्

इसी प्रकार ऊधर, यकृत् (तुल० लै० इएकुर इएकिन्) शकृत्।

पानी का नाम जिसका इस वर्ग से संबंध है अपने मुख्य काल का विकरण कर लेता है

उदकम् उदन् (तुल० हित्ती वतर वेतेनस ओम्ब्री उत्तुर, अप्‌वाल उने)।

(२) इ युक्त मुख्य काल

अक्षि हि अक्ष्णी (अ० अशि) तुल० कर्ता० बर्नक (-स् की व्याप्ति भारतीय-ईरानी है, तुल० लै० ओक-उलुस सं० अनीकम् प्रतीकम् तथा नीच वाले विशेषणों की माला) संबंध० एक० अक्ष्णः।

इसी प्रकार अस्थि (तुल० अ० अस्त्-यस्त् ल० ओस) सम्मिश्र दीर्घ हर्दि (तुल० प्र० कर्दैर्)।

(३) शिन्-ध्वनियों वाले विकरण के -न् द्वारा व्याप्ति

शिर (अ० सरो) शीर्ष्ण बहु० शीर्षा जिससे गौण विकरण शीर्ष (द्वि० शीर्ष बहु० कर्ता० एक० ०र्षम् अथर्व०) निकला ही है।

इसी प्रकार दै० सं० यू (अ० इउस्) यू० यूष्णा दों (तुल० दमोसे-) अथर्व० द्वि० दोषणी।

विकरण वाले कर्ता० (तुल० उदकम् हृदयम् अनम् जो संबंध० बहु० अनाम् से भिन्न है आदि) आस्यम् (अ० ओस) का आस्न जो आस (अ० अंधुहो और अंनुहानो) की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुआ है उधर अधिक प्रचलित आसा से भिन्न करण आस्ना विभिन्न प्रयोग है।

(४) -न (यह हुआ जो द्वों की ओर संकेत करता है) वाले विकरण के न् द्वारा व्याप्ति यह भारोपीय है और -उ तथा -इ वाले इन नामों की रूप-रचना पर अपनी सबलता स्थापित किये हुए है, तुल० ग्री दौंव दौर्/प्रतोस किन्तु ल० वाउव प्रवोस्।

चेतन संज्ञाओं में परिवर्तन क्रम पुल्लिंग -न् मिलता है स्त्री० इ विशेषतः कुछ विशेषणों में (पीवान् पीवरी ग्री० पिओन पिएइर) और दूसरी ओर संदेस् सेविस् का लैटिन संज्ञा-रूप का विभिन्न सबल रूप है जो पन्था पथि (अ पन्तुवं गाथा० एक० पथो पु प्र कर्म० स्त्री० पथम् (तुल० मैहए, 'इंडियन स्टडीज बैनमैन' पृ० ३))।

शेष इन समुदायों में अति प्राचीन रूप है (मूल और शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से उनकी संख्या और भी बढ़ायी जा सकती है) जो वस्तुतः नवीन रीति में पालित पोषित है।

२

स्वर-संबंधी परिवर्तन क्रम पूर्व-प्रत्यय-अंश (मूल अथवा पर प्रत्यय-संबंधी) पर आधारित रहते हैं कुछ विकरणों की दृष्टि से प्रत्यय में वही एक परिवर्तन-क्रम मिलता है जो प्रथम को घर्षित प्रदान करता है इस प्रकार के -उ वाले दो विकरण हैं, पुरो दिव्-अ।

भारोपीय परिवर्तन-क्रम ए औ को मात्राकालिक परिवर्तन-क्रम से बदल देने के कारण भारतीय-ईरानी के संज्ञा-रूप में सबल और दुर्बल कारकों की विशेषता आ जाती है विशेष कारक एक० और द्वि० के मुख्य कारक (कर्ता० कर्म०) हो जाते हैं बहु०

में चेतन कर्ता० सबल हो जाते हैं नपुं० में कर्ता०-कर्म० संभवतः सबल या दुर्बल हो सकते हैं नामानि (अ० नामन्) और नामा जिनमें भारतीय दृष्टिकोण से एक दीर्घ स्वर भी रहता है।

स्वरांत वाले विकरणों में संस्कृत में फिर भी दो प्रकार के परिवर्तन-क्रम हैं

संबंध० एक० वाला मूल और प्रत्यय के सहायक परिवर्तन-क्रम मघो- (माघा० बहुव्रीहि) किन्तु पशु-अः (अ० पसूश)

अधिकरण० एक० वाले में इ और उ से पूर्व ह्रस्व स्वर मिलता है नेतर इ, अहन् -इ और -उ वाले विकरणों में दीर्घ स्वर और शून्य प्रत्यय अग्नौ (अ० अग्नाव) गिरौ (अ० गर)।

जहाँ कहीं भारोपीय -ओ- -ए- शून्य का परिवर्तन करती है, भारतीय-ईरानी में आ अ शून्य के अनेक रूप मिलते हैं। इससे स्वरांत वाले चेतन विकरणों में तीन परिवर्तन-क्रमों की स्थापना होती है

वृषहा (*-हान्) अ० वॅरॅथ्रघ्ना (*-जान्)
वृषहणम् वॅरॅथ्रजनम्
वृषघ्न वॅरॅथ्रघ्नो

इसी प्रकार

पिता (अ० पित) कर्म० पितरम् (अ० पितरॅम्) संप्र० पित्रे (अ० फ़्थ्रोइ पिथॅरे) उषा उषसम् (अ० उषहॅम्) और उषासम्, उषस (अ उषहॅनो) किन्तु पूषा पूष्णः, पूषणम् से भिन्न अवेस्ता में है अर्ष्नो अर्ष्नो और दीर्घ अर्शानॅम् में कर्म ।

कभी-कभी तृतीय श्रेणी केवल संबोधन में प्रकट होती है सखा (अ० हख) सखायम् (अ हखाइम्) संबोधन० सख(इ)या (अ० हखे) पुमान् संबोधन पुमन् वर्तसी० पुमन् संबंध पुंसः, कर्म० पुमांसम् चिकित्वान् चिकित्वः, चिकितुषः।

अनुनासिक के संबंध में शून्य श्रेणी के स्थान पर स्वर या व्यंजन हो जायगा क्योंकि प्रत्यय का प्रारंभ व्यंजन या स्वर से होता है उसी से इनमें तीन परिवर्तन-क्रम मिलते हैं

दवा (अ० स्पा) कर्म श्वानम् (अ० स्पानम्) संबंध० शुन्-अः (अ शूनो) करण० बहु श्वभिः।

अंत में पर-प्रत्यय के परिवर्तन-क्रम सहित

पन्था (अ पन्ता) पथः (अ० पथो) पथिभिः (तुल पु फ़्र० कर्म स्त्री० एक० पन्थम्)।

सामान्यतः एक दुहरे परिवर्तन-क्रम की प्रवृत्ति पायी जाती है यह पाया जा सकता है

दीर्घ श्रेणी शून्य, उदाहरणार्थ -ता -तृ-ए, -ता -तृ-ए (गाथा० क्रियार्थक संज्ञा दोइ) तार (अ० स्तारो) स्तृभि (तुल० अ० स्तॅरभ्यो) द्वार दुर (यहाँ ईरानी में अ० द्वरॅम् मिलता है जो प्राचीन है तुल० ग्री० थ्रीरेस) नपातम् (अ० नपातॅम्) नप्त्य, हार्दि हृद (तुल० अ० जरॅधा)।

दीर्घ श्रेणी अ श्रेणी। यह संयुक्त-स्वर वाले विकरण में मिलती है जैसे गौः गाम् (अ० गाउश, गाम्) गवाम् गोभि (अ० गवम् गवोबिश्) और उन संज्ञाओं में जिनमें शून्य श्रेणी असंभव होनी चाहिए अपः कर्म० अपः संबंध० अपाम् (अ० आपो, अपो अपम्) अंगिराः संबंध० बहु० अंगिरसाम् द्वि० मासा (तुल० पु० फ़ा० कर्म० एक० माहम् मसाँ।

अ श्रेणी शून्य। उन शब्दों में जिनमें ह्रिस्व नहीं किया गया भवन्तम् भवत (किन्तु एक कर्ता० नपुं० बहु० व० शान्ति रूप है) और इसी प्रकार बृहन्तम् बृहत (अ बॅरॅजन्तॅम् बॅरॅजतो) अपः त्रिभ्य (अ० θ्रायो, θ्रिब्यो) कर्म० नरम् सप्त० नरि नृभि (अ० नरॅम्, नरोइ, नरॅब्यश्-च)।

क्रियामूलक वर्तमान के प्रभावान्तर्गत विकरण युज् में अनुनासिकता आ जाती है इसके फलस्वरूप उसमें अ अन् से तुलनीय लय-युक्त परिवर्तन क्रम उत्पन्न हो जाता है। अस्तु युङ् करण० युजा संबंध० युजः, कर्ता० बहु० युजः से विपरीत उभय रूप मिलते हैं कर्ता० द्वि० युञ्जा जो युजा कर्म० एक० १ युञ्जम् जो १५ युजम् के निकट है भाष्ये कर्ता० युङ (*युङ्क् के स्थान पर)। विधि अभी प्रकाश में नहीं आई लैटिन कोमिज(न्)क्स अवेस्ता में कर्ता० अहुमॅरॅन्च् से निकला संबंध अहुमॅरॅजचो है तुल० मॅरॅन्चैते।

सामान्य रीति से परिवर्तन-क्रम वैदिक और अवेस्ता के एक ही आकृतिमूलक वर्गों में आते हैं उनके कुछ स्फुट अपवाद हैं जो अपने को पूर्ण या अपूर्ण बनाते दिखायी देते हैं उदाहरणार्थ बहु० संप्र० नप्त्य जो नपात् से है से भिन्न अवेस्ता में संबंध० एक० नप्तो अधि० बहु० नफ्शु मिलते हैं वैदिक में कर्ता० एक० में है, अवेस्ता में पन्तोश्। किन्तु यह सादृश्य पूर्ण नहीं है नपुं० के मुख्य कारक एक० के रूपमात्र -न का प्रभावित होना एक भारतीय नवीनता है परिवर्तन क्रम प्राय: लुप्त हो जाते हैं जैसा कर्म० एक० और कर्ता० बहु० के संबंध में है कर्म० बहु० में आपः मिलता है जो विकरण उपस् उपास् मिलते भी हैं नहीं भी मिलते बाकि सभी रूप-रचनाओं में अपना दीर्घ अंश बराबर बनाये रखता है जब कि गाथाओं में एक० कर्ता० मास्ने,

संबंध० धर्षो घासु सु के निकट दुर्बल कारक में भी पाया जाता है क्षमा के निकट क्षमा करण० है संबंध० म८ अ० नर्दम् से भिन्न है स्वर से निकले संबंध० गुरु अवेस्ता गुरो की भांति है, जिसका रूप रचना के सामान्य प्रकार के अनुकरण पर पुनर्निर्माण हुआ है अकेले अवेस्ता में संबंध० सुर्ना नृ का परिवर्तन-क्रम र् नृ में सुरक्षित है। फलतः वैदिक पुरुहूतालों में प्राचीन उपलब्धि के अतिरिक्त और बातें भी हैं।

१

वैदिक संज्ञाओं के एक बहुत बड़े भाग में सुर सभी रूप रचनाओं में निरंतर एक ही स्थान पर बना रहता है (गौ., गाम्, गवाम्) इसके अतिरिक्त वह मूल से प्रत्यय की ओर जाता है आप अपाम पविम् पर्द पुंल्लिङ्ग महां नपुं० महि, संबंध० मह मधु., पर्शं।

भारोपीय में स्वराघात के सम्मुखन का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है, जिसके बिना तथ्यों के विस्तार में सदैव अनिश्चितता बनी रह सकती है। श्री कुरीलोविच कुछ बातों में अवेस्ती से सादृश्य उपस्थित कर सके हैं जिसमें स्वराघात स्वर-संबंधी ध्वनि पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है

संबंध मनो:, अ० मनजहास् किन्तु मून्यों ,अ मेरव्यमोस्

संप्र मनसे अ० मनङ्घे किन्तु महे अ० मजोइ।

किन्तु उसी में जहां प्रमाणीकरण संभव है भारतीय और ईरानी में पूर्ण साम्य नहीं मिलता। शेष पशु और पशु मति और मति जैसे एकमूलक विभाषीं शब्दों में से एक यह प्रदर्शित करने के लिये यथेष्ट है कि वैदिक भाषा के कुछ प्रागैतिहासिक परिवर्तन क्रम लुप्त हो गये हैं।

तो प्रत्येक दृष्टिकोण से वैदिक भाषा म प्राचीन बातें मिलती हैं और उसमें वास्तविक प्राचीन प्रयोग सुरक्षित मिलते हैं किन्तु प्राचीन प्रणाली पूर्णतः प्रतिबिंबित भी नहीं होती और उसमें नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं परवर्ती इतिहास ही यह प्रदर्शित कर सकने योग्य होगा कि ये नयी बातें उसकी शक्ति की प्रतीक हैं या उसके विनाश का पूर्वाभास।

नाम-प्रत्यय

संस्कृत और ईरानी प्रत्ययों के रूप और विभाजन लगभग समान रूप से अलग अलग होने की स्थिति में हैं।

एकवचन

कर्ता० कर्म० अचेतन विकरणयुक्त संज्ञाओं में प्रत्यय -म् क्षत्रम् (अ० क्षथ्रॅम्)। अविकरणयुक्त में शून्य प्रत्यय मधु (मधु) स्वर् (ह्वर्), मनः (मनो) महत् (मज़त्)। पूर्ण साम्य।

कर्ता० चेतन जहाँ कहीं परिवर्तन-क्रम कर्ता० का कर्म० से अन्तर स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है, शून्य प्रत्यय जो भारोपीय नियम के अनुसार है पिता (पित) श्वा (स्पा) सखा (हख) और सादृश्य द्वारा हस्तीं (सदृश ईरानी रूप नहीं है)। इसके अतिरिक्त हर जगह, प्रत्यय -स् वृक (वॅह्र्को) गिरिः (गैरिश्), क्रतु (खतुश्) पंथा (पन्तॅ) इसी प्रकार एकाक्षरात्मक रूपों में गौः (गाउश्) भीः (भ्रूश्) रा., मीं मू., धीं में। शून्य रूप के अन्तर्गत *-आ *-या पर प्रत्ययों वाले स्त्रुत्पन्न रूपों में सदैव स्वयम् (गै० सोकस्स किन्तु अ० तनुश् जो कर्म० तनुम् से भिन्न है) पाया जाता है, किन्तु नदी और देवीं दो प्रकार भी इसी प्रकार अवेस्ता की गाथाओं में वंर्जनी (सं० वृहतीं) और वाध्रिरिश (तुल० सं० वनिनी) मिलते हैं पु० फ़ा० में हुरौवतिश् है जो अ० वाइरवैती से भिन्न है।

अन्त्य व्यंजनों के समुदायों के आदि अंश की अपेक्षा अन्य अंशों का लोप होता है जिसके फलस्वरूप शुरू से ही संस्कृत में प्राचीन ईरानी की अपेक्षा -स् बहुत कम रहे हैं फलतः व्यंजन और ऊष्म ध्वनियों के सभी विकरणों के साथ कर्ता० बिना अपने विशेष प्रत्यय के दृष्टिगोचर होता है वाक् (अ० वाख्श्, लै० उक्‌सेस) स्पट् [अ० स्पस्, लै० -स्पेक्स] विट् (अ० वीस्) (मात)मु क [लै० (कोन्)इउक्स] पात् (लै० पेस्), अपाक् (अ० अपॅक्ष्) जो *अपाकस् के लिये है, हलन्त सम् (सम स्वर से पूर्व वेद में -स् एक आदि त् वाले शब्द से पूर्व दृष्टिगोचर होता है —अ० हमस् पूर्वहलन्त विद्वान् (अ० विद्वँ, ग्री० एइदोस्) की भाँति संबंधवाचक विशेषण त्वावान् (अ०थ्वावस्, तुल० ग्री० -एएइस) की भाँति तुलनात्मकों यस्यान् (तुल० अ० स्पन्यॅ) की भाँति कुछ ऐसे रूप हैं जो विशुद्ध भारतीय हैं।

कर्म० चेतन स्वर-संबंधी विकरणों के लिये -म् अश्वम् (अ० अस्पम्), क्रतुम् (अ० ख्रतुम्), गाम् (अ० गाम्) पाम् (अ० पन्तम्) अन्य में ईरानी (तुल० ग्री० पोद) की भाँति -अम् पादम् (अ० पाधॅम्) स्वानम् (अ० स्पानॅम्)।

संबोधन० भारोपीय काल से प्रत्यय (पूर्ववर्ती स्वर आवश्यकता से अधिक दीर्घ हो सकता है) था और जब स्वराघात हो तो आदि स्वराघात का अभाव होना (तुल० ग्री० अदेल्फे अदेल्फोस पतेर् पतेर्), असुर (अ० अहुर) पितर (तुल० अ० पातर्) मन्यो (अ० मैन्यो) विश्वमन (तुल० अ० हुमनो)। पूर्व हलन्तों में -अस्

वाले विशेषणों में तुलनात्मकों में -स् प्रकट होता है : विविक्त्वः, ओजीयः । -आ वाले स्त्री॰ में ईरानी के साथ पूरा साम्य बराबर मिलता है, भावे सुभगे तुल॰ अ॰ हएनऍ। सादृश्य द्वारा वैदि यमि अथर्व॰ यमु (तुल॰ अ॰ यहउहि) बने हैं।

करण॰ : वैदिक भाषा में भारतीय-ईरानी की सघन स्थिति ज्यों-की-त्यों पायी जाती है। प्रत्यय -आ।

व्यंजन-संबंधी विकरण : वाचा (अ॰ वच) पदा (अ॰ पाδअ) मनसा (अ॰ मनङ्ह) क्ष्मा क्षमा (ज़ेमा) भूवध्वा (बॅरॅθरuअ)।

विकरणयुक्त : यज्ञा तुल॰ अ॰ यस्ता किन्तु इसका पुल्लिंग रूप बहुत कम मिलता है, -आ वाले विकरण : स्वधा जिह्वा (तुल॰ गाथा॰ हिज़्वा) भारत-ईरानी में प्रयुक्त होने वाले रूप जिह्वया [तुल॰ अ॰ हिज़्वय] -इ और -उ से युक्त विकरण : सख्या [अ॰ हखे] क्रत्वा [अ॰ ख्रथ्वा] भारतीय-ईरानी में चित्ती (अ॰ चिस्ति), किन्तु यूरोप के अनुरूप भारतीय भाषा में नियमित संज्ञा-रूप नहीं है।

स्वर-संबंधी विकरणों में संस्कृत में कुछ नवीन रचनाएँ पायी जाती हैं और वे सब वेद द्वारा प्रमाणित हैं और जो क्लैसीकल युग में अन्य रचनाओं का स्थान ग्रहण करने वाली थीं : स्वर के दीर्घीकरण द्वारा उत्पन्न प्रत्यय विभिन्न श्लेष-पदों का कारण था (स्त्रि॰ के संबंध में नपुं॰ बहु॰ के संबंध में व्यवस्था के लिये, देखिए कर्ता॰ एक॰ के संबंध में) इसके अतिरिक्त अन्त्य रूपों की सापेक्षिक दुर्बलता के कारण अथवा किसी अन्य कारण से संस्कृत में स्वर-संबंधी विकरणों के प्रत्ययों का समूह मिलता है।

-न् की सहायता से ही संस्कृत में ये नवीन करण॰ बने थे : विकरणयुक्त में -एन ऋग्वेद से उपलब्ध बहुत-से -आ पर छाया हुआ है : ब्राह्मण ग्रन्थों में यही अकेला प्रत्यय रह जाता है। -इ और -उ से युक्त संज्ञाओं में -या -वा वाले प्रत्यय स्त्री॰ तक सीमित हैं और साथ ही -अया के समकक्ष हैं। पुं॰ और नपुं॰ में दो प्रत्यय मिलते हैं : जो अनुनासिक है वह प्रायः मिलता है।

संप्रदान : भारतीय-ईरानी की विशेषता *-ऐ है : फलतः व्यंजनांत संज्ञाओं में वृहते (अ॰ बॅरॅज़ैते) पित्रे (अ॰ पिथ्रे) वसवे (अ॰ वङ्हवे) मिलते हैं। विकरणों में संस्कृत में केवल सर्वनामों (अस्मै अ॰ अहमाइ) में अ॰ अहुराइ से स्वर-संधि-युक्त संयुक्त-स्वर है : सामान्य रूप तो असुराय है, जो निश्चित रूप से भारतीय नवीनता नहीं है : तुल॰ गाथा॰ अहुराइ आ' और साथ ही एक शब्द 'यातायाँ' में किन्तु इस संबंध में संस्कृत के लिये ही यह सामान्य बात कही जा सकती है।

स्त्री॰ से सं॰ देव्यै और अ॰ वङ्हुयाइ, और साथ ही सं॰ सूर्यायै और अ॰ दएनयाइ के बीच का साम्य मध्यवर्ती य के मात्रा-काल की अपेक्षा केवल अनुस्वान-संबंधी हो

सकता है अथवा परवर्ती व्यवस्था का परिणाम है। हर हालत में करण० को छोड़ कर गौण कारकों के सभी -भाय अंश के प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत का ईरानी से साम्य है।

संबंध० व्यंजनजात विकरणों में वैदिक और ईरानी दोनों भाषाओं में एक ओर *-अस् अप (अ० अपो) वाच (वचो) क्ष्मा (स्र०θма) है; दूसरी ओर गुण के पूर्व-प्रत्यय वाले रूप के बाद *-स् गिरें (अरोहसे) वों (यमोई) (पैतिइ) दम् (तुल० अ० दर्मान्म् पैतिसे) है। मूल में -अर् से युक्त संज्ञाओं मे शून्य श्रेणी मिलती है पितु (तुल० अ० नंरसे, किन्तु सं० नरः पुनर्रचना है)। यही प्रत्यय दीर्घ स्वर वाली संज्ञाओं में है बृहत्याः, तुल० अ बेरेजैत्पूर्य जिह्वाया, तुल० अ० दएनयाँ।

इन साम्यों का पूर्ण विस्तार नहीं मिलता है, जैसे पशः का पसुभोरस।

विकरणयुक्त रूपों में असुरस्य (अ० अहुरह्या)।

अपादान विकरणयुक्त रूपो को छोड़ कर संबंध० के संबंध म दृष्टिगोचर होता है सोमाद् (अ० हओमात्, तुल० मिθराδ-अ) इस दृष्टि से अवेस्ती जिसमें अन्त्य प्रत्यय का अन्य विकरणों मे विस्तार पाया जाता है की अपेक्षा संस्कृत अधिक प्राचीनता-प्रिय है।

अधिकरण व्यंजन वाले विकरणों में प्रत्यय -इ मनसि (मनहि) नरि (नैरि) विशि (वीसि वीस्य) तनि (तनि) विकरणयुक्त अ के साथ मिलकर इस -इ से -ए प्राप्त होता है दूरे (दुइरे दुरएण) हस्ते (जस्तय्-अ)।

प्राचीन काल में यह -इ परसर्गात्मक निपात अव्यय के रूप म थे और प्रत्यय-रहित अधिकरण भारतीय-ईरानी में एक बहुत बड़ी संख्या में था ही। उसका -न्- से युक्त विकरणों में मिलने वाले अन्य विकरणों के साथ सह-अस्तित्व था अहन् (तुल० अ० अय् मन्) अश्मन् (तुल० अरेस्-मन्) -ई और -ऊ से युक्त में नदीं तनु (एक उदाहरण अवेस्ता में केवल तनि है—य० 'तनि' ७ उदा०) परत् (तुल०पी० परतुषा) जैसे क्रिया विशेषणों में और एक ओर स्वर-संबंधी श्रेणी में -इ और -उ से युक्त विकरणों में ही।

-उ से युक्त विकरणों में अ० पैरेतो गाθवन्-अ की भांति -औ की संभावना रहती है संभवत एक अकेले सानो जो कठोर उच्चारण में सुरक्षित है, को छोड़ कर, संस्कृत मे केवल -औ भारतीय-ईरानी *-आउ है जैसी जो गाथा० बाज़ाउ की भांति है, जिसके समीप अ० बाज़उहि जिसके स्वयं विपर्यस्त रूप से संस्कृत में बस्तवि है जो अ० वैनुहे दैन्हव से भिन्न है।

-इ से युक्त विकरणों में *-आइ, जिसकी संभावना की जाती है नहीं मिलता यहाँ केवल ध्वनि-संबंधी (या उच्चारण-संबंधी ?) एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से एक में -आ मिलता है, अग्ना सुता, तुल० अ० गर, ऐबी-दंरस्ता। यह

अनुमान किया जा सकता है कि यह एकमूलक मिस्रार्थी शब्दों में से एक में *भाउ के स्थान पर भी रहा है और उसी से अर्थो गिरो इष्टों के -औ (स्वर से पूर्व -आम्) उत्पत्ति हुई है तुल० ऐसा ही ईरानी में अ० गरो।

दीर्घ स्वर-युक्त स्त्री० में भारतीय भाषा में -आम् प्रत्यय है सरस्वत्(इ)आम् (पु० फ़ा० हरहुवतिया) स्वमु(व्)आम् उस्रांम् ग्रीवायाम्(अ० ग्रीवय)। केवल स्वर भारतीय-ईरानी है संस्कृत -भ्यां से भिन्न -भ्याम् के द्विवचन की भाँति अनुनासिक ध्वनि जुड़ जाती है वह ईरानी में असाधारण रूप में मिलता है अ० हुवंरत्वम् जो हुवंरतो के समीप है (तुल० सं० भृत्याम्)।

द्विवचन

कर्त्ता कर्म। ईरानी से पूर्ण साम्य।

अचेतन संज्ञाओं में -ई प्रत्यय अर्सी (अस्थि) सर्तें (सैते) इसी प्रकार -आ (प्राचीन समूहवाचक) से युक्त स्त्री के लिये यर्में तुल० अ० उर्वैरे उर्में (गाथा० सर्वे)। अन्य ह्रस्व स्वर-युक्त चेतन संज्ञाओं में वह दीर्घ हो जाता है पुर्गा (पुरु) बाहु(तुल मैन्यु) किन्तु साथ ही बाहुवा भी अ० बावस पती(तुल अ० मैरि) इसी भाँति -ई से युक्त विकरणों के लिये देवीं की भाँति है (तुल० अ अवी)। व्यंजन और -ऊ से युक्त चेतन संज्ञाओं में प्रत्यय -आ और -औ हैं जिनका उस अंग के पश्चात् विभाजन हो जाता है जो वाक्यांश में आते हैं आ की प्रमुखता मासा (भूर्वन्ह्) नरा (नर) स्वांना(स्वान) पाँशा और पाँशी (पθआ और पθओ) पितरा और पितरौ (पितर्) बृहस्ता (बर्रजन्त)। विकरणयुक्त संज्ञाओं में भी बराबर -औ है जो -आ के समीप है हस्तौ और हस्ता (वस्तो)।

करण सप्र० अपा० सामान्य ईरानी प्रत्यय है पु फ़ा० -बिया अ ब्यों जिसके स्थान पर संस्कृत में -भ्याम् पितृभ्याम् (तुल० अ ब्रॅरब्य) है। अवेस्ता में दो बार एक ही शब्द (ब्रुवद्भ्यम्) में अनुनासिक ध्वनि प्रमाणित होती है उसका मूल निस्संदेह भारोपीय है ईरानी से पृथक होने की दृष्टि से संस्कृत में तो भारतीय-ईरानी प्रत्यय के प्रयोग का विकास ही हुआ है।

इस प्रत्यय से पूर्व विकरणयुक्त संज्ञाओं में एक दीर्घ स्वर होता है ईरानी में साधारणतः एक संयुक्त-स्वर हस्ताभ्याम्, अ० यसुवएइब्य पु० फ़ा० दस्तैबिया ईरानी में नपु के लिये केवल दोइθराब्य है यहाँ ऐसा स्वतंत्र प्रणाली द्वारा हुआ है।

संबंध० अधिकरण संस्कृत का -ओः प्रत्यय मवि० भारतीय-ईरानी *-औ,

म० -ओ और सप्तम० *-अस् भ० -अंस् -अं के प्रत्ययों को मिला लेता प्रतीत होता है (बाँवनिस्त बी० एस एस० XXXIV पृ० २५)।

बहुवचन

अचेतन कर्ता० कर्म० वैदिक भाषा और ईरानी में मिलता है। अवस्ती में प्रत्यय -अ (गाथा० साख्‌वानी तुल० सपूयारूणां) के केवल कुछ ही उदाहरण हैं जो सम्कृत में सामान्य हैं चत्वारि मनांसि (गाथा० मनहूं) विपर्यस्त रूप में शून्य प्रत्यय ने जो अवेस्ती में प्रचलित है भारत में केवल कुछ दुर्लभ चिन्ह छोड़े हैं। उनमें केवल स्वर-संबंधी विकरणों में साम्य है वह इस अर्थ में कि ईरानी की भाँति वैदिक भाषा में दीर्घ स्वर-युक्त प्रत्यय के कुछ उदाहरण सुरक्षित हैं यथा (युमैरर) भी (ऊधी) पुरु (पोउरू) इसी प्रकार अनुनासिक-युक्त विकरणों के संबंध में है नांमा (नाम)।

किन्तु इन अनुनासिक-युक्त विकरणों में नवीनता के प्रवर्तन का सिद्धान्त पाया जाता है जो भारतीय की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। पृथक् होने समय उसमें था नांमा नाम और नामानि जो ईरानी की भाँति है (एक ओर नाम दूसरी ओर नाम्न्‌ और समवत नामानि)। इसने कर्मा प्रकार की ओर कर्माणि प्रकार को आकर्षित किया है जो पहले की अपेक्षा ऋ में लगभग बहुत है भी और जो प्रभाव की दृष्टि से प्राय मनोवांछित शैली के साथ सम्बद्ध किया जाता है अथर्व० में नवीन रूप के विकल्प-चिह्न मिलते हैं इस प्रकार का विस्तार श्रौत पुरुषि तक होता है।

इसके अतिरिक्त प्रारम्भ से ही संस्कृत में अन्तिम मूर्धन्य प्रकार के मध्य-अनुनासिक का प्रसार -स् युक्त विकरणों तक हो गया था मनांसि (तुल गाथा० मनाई) हवींषि यह तो बाद को परिणाम दृष्टिगोचर होता है कि अनुनासिक व्यंजन अथवा मध्यवर्ती व्यंजन से मुख्य काल नपु० बहुवचन का कार्य संपन्न होता है इसके विपरीत पूर्व-मध्यम काल अब्दाश की दीर्घ श्रेणी परंपरानुगत विशेषता का प्रयोग बन्द हो जाता है उससे अथर्व० बृहन्ति पा० -ऋन्ति -अन्ति -युन्ति।

चेतन कर्ता इस दृष्टि से वैदिक भाषा बहुत प्राचीनता-प्रिय है *ए श्रेणी के व्यंजन-संबंधी विकरणों के पश्चात् -अ आन (आपो) गिरय (गरया) दीवन्तः, तुल० म पूर्वयूवन्तो -आ विकरणयुक्त और -आ युक्त स्त्री० में अस्वा (अस्प) सेना (हएन तुल उट्‌वर्ध) और इसी प्रकार बृहनौ (बर्रेजैतीस) -अ युक्त पुल्लिङ्गों में इसके अतिरिक्त प्राचीन व्याप्तियुक्त प्रत्यय मिलता है अदवास (अस्पर्डन्हा) जो वैदिक में कुछ स्त्री० विशेषणों तक व्याप्त हो गया है (सूमि-भास)।

वेतन कर्म॰ अविकरण-युक्त -अ — अ॰ -औ सिद्धांततः युक्त विकरणों के पश्चात् अप (आपो) औजत (तुल॰ दुरुमंगहरो) मृग (किन्तु म्यारो)। स्वर-संबंधी विकरणों का संभवतः यही रूप है जो भारतीय-ईरानी में किन्तु कुछ थोड़ा-सा अन्तर है मन्(इ)मान (गाथा॰ मसेम्यांग् अ॰ मन्योम्स् व सं॰ मांस् च) सना (तुल॰ उर्वरुवे) और साथ ही मस्वी (बदजहीसे) किन्तु गिरीम्, ऋतुम् को गैरीसे ऋत्सृसे।

करण॰ सं॰ -भि — अ॰ बिसे। विकरणयुक्त में -एभि और -ऐ, का साम्य मर्द(इ)भै-, मर्द(इ)येभिः, अ॰ मसेयाइस्, पु॰ फ़ा॰ मरतिऐबिस् (फारसी में केवल यही अकेला प्रयग है, अवेस्ता में छयमय बिल्कुल नहीं है)।

अपादान -स्या — अ॰ -ब्यो।

संबंध॰ इसमें भी वैदिक भाषा भारतीय-ईरानी की स्थिति सुरक्षित रखती है। व्यंजन-संबंधी विकरण -आम् — अ॰ अम्, प्राय द्वयक्षरात्मक अपाम् (अपऽम्) बृहताम् (बेरेजतअम्)। स्वर-संबंधी विकरण -नाम् — पु॰फ़ा -नाम् अ॰ -नअम् मर्त्यानाम् (मर्श्यानऽम् तुल॰ पु॰ फ़ा॰ बगानाम्) सर्वयजाम्, (तुल॰ वजोरेनअम्) गिरीणाम् (गैरिनअम्) पुरूणाम् (पोउरुनअम् पु॰ फ़ा॰ पररूनाम्) और अकेली भारतीय भाषा में गौनाम् को गवाम् (गवअम्) के निकट है और विशेषतः -र् युक्त विकरण नृणाम् को नराम् (नरअम्) के निकट है, पितृणाम् (तुल॰ दुग्धइयम्) विकरण युक्त में -आम् वाले कुछ उदाहरण वेद और अवेस्ता में सुरक्षित हैं (देवाम् बएर्सईयम् आदि)।

अधिकरण दोनों भाषाओं में बराबर सं॰ -सु(-षु) — अ॰ -हु फ़ा॰ -सु-शु-हु (जिसके साथ प्रायः -अ परसर्ग जुड़ा रहता है जो अन्य रूपों में दृष्टिगोचर होता ही है)।

नाम-संबन्धी रूप-रचना

तो संस्कृत का प्राचीनतम संज्ञा-रूप सम्यक् दृष्टि से पुरातन है और भारतीय-ईरानी के निकट है उसमें वह बिना उस रूप रचना के ही मिलता है जिसे ठीक-ठीक क्रियाविशेषणजात काक कहते हैं जो ईरानी कैल्टिक और ट्यूटोनिक को छोड़ कर सब जगह लुप्त हो गया है तै सं॰ मिथुनौह्ः- वर्सीह- पार्मौसू तुल॰ अ॰ पुसेअंइबुये सं॰ कृमिसेसीबर। किन्तु साथ ही उसमें कुछ ऐसी नवीनताएँ हैं जो साधारण पुनर्निर्धारण नहीं है और जो स्पष्टतः संस्कृत को ईरानी से पृथक् करती हैं -आम युक्त संप्र॰ एक पु॰ नपुं॰ का -औ युक्त अधिकरण का -औ युक्त द्वि॰ का सामान्यीकरण,

द्वि० के तिर्यक् प्रत्ययों अन्त्य -म् और विशेषतः -न् का करण० एक० और कर्ता० कर्म० बहु० के विविध रूपों में कार्य।

वेद में प्राचीन रूपों के आने से यह निस्संदिह प्रकट नहीं होता कि सामयिक भाषा की वास्तविक स्थिति क्या थी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के पाठ में पाये गये पुरातनत्व के सम्बन्ध में सामान्य अनुमान का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उसमें एक ही कार्य के लिये विभिन्न रूप हों। अथवा मध्यकालीन भारतीय भाषा में चली आ रही एक रीति के अनुसार, बहुत-से प्राचीन रूपों का नवीन रूपों के सान्निध्य में प्रयोग करने का उद्देश्य साहित्यिक प्रभाव उत्पन्न करना रहा है उसी से है विश्वा जातानि विश्वा वसूनि विश्वा द्वेषांसि और विपर्यस्त रूप में विश्वानि दुर्गा इसी प्रकार भी पूर्वा... पर्वाणि को कौषि पदों से भिन्न है पुरु वसूनि और पुरूणि वसु। पुरातन रूप, श्लेष-मध दूसरे के कारण चमक उठता है यही कारण है कि ऊपर् विश्वानि १ ६४५, वर्ता...दीर्घमुत् ८. २५ १७ जैसे रूप मिलते हैं। छंदों में यह प्रणाली मिलती है कर्ता० बहु० की तुलना की जा सकती है

बृहद् वदेम विदथे सुवीराः २ १ १६

तथा सुवीरासो विदथम् आ वदेम २ १२ १५

अथवा करण० बहु०

मातम् अक्तेभिर् अश्विना ८५७

तथा आदित्यैर् यातम् अश्विना ८ ३५ १३

अथवा और भी

अङ्गिरोभिर् आ गहि यज्ञेभिः, ऋ० १० १४५

तथा अङ्गिरोभिर् यज्ञियैर् आ गहीह अथर्व० १८.१५९

वास्तव में प्राचीन रूपों की संख्या अधिक नहीं मिलती अधिक प्रबल कारण की वजह से अथर्ववेद मुख्य पुरातन किन्तु सामाजिक प्रयोग की दृष्टि से भिन्न में वह नवीनता प्रदर्शित होती है जो लौकिक स्थिति की ओर झुकी हुई भाषा में दृष्टिगोचर होती है। अस्तु, रूपों की तालिका के आधार पर ऋग्वेद की भाषा-सम्बन्धी स्थिति पर कुछ सोचना उचित होगा उनकी तुलनात्मक गणना और उनके साहित्यिक प्रयोग की समीक्षा से यह प्रकट होता है कि बहुत बड़े अंश तक वे पहले के अवशिष्ट रूप हैं।

वेद के स्वयं ऋग्वेद में यथेष्ट रूप में प्रचुर, विस्तार-प्राप्त रचनाओं के प्रमाण मिलते हैं जैसे गवाम् के निकट संबन्ध० बहु० गोनाम् 'वायुप' से निकट अपादान० एक० वायो अथवा और भी महिना भूना प्रकार का करण० एक०। अजीब बात यह है कि लौकिक संस्कृत में जो अव्यवस्थाओं की संख्या कम करने प्रवृत्ति प्रकट करती है कई बार

परंपरागत रूपों के प्रति मोह पाया जाता है; उदाहरणार्थ उसमें केवल मघवान् सुरक्षित है यह भी गोनाम् की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से। तो मध्यकालीन भारतीय भाषा (पाली गोनं पुंभ) परिपक्व रूप की पश्चिम प्रमाणित करती है यह बात कि करण० बहु० विकरणयुक्त में केवल -ऐः सुरक्षित रहता है तो उस समय समस्त सदृश रूप -एभिः की विजय निर्धारित करते प्रतीत होते हैं (जिसकी पुष्टि मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा होती है) जिससे संभवतः यह प्रदर्शित होता है कि जो नवीनता थी और जो वास्तव में भारतीय थी पुरानी फारसी के प्रयोग की दृष्टि से समानान्तर थी न कि एक-सी।

वास्तव में क्लैसीकल संस्कृत की विशेषता कम-से-कम जिसमें व्याकरण सुरक्षित है—क्योंकि शब्दावली तो नयी-नयी और प्रचुर मात्रा में होती जाती है—असमृद्धता है। सांस्कृतिक भाषा संस्कृत ने स्वेच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक ग्रामीण भाषाओं का अनुसरण किया है अथवा उन्होंने भारत व अन्य यूरोपीय भाषाओं की भाँति समृद्ध भागे ऐतिहासिक रूप च । का आदर्शीकरण और सरलीकरण किया। यही कारण है कि संस्कृत ने जैसा देखा जा चुका है -एम -औ -आमि के सामान्य -आ युक्त संक्षिप्त प्रत्ययों का परित्याग कर दिया है -इ और -उ युक्त विकरणों में उसने अर्थ ~ प्रकारों का परित्याग किया -अन् युक्त विकरणों का प्रत्यय-विहीन अधिकरण लुप्त हो जाता है जानबूझ कर रखी गयी पुरातनता को छोड़ कर, और विकरण स्वयं अन्य विकृत रूपों की स्वरान्विति ग्रहण करता है (मूर्धनि रात्रि नाम्नि) -अन् वाले विशेषणों के -अ युक्त संबोधन का स्थान अथर्ववेद का -अन् ग्रहण कर लेता है। -उ और -ऋ से युक्त नपुं में -न् का विकरण केवल सभी आदि स्वर वाले प्रत्ययों से पूर्व रहता है और -अन्ति -आसि की अनुनासिकता -उम्नि आदि तक व्याप्त हो जाती है कृदन्तों का भाषा-काल पुल्लिंग में घुलमिल जाता है अस्ति सन्त की तरह। किन्तु ये ही अकेले स्फुट रूप नहीं हैं जो अपने को स्थिति के अनुकूल बना लेते हैं, ये ही वर्ग-बद्ध समुदाय नहीं हैं जो अपनी रचना करते या परस्पर निकट आ जाते हैं। स्वर-संयुक्त मूल विकरण व्युत्पत्ति वाले शब्दों में घुलमिल जाते हैं जैसे ऋग्वेद से पुल्लिंग गोपा- व निकट गोप (कर्म० बहु० गोपान्) है और स्त्री० प्रजा को पु० स्त्री० विविध के निकट है नवीन रूप तो केवल क्लैसीकल संस्कृत में मिलता है भूमि और देवी के लिए केवल एक लिंग में मिल जाते हैं जिसमें वे -आ वाले स्त्री० के संज्ञा-रूप के साथ सादृश्य को प्रमुख बना देते हैं।

दूसरी ओर वे धातुएँ जिनका मूल दीर्घ स्वरान्त वाला होता है उनके साथ सम्बद्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं जिनमें स्वर ह्रस्व है। आकृति-मूलक परिस्थितियों से इस कार्य में सहायता मिलती है वास्तव में दीर्घान्त रूपों की रचना में संक्षिप्तीकरण

हो जाता है जैसा कि एक ओर सेनजित् और पृथिविष्ठा में मिलता है और दूसरी ओर मोप में। निस्सन्देह अन्त्यों की दुर्बलता न जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में देखी जाती है उसे बराबर सहायता पहुँचाई है। अंत में -न् युक्त संज्ञाओं का -श्मन् वाले संज्ञाओं में मिल जाने की प्रवृत्ति मिलती है जिससे प्रथम में कर्म० बहु० -ईन्, द्वितीय में संबंध० बहु० -ईनाम्।

परिवर्तन-क्रम कम होते जाते हैं जिससे हैं राजान जैसे कर्म० -अत वाले वर्तमान कालिक कृदन्त के कर्ता० बहु० उसी से वैयाकरणों द्वारा संपादित नियमों के रहते हुए भी अन्ती और -अती वाले कृदन्तों के स्त्री० के बीच वास्तविक अनिश्चितता है।

सामान्य परिणाम सुव्यवस्था और अत्यधिक स्पष्टता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

विकरणयुक्त और अविकरणयुक्त का पारस्परिक विरोध पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हो जाता है करण० एक -एन -आ संबंध० बहु० -आनाम् -आम् करण० बहु -ऐः -भिः। वैदी प्रकार का सामान्यीकरण और -इ -उ और -ई, -ऊ युक्त रूप रचना के स्वयं मिश्रण एक विचित्र स्त्री विकरण की रचना की प्रवृत्ति से निकलते हैं, जिसम जिह्वा के साथ जो दूसरी ओर चन्द्रमा (-स् युक्त प्राचीन विकरण) और स्वयं दुहिता (-र् युक्त विकरण) को आत्मसात् करने की सम्भावना है सबल होने की समावना है। इस स्त्री० समुदाय के विपरीत पु नपुंसक० समुदाय अपना सकोच कर लेता है क० -आन्ति (सन्ति पूतान्ति) -अन्ति हो जाते हैं जिससे पु० -अन्त (पदपाठ सन्ति लभर्व बृहन्ति है ही किन्तु महान्ति महान्त बने रहते हैं) साथ ही साथ उसका अधिकाधिक स्पष्ट विरोध स्त्री० समुदाय से मिलता है जो विकरणयुक्त रचना के प्रयोग के प्रसार के अनुपात में है।

अथवा इस रचना को मूल रूपों से वास्तव में लाभ पहुँचता है। इस प्रकार के पृथक्त्व की एक बात रूप रचना की कुछ अनिश्चितताओं में मिलती है उदाहरणार्थ पादम् पादौ पाद् और पाद से भली भाँति सम्बद्ध रहता है तथा पदा पद् या पद से दूसरी ओर, व्युत्पत्ति वाले विकरणों के अस्तित्व में जैसे -वृध -वृध अपने अविकरण युक्त को दुहरा रूप प्रदान करते हैं अत में उन समुदायों में जो भारोपीय हैं ही जैसे दम और दम्।

निस्संदेह प्रथम प्रमाण जो विकरणयुक्त व्युत्पत्ति की वैदिक भाषा का निर्माण करता है मुख्य कामों के एकाक्षरों को अलग करने में है वारि जो वाः का स्थान ग्रहण कर लेता है, पु मान् जिससे पुंस् कर्ता० का काम निकलता है, एक ही समस्या के अं

साधारण समाधान है। इसके विपरीत भारतीय-ईरानी में मधु॰ ह्वयम् अ॰ पर्ट्‌मएम्, वैदिक भाषा का उपक्रम् (जिसका विकरण अन्य कालों तक प्रसारित हो जाना चाहिए), आस्येम् और स्त्री॰ पृतना (और फलत पृतनासु की पृत्सु के मिल है) है ही नासिका, कर्ता॰ द्वि॰ नसि नसि पु॰ पदि को संभवत पन्‌ पैर (पद् का चार द्वारा विभाजन भारत में अब भी प्रचलित है) से मिलका नाम लिया जाय तो मांस तुल्य है मांस् के जिसका अर्थ वास्तव में महीनां साथ ही चन्द्रमा हो सकता है (कर्म॰ बहु॰ में यह भेद बना रहा प्रतीत होता है) और हृत् हाम्य में दन्त दत् का दूसरा रूप है करण॰ बहु॰ दद्भि अन्त में नर (रचना म ÷ वैश्रवण प्रमाणित) वीर सहित अभि॰ और आदि के मुख्य काल प्रदान करता है।

बाद को यह व्याप्ति सभी स्थितियों तक में पायी जाने लगती है ऋ॰ उदन्‌ उदन्, वार्मों के निकट आस्येन विधिन अधि आस्ये अथर्व॰ मांसाय मांसानाम् तत्पश्चात् नवीन शब्द सामने आते हैं श॰ हृदम् उपनि॰ नसतम्। साथ ही विकरणीकरण एकाक्षरों तक ही किसी प्रकार भी सीमित नहीं है।

अनेकाक्षरात्मकों में अनुनासिकों का परिवर्तन क्रम वर्मन् के निकट वर्म की उत्पत्ति के कारण है महा(नि) से निकलता है अहनाम् के निकट संबंध॰ बहु॰ अहानाम्, शीर्षा (नि) नपा॰ एक॰ शीर्षत के द्वि॰ शीर्षे और बाद को अथर्व शीर्षम् तै॰ सं॰ में भी कर्ता॰ पु पाया जाता है किन्तु करण॰ के लिये उसमें मूर्धन है ही (का॰ सं॰ मूर्ध्ना)। -अस्- और -अ युक्त विकरणों का सह अस्तित्व जैसे वनस् और वन में वर्नम्-नामस् के निकट मन्-नाम- आदि को प्रोत्साहित करता है। किन्तु व्याप्तियां बिना किसी विशेष कारण के अधिक होती जाती हैं केवल बहुत शीघ्र ही अपने को -तर वाली संबंध सूचक संज्ञाओं से पृथक कर लेता है ऋ॰ विप्तम् नपुं॰ जिससे विप्त्म् स्त्री मुख्य काल उपलब्ध होता है जिसका रूपों तक प्रसारित हो जाता है (साम॰ विप्त्में ऋ॰ विप्टीप) तत्पश्चात् उत्पन्न होते हैं अथर्व॰ वक्तृ महाकाव्य का आमिष मुद्गर तुलनात्मक योगस आदि।

इसी प्रकार -आ स्त्री की विशेषता प्रकट करने का कार्य करता है ऋ॰ सपत्नि-, अथर्व॰ अप्सरां काले संबोध॰ 'कासी' जो नपा॰ कास के निकट है ऋ॰ उपम् और मा सं सर्पा यजु॰ विद्या पाणिनि निशा। इसके विपरीत -आ पु युक्त विकरणों का प्रचलन बन्द हो जाता है पयेष्ठा रथेष्ठा के सदृश है किन्तु ऋ॰ के विपश्चि- के बाद अथर्व॰ का विषय आता है तथा बाद को पथ प्रकट होता है। महान्तम् के निकट कर्म॰ महाम् भी पाया जाता है, किन्तु कर्ता एक॰ में केवल महान् और महः (स्त्री॰ मही) है विकरणयुक्त स्वर समासों में स्थान प्राप्त कर लेता है रथर्मीम-, रथेष्ठेन

कर्म० घोषम् जो घोषाम् के निकट है, एक लिंग की रचना इसी प्रकार होती है जो प्रथां आदि का विरोधी है।

दो संस्कृत की नवीनताएँ एक ऐसी प्रणाली के मध्यवर्ती समुदायीकरण तक जाती हैं जिसका कार्य रूप और दुर्बलता और भी अधिक प्रमुख हो जाती है क्योंकि बोलचाल की भाषा का विकास तीव्रता के साथ हो गया था। वास्तव में इन आंशिक सुधारों के कारण एक ऐसा अधिक सामान्य परिवर्तन उपस्थित होता है जिसका वास्तविक रूप मध्यकालीन भारतीय भाषा में दृष्टिगोचर होता है।

सर्वनाम

सर्वनाम दो प्रकार के हैं पुरुषवाचक जिनकी एक विशेष रूप रचना होती है, और वे सर्वनाम जिन्हें विशेषण कहा जाता सकता है जिनके प्रकार हो सकते हैं, और जिनकी रूप-रचना में कुछ बातें नाम-संबंधी संज्ञा-रूप से मिलती-जुलती हैं। इन दोनों वर्गों में संस्कृत में महत्त्वपूर्ण नवीनताएँ स्पष्ट होती हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

मुख्यकारक कर्ता० अहम् (अ० अज़ेम्, पु० फ़ा० अदम्) त्(उ)वम् (गाथा० त्वेम्, पु० फ़ा० तुवम् गाथा० तू, वाक्यांश के आदि में प्रमाणित संस्कृत में नहीं मिलता)। —कर्म० माम् (अ० मृनम् पु० फ़ा० माम्) प्रत्ययांश मा (अ० मा) त्(उ)वाम् (अ० थ्वाम्, पु० फ़ा० थ्वाम् एकाक्षरात्मक), प्रत्ययांश त्वा (अ० थ्वा)।

करण त्(उ)वा जिसका असाधारण रूप में ऋ० में प्रमाण मिलता है (अ० थ्वा) भारतीय रचना त्(उ)वया के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है उत्तम पुरुष में मया कभी नहीं मिलता।

संप्रदान शुरू से ही मह्यम् तुभ्यम् भारतवर्ष के लिये उचित अनुनासिक सहित। पहले के रूपों में अ० तुभ्य कुछ स्थिति में पढ़ा जाता है, मह्य छंद के कारण प्राय दिखाई पड़ जाता है। प्रथम तो मूल के भारतीयकरण के कारण है, तुल० गाथा० तैब्या इसके विपरीत दूसरा अ० मैब्या की अपेक्षा अधिक पुराना है, तुल० लै० मिही जो टिबी से भिन्न है।

अपादान परंपरा से प्राप्त रूपों के निकट मत्, त्वत् (अ० मद्, त्वद्) से जो संक्षिप्त और समास में उत्पन्न होते हैं ऋ० ममत् (संबंध० मम के आधार पर) और अथर्व० मत्त जो महाकाव्य से स्पष्ट हो जाता है।

संबंध० तव (अ० तव) भारतीय-ईरानी है मम् वास्तव में भारतीय है (अ० मन पु० फा० मना) और संभवतः संस्कृत में होने योग्य सावर्ण्य द्वारा उत्पन्न होता है।

प्रत्ययांश रूप मे ते (गाथा मोइ तोइ, पु फा० मैम् तैम्) संबंध० और संप्रदान के लिये समान हैं यह ग्रीक प्रयोग है से कर्म० के कुछ प्रयोग वेद में और फिर मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलते हैं जो उस प्रवृत्ति का अनुसरण करते हैं जो इधर की अवेस्ता में और बाद की लिथुआनियन में दिखायी देती है।

अधिकरण ईरानी में एक भी विशेष रूप नहीं है। ऋ० मयि किन्तु त्व(त)मे अथर्व० के त्वयि के पक्ष में लुप्त हो जाता है।

द्विवचन

स्वयं संस्कृत में सिद्ध है। कर्त्ता के लिये भारोपीय में एक ओर तो था *वे ऋ० ग्री० ह्वावस् का प्रत्ययांश अ० कर्म० ग्री ह्वावस् वा और अनुनासिक सहित ऋ० कर्ता० ग्री० ह्वावस् वाम् कर्म० सप्र० संबंध प्रत्ययांश वाम् दूसरी ओर था *यु, जुब साहि० यु -तु, जिसके दर्शन युवम में होते हैं, कर्म० युवाम् संबंध ऋ० युवाकु (रनू स्त्युडिया इंडो-ईरानिका' पृ० १६५ के अनुसार "युव्-की का निकला हुआ) तुल० अ० यवाक्‌र्अम्। कर्म गा आर्जमाला से आकृतियों का यह प्रकार स्पष्ट हो जाता है कर्ता कर्म० आनाम्। आम् और युव् के आधार पर ये सिद्ध बड़ी कठिनाई से बनते हैं आवाभ्याम् युवभ्याम् और युवाभ्याम् वा उसे छुपा देता है युवों के स्थान पर शीघ्र ही तै० सं युवयो (तुल० ऋ० एनो) अथर्व पनयो आवयो अपा० युवद् तै सं० आवद् हो जाते हैं।

प्रत्ययांश भी ने भारतीय भाषा के अनुकूल दुहरा प्रत्यय ग्रहण किया है (ना संबंध ग्री० नूवों कर्त्ता० कर्म) वा संभवतः एक बार संबंध० की भाँति सम्मावित ने संस्कृत अनुनासिक का सामान्यीकरण कर दिया है वाम्।

बहुवचन

संबंध० भारतीय-ईरानी है अस्माकम् युष्माकम् अ अहमाकअम् युष्माकअम् और इसी प्रकार प्रत्ययांश न व अ० मो वो भारतीय-ईरानी में ही बराबर है अपादान अस्मद् युष्मद् अ० अहमत् युष्मत् तथा रूपमय अनुनासिक में संप्रदान (अस्मभ्यम्

म० अह्यैम्या)। किन्तु कर्ता० मे यूयम् (तुल० गाथा › यूर्ं का विस्तृत रूप यूर्ंआम्) वयम् (प्र० अएँम् पु० फ़ा० वयम्) के सावर्ण्य का फल है। अन्य रूपों में सामान्य प्रत्यय मिलते हैं अस्मान् तुल० गाथा० अह्मा म० अहम युष्मान् स्त्री० प्र० हा मम युष्मा करण और अधिकरण (अस्माभि अस्मासु) में रचनाएँ नितान्त नवीन हैं (तुल० अ० ख्शैमा करष०)। इसके अतिरिक्त मन्य विकृत रूपों अस्मे युष्मे को अलग करते हैं जो 'मे ते' के आधार पर स्फुट रचनाएँ हैं ब्राह्मणों में निश्चित रूप से नहीं रहते।

सर्वनामजात विशेषण

संस्कृत में कुछ ऐसे सर्वनाम हैं जिनका लिंग परिवर्तनशील होता है किन्तु रूप रचना की दृष्टि से विशेष्यों और विशेषणों से केवल आंशिक साम्य रखते हैं। वे अधिकतर भारोपीय से आये हैं अथवा भारोपीय अर्थों से निर्मित हैं।

(१) संबंधवाचक य अ० य। ईरानी में वह सुरक्षित नहीं रहा और पुरानी फ़ारसी में तो उसका स्थान निश्चयवाचक ह्य त्य (स० स्य त्य) ग्रहण कर लेते हैं भारतीय-आर्य ही भारोपीय भाषाओं में एक ऐसी भाषा है जिसमें वह अब तक सुरक्षित है और उसे अपने दुरूह वाक्यांश का आधार बना रखा है (साथ ही उससे निकले विशेषणों और क्रिया-विशेषणों को)।

(२) प्रश्नवाचक क- कि- (और क्रिया-विशेषणों में कु-) संस्कृत में कंठय (भारोपीय का कंठ्योष्ठ्य) का ध्वनि-संबंधी परिवर्तन कम नहीं मिलता क कद् (अ० कअो कद्) के निकट उसमें अ० चँइश होमरिक ग्री° तैसो के अनुरूप अथवा चित्, किम् ग्री° तिस् के अनुरूप नहीं वरन् कस्य कि- (ग्री० हाप क्स् मांकि नकि वाले समुदायों को छोड़ कर) किम् का कीम् है चित् (अ० चित्) केवल निपात के रूप में आता है।

अनिश्चयवाचक ईरानी की भांति द्वित्वयुक्त प्रश्नवाचक के रूप में अथवा प्रश्नवाचक (अकेले या संबंधवाचक के बाद) के रूप में आता है जिसके बाद म च और विशेषत चिद् बाद को आये रहता है।

विभिन्न आवृत्तिमूलक अथवा निश्चयवाचक जिनकी भारोपीय से प्राप्त विशेषता कई विकरणों का योग है जिसमें एक चेतन कर्ता० एक की दृष्टि से प्रधान होता है।

आवृत्तिमूलक स( ) सा त भारोपीय है ग्री द् ओम् दीर्घ ए तों। उसका प्रयोग प्राय होता है। उसमें जोर देने का आशय हो सकता है और साथ ही अपने को इतना दुर्बल बना सकता है कि वेद में स निपात की तरह आता है और गद्य में उसे साधारण उपपद के रूप में माना जा सकता है, यद्यपि वह स्वयं भारतीय-आर्य में उपपद के रूप में था। एक व्युत्पत्ति वाला रूप है स्य त्य जो अ० में मुख्य काल के लिये लगभग

सुरक्षित है और जो जीवित नहीं रहा (उसके कुछ अवशिष्ट चिह्न पाली में दृष्टिगोचर होते हैं) पुरानी फारसी में अनुरूप सर्वनाम संबंधवाचक का काम देता है और एक दीर्घ रूप जो साथ ही भारतीय-ईरानी है ही एष एत अ० अएँसे, अएत, अवस्त सामान्य है।

निकट वस्तु के लिये निश्चयवाचक भारतीय ईरानी से लिये गये हैं और अ इन दो विकरणों से बना है एक० पु० नपुं० अयम्, कर्म० इमम् संप्र० अस्मै करण० अना जिससे नवीन रूप अनेन आदि, तुल० अ० अएम् इमॅम्, अहमाइ करण० एक गाथा० अना बहु० गाथा आइश्, अ० अनाइस् आदि। भारतीय-ईरानी निपात -अम् वैभव को मिलेगा जो पुरुषवाचक सर्वनामों और साथ ही अव्यय स्वयम् (अ हवए) में मिलता ही है। कर्ता० कर्म० नपुं० इदम् स्फुट रूप में मिलता है अ० ईद् सर्वत्र संस्कृत इत् की भांति निपात है किन्तु इदम् संभवतः भारोपीय है तुल० लै० आइडेम को इमेम् कर्म० के निकट है। संस्कृत में भी एक विकरण एत है जिसका अ जैसा कार्य इस बात का अनुमान करने की स्वतंत्रता देता है कि वह एक निपात संभवतः भारतीय-ईरानी के बाद अ हो जाता है यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि पहलवी ऐम्, फ़ारसी इन् ने जिसका प्रयोग कर्तृकारक में होता है यह महत्व गौण रूप से धारण किया है।

दूरस्थ वस्तु के लिये निश्चयवाचक में केवल मुख्य काम ही भारतीय-ईरानी है या कम-से-कम भारतीय-ईरानी अंशों से निर्मित है जहाँ तुल अ० हाव पुरानी फ़ारसी हौव् किन्तु अब जिससे ईरानी सिद्ध को पूर्ण करती है केवल विचित्र भाषा० अविकरण त्रि जहाँ न दृष्टिगोचर होता है और यदि अमु और अमि (सभी मि कर्ता० एक० और बहु० कोणीम् आम्) के दूरवर्ती सदृश रूपों की खोज की जाय तो उनका रूप उनका सम्बन्ध अन्धकारपूर्ण मिलेगा कर्मकारक संबंधी मंत्रों में एक समीपवर्ती विकरण मिलता है (अपर्व आमोंहुम् जो सां रवम् के विरोध में है) किन्तु उसका व्यापार भिन्न है।

प्राचीनतम संस्कृत में ही कुछ पुराने भग्नावशेष मिलते हैं जिनका आगे आने वाले इतिहास के लिए कोई महत्त्व नहीं है।

भारोपीय की भाँति संस्कृत के इन सर्वनामों की रूप-रचना की विशेषता कुछ खास प्रत्ययों के (एक० नपुं० तत् अ० तत् लै० इस्-तुड ग्री० तुओं कर्ता० बहु पु० तें अ० तोइ ते लै० इस्-टि ग्री० तुमोइ) और विकृत रूपों के मध्यवर्ती स्वरमात्र के कारण है एक० पुल्लिंग नपुं० में -स्म (संप्र० तस्मैं अ० अहमाद, ओल्ड प्रस्मेइ जो भारतीय ईरानी में अन्य विकृत रूप तक प्रसारित हो जाता है अधि० तस्मिन् अ० अहमि

यथा० अस्मात् अ० अहमात् (जो निपात आद् पाया जाता है के निकट है) स्त्री० -स्य् (एक० अस्यै अ० ऐह्‌हाइ, तुल० पु० प्रथुन स्टेसिमाइ आदि) सप्तम० बहु० म -सु पु० ऐषाम्, अ० अएषेंअम् पु० प्रथुन स्टाइसन् स्त्री० आसाम् गाथा आअहूअम् तुल० मै० एषाम्म।

भारोपीय में व्यक्त एक परंपरा के अनुसार, कुछ विशेषण सर्वनामजात प्रत्ययों के साथ थोड़ा-बहुत पूर्ण रूप से कम प्रयुक्त हो जाते हैं अन्य उसे पूर्णतः अ० अन्य की भाँति बना देता है इसी प्रकार विश्व और अ० वीस्प- के संबंध में है सिवाय इसके कि नपुं० एक का मुख्य कारक विश्वम् अ० वीस्पॅम् है, और यह कि अ० (और साथ ही गाथाओं) से कुछ नामवाची प्रत्यय उत्पन्न होते हैं पर्यायवाची सर्व (तुल० अ० हौर्व) संस्कृत में केवल सर्वनामजात रूप-रचना ग्रहण करता है इसके विपरीत जब कि अ० स्व में यह रूप-रचना होती है तो संस्कृत स्व में उसका केवल अल्पावशेष है। फलतः कुछ असमानताएँ मिलती हैं किन्तु संस्कृत में सर्वनामजात रूप-रचना के प्रचलित होने की प्रवृत्ति मिलती है यथा उत्तमत् अपर्० कतरत् या अ० कतारॅम् ग्री० पॉतिरोन् से भिन्न है कर्ता० बहु० पु० उत्तरे, उत्तमें परे पूर्वे आदि क्लैसीकल भाषा में उसका और भी विस्तार मिलता है, कुछ अन्यतों के साथ और उत्तर मध्यकालीन भारतीय भाषा में वह काफ़ी अच्छी मात्रा में मिलती है (अशोक० उभयेसं आदि) और साथ ही अधिकरण और अपादान एकवचन के प्रत्ययों का संज्ञाओं की रूप-रचना में विस्तार मिलता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञा

प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा

संस्कृत में दृष्टिगोचर होने वाले सामान्यीकरण की गति वास्तविक भाषा में ध्वनि-संबंधी परिस्थितियों के कारण और भी तीव्र हो जाती है।

व्यंजन-संबंधी समुदायों के लोप या योग-च्युत हो जाने के कारण उनकी परिवर्तन क्रम वाली अपनी स्पष्टता का विनाश हो जाता है। यद्योक० पता भाषा के क्षेत्रों के अनुसार छकब० में राय्(त्)यो अथवा ठायिने है, जिनमें एक ऐसे स्वर को स्थान प्राप्त होता है जो अत्(त)मन्- (आत्मन्) वाला नहीं है -र् युक्त विकरणों में पितृ का करण गिरनार में पित्(त)ना है जिसमें र् नहीं है (जिससे परिवर्तन-क्रम-विहीन पा० पितरा के पुनर्निर्माण की क्रिया है) जब कि अन्य स्थानान्तरों में ऋ से निकले हुए, किन्तु भिन्न स्वरों सहित पितुना पितिना उपलब्ध होता है।

संयुक्त-स्वरों क न्यूनत्व के कारण द्वि० का लोप शीघ्रता से होता है क्योंकि भी वाली विशेषता की पहचान संबंध० -ओ के साथ और, जो अधिक गंभीर बात हुई, कर्ता० एक -ओ के साथ हो जाती है। करण बहु० -एहि क अस्तित्व या पुनर्जन्म का भी कुछ कारण होना चाहिए, क्योंकि -ऐ -ए (उसके कुछ संदिग्ध उदाहरण बताये गये हैं) तक सीमित रहता है जो न केवल अधिकरण एक० था वरन् जिसने बहुवचन के रूप में कर्म० का भी काम दिया। अन्त में ह और -उ -धी जिसमें -ओ हो जाता है से युक्त समासों के अधि एक० की पहचान संबंध० एक० -ओ से हो जाती है उसी से शीघ्र ही करण (-उनो इसी प्रकार -ए के लिये -एनो) और, केवल क्रिया-विशेषण संबंधी (पा० रत्तो आदो) में सुरक्षित अधिकरण के आधार पर बनाये गये रूप का विकास और इस रूप का बहिर्गत होना पाया जाता है समासों के अधिकरण में सर्वनाम वाले प्रत्यय का आश्रय लिया गया है।

अन्त में और विशेषतः शब्दान्त्यों के परिवर्तन से अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण और पहले अनुनासिकों का जिससे कर्म० एक -अं पु नपुं० और स्त्री (-अम् -आम्) और एक का तत्पुरुष बहुवचन (-आन्) के साथ

1 दृष्टिर्द,॥ उससे ही -आन् युक्त कर्ता० पु० और -अन् (ह्रस्वों में)

युक्त नपुं० में साम्य दिखाई देता है और अन्त्य त् का लोप वास्तव में आत्मवत् का मोक्षवं का रूप धारण करने के लिये बाध्य करता है। अन्त्य -त् में इसी लोप से अपा० एक० -आत् की गड़बड़ मुख्य कारकों नपुं० बहु० अथवा स्त्री० एक० के साथ और -आ युक्त पुरातन करण के साथ उपस्थित होती है। तादि (तादृत्)-क का लोप इस शब्द को द युक्त फिर अनुनासिक विकरणों में स्थान प्रदान करता है पा० तान्नि इसी प्रकार मरुत्, परिषद् स्वर-संबंधी विकरणों में चले जाते हैं पा० मरु परिसा। अन्त्य व्यंजन वर्गों में सबसे अधिक दुर्बल अंत स् जो संस्कृत में अघोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि है ही -इ -उ युक्त पतन संज्ञाओं के कर्ता० एक० की अपनी विशेषता से युक्त करता पाया जाता है उसी से पतन और नपु० के बीच का भेद पूर्णतः लुप्त हो जाता है पहले कर्मा का (अग्नि अक्षि जिससे कर्म० अक्खिम् उत्पन्न होता है) तत्पश्चात् संभवतः अन्य कारकों का (अग्नी अक्षी जो अग्गयो अक्खीनि के निकट है) इनमें से जिसका संबंध -अ से उत्पन्न -ओ से है (मनो आदि में) उसके पुल्लिङ्ग रूप के कारण लिङ्ग के कुछ व्यतिक्रम बराबर मिलते हैं।

तो यह स्पष्ट है कि वर्तमानकाल संस्कृत में कर्मों के विकास से मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलने वाली अवस्था का केवल निकटस्थ या कहना चाहिए, दूरस्थ आभास प्राप्त होता है।

-अ युक्त विकरण

इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समुदाय है, एक तो क्योंकि उन्होंने व्यंजनान्त विकरणों की एक बहुत बड़ी संख्या को आत्मसात् कर लिया है दूसरे क्योंकि वे ह्रस्व और दीर्घ -इ- और -उ युक्त विकरणों पर निर्भर रहते हैं।

एकवचन

कर्ता० और कर्म०

पुल्लिङ्ग में घोष संस्कृत -ओ से पूर्व का रूप अघोष से पूर्व के रूप के साथ मिल गया है, जो स्वभावतः संवृत -अ में निहित रहता है जो विसर्ग से उस समय दीर्घ हो जाता है जब का सुना जाना बन्द हो जाता है। उसी से पा में प्रत्येक स्थिति में धम्मो है, और गौण रूप में पूर्वी बोलियों में अशोक विस्सी धमे।—कर्म० है धम्मं।

कर्ता० कर्म० नपुं० पा० रूपं। अशोक ने विस्सी में कर्ता० मगळे कर्म० संघर्ष रखा है यह सादृश्यमूलक नवीनता नपुं० जो बहु० में मिलती है, के लुप्त होने का चिह्न नहीं है। उसकी यही स्थिति सर्वनामों में है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञा

प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा

संस्कृत में दृष्टिगोचर होने वाले सामान्यीकरण की गति वास्तविक भाषा में ध्वनि-संबंधी परिस्थितियों के कारण और भी तीव्र हो जाती है।

व्यंजन-संबंधी समुदायों के योग या व्यंजन-च्युत हो जाने के कारण उनकी परिवर्तन क्रम वाली अपनी स्पष्टता का विनाश हो जाता है। अशोक० राजा शब्द के रूपों के अनुसार संबंध० में राञ(ञ्)ओ अथवा लाजिने है, जिनमें एक ऐसे स्वर को स्थान प्राप्त होता है जो अत्(त)मन् (आत्मन्) वाला नहीं है -र् युक्त विकरणों में पितृ का करण गिरनार में पित्(त्)ना है जिसमें ऋ नहीं है (जिससे परिवर्तन-क्रम-विहीन पा० पितरा के पुनर्निर्माण की क्रिया है) जब कि अन्य रूपान्तरों में ऋ से निकले हुए, किन्तु भिन्न स्वरों सहित पितुना पितिना उपलब्ध होता है।

संयुक्त-स्वरों के न्यूनत्व के कारण द्वि० का लोप शीघ्रता से होता है, क्योंकि भी वाली विशेषता की गड़बड़ संबंध -ओ के साथ और भी अधिक गंभीर बन गई, कर्ता० एक० -ओ के साथ हो जाती है। करण बहु० -एहि के अस्तित्व या पुनर्जन्म का भी कुछ कारण होना चाहिए, क्योंकि -ऐ -ए (उसके कुछ संदिग्ध उदाहरण बताये गये हैं) तक सीमित रहता है जो न केवल अधिकरण एक० था वरन् जिसने बहुवचन के रूप में कर्म का भी काम किया। अन्त में -अ और -उ -भी जिससे -ओ हो जाता है, से युक्त संज्ञाओं के षष्ठि० एक० की गड़बड़ संबंध० एक -ओ से हो जाती है उसी से शीघ्र ही करण (-उनो इसी प्रकार -ए के लिये -अनो) और, केवल क्रिया-विशेषण-संबंधी (पा० एत्तो आदो) में सुरक्षित अधिकरण के आधार पर बनाये गये रूप का विकास और इस रूप का बहिर्गत होना पाया जाता है संज्ञाओं के अधिकरण में सर्वनाम जात प्रत्यय का आश्रय लिया गया है।

अन्त में और विशेषतः व्यंजनों के परिवर्तन से अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण और पहले अनुनासिकों का जिससे कर्म० एक० -अं पु० नपुं० और स्त्री० (-अम्, -आम्) और एक० का तत्सम्य बहुवचन (-आन्) के साथ सादृश्य दृष्टिगोचर होता है उससे ही -आन् युक्त कर्ता० पु० और -अन् (हलन्तों में)

युक्त नपुं० में साम्य दिखाई देता है, और अन्त्य स् का लोप वास्तव में ओजस्वत् को ओजस्वं का रूप धारण करने के लिये बाध्य करता है। अन्त्य -त् के इसी लोप से अपा० एक० -वात् की गड़बड़ मुख्य कारकों नपुं० बहु० अथवा स्त्री० एक० के साथ और -आ युक्त पुराने करण के साथ उपस्थित होती है। तादि (तादृक्)-क का लोप इस शब्द को इ युक्त फिर अनुनासिक विकरणों में स्थान प्रदान करता है पा० तादिन् इसी प्रकार मरुत् परिषद् स्वर-संबंधी विकरणों में चले जाते हैं पा० मरु, परिसा। अन्त्य व्यंजन अंशों में सबसे अधिक दुर्बल अंश स् जो संस्कृत में अघोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि है ही -स -उ युक्त चेतन संज्ञाओं के कर्त्ता० एक० को अपनी विशेषता से युक्त करता पाया जाता है उसी से चेतन और नपुं० के बीच का भेद पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है पहले कर्त्ता का (अग्नि अग्निस जिससे कर्म० अग्निम् उत्पन्न होता है) तत्पश्चात् अंशतः अन्य कारकों का (अम्मी अक्खी या अम्मयो अक्खीणि के निकट है) इसमें से जिसका संबंध -अ से उत्पन्न -ओ से है (मनो आदि में), उसमें पुल्लिंग रूप के कारण लिङ्ग के कुछ व्यतिक्रम बराबर मिलते हैं।

तो यह स्पष्ट है कि अर्वाचीन संस्कृत में रूपों के विकास से मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलने वाली अव्यवस्था का केवल निकटस्थ या कहना चाहिए, दूरस्थ आभास प्राप्त होता है।

-अ युक्त विकरण

इसमें अत्यन्त महत्वपूर्ण समुदाय है, एक तो क्योंकि उन्होंने व्यंजनांत विकरणों की एक बहुत बड़ी संख्या को आत्मसात् कर लिया है दूसरे क्योंकि वे ह्रस्व और दीर्घ इ- और -उ युक्त विकरणों पर निर्भर रहते हैं।

एकवचन

कर्त्ता० और कर्म०

पुल्लिंग में घोष संस्कृत -ओ से पूर्व का रूप, अघोष से पूर्व के रूप के साथ मिल गया है, जो स्वभावतः संवृत -अ में निहित रहता है जो निस्सन्देह उस समय दीर्घ हो जाता है जब -ः का सुना जाना बन्द हो जाता है। उसी से पा० में प्रत्येक स्थिति में धम्मो है, और मीन रूप में पूर्वी बोलियों में अशोक० दिल्ली धमे।—कर्म० है धम्मं।

कर्त्ता० कर्म० नपुं० पा० रूपं। अशोक में दिल्ली में कर्त्ता० मंगले कर्म० मंगलं रखा है यह सादृश्यमूलक नवीनता नपुं० जो बहु० में मिलती है, के लुप्त होने का चिह्न नहीं है। उसकी यही स्थिति सर्वनामों में है।

करण

पाली के प्राचीन पाठों में वैदिक -आ के चिह्न अवशिष्ट मिलते हैं, जो अपादान० में भद्दे रूप में दृष्टिगोचर होते हैं यह तो -एन रूप है जो बहुत सामान्य है, जिससे टीकाओं में उन पर प्रकाश पड़ता है अशोक के समय में केवल नवीन अवमेय प्रकार ज्ञात थे।

संप्रदान और संबंध०

मध्यकालीन भारतीय भाषा से सम्प्रदान० लुप्त हो जाता है (दे० पीछे)। यह केवल विकरणयुक्त संज्ञा-रूप के स्पष्ट रूप में बना रहता है और यह भी उद्देश्य बताने के लिये (सम्पाय प्रकार) और विशेषतः वस्तुनाम जैसी क्रियामूलक संज्ञाओं में।

अशोक० का गिरनार की पाली से साम्य है पूर्व में -आये युक्त रूप मिलते हैं, जो स्त्री० के संबंध० अप्र० एक० से मिलते-जुलते हैं, और जो वास्तव में स्त्री० भाववाचकों के साथ मेल खाने के फलस्वरूप मिलने चाहिए संस्कृत में -अस् और -आ -त्वाम् -तव् और -ता के रूप में उसके समानान्तर रूप विद्यमान् हैं फलतः पाली के -तवे वाली प्राचीन क्रियार्थक संज्ञाओं में -तये -तवे -तुये वाले रूप और जुड़ जाते हैं, साथ ही -तु -ति और -ता विकरणों को भी मिला लेते हैं फलतः उसमें संब० स्त्री० के आधार पर एक रूप की उत्पत्ति होती है जो उद्देश्य बताने के लिये अपने को संज्ञा-रूप से पृथक कर लेता है अशोक० जीविताये हितविकाये उसके अ(द)अय[अ(द)ठ(ए)स मिलता है किन्तु संबंध० के रूप में] मो(क)खाये जो उन संबंध० भिन्न है जिनका वास्तविक मूल्य सम्प्रदान यम(स)स आदि के रूप में है।

अपादान

इस कारक का केवल विकरणयुक्तों में विशेष रूप था। अथवा अन्त्य व्यंजन के लोप के फलस्वरूप यह करण के साथ मेल खा जाता है पा० लोका—सं० लोकात् और *लोका। दोनों कारक अपनी कुछ मिलती-जुलती बातों के कारण संस्कृत में थे ही इसीलिए शिला पर खुदी हुई पाली भाषा में गिर० 'नास्ति हि कंमतरं सर्वलोकहितत्पा' कालसी 'न(ए)थि हि कंमतला स(व)वलोकहितेन' में साम्य मिलता है।

किन्तु करण-अपादान की उत्पत्ति लैटिन के अपादान-करण का विपर्यस्त रूप अपादान की अर्थ-विचार-संबंधी संभावनाएँ रखती है। यही कारण है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में एक प्राचीन क्रिया-विशेषणजात पर-प्रत्यय मिलता है जो संस्कृत में (किसी से व्युत्पत्ति नहीं) निर्देश प्रकट करता है सं० उत्तराहि (पाणिनि के भाष्यकारों के अनुसार वसति के साथ निर्मित) जिससे पा० कामाहि, प्रा० खेत्ताहि। विशेषतः यह -त के प्रयोग को विस्तार प्रदान करता है जिससे मूल प्रकट होता है, जिसस है मुक्खो, और फलतः अभ्यितो आदि प्राचीन प्रत्यय के साथ मिल कर, यह पर-प्रत्यय एक

धातातो प्रकार प्रदान करता है जो पाली में बहुत कम मिलता है किन्तु जा प्राकृत में प्रचुर मात्रा में है। अन्त में अधिकरण की भाँति और निरसन्देह उसके पश्चात् उससे पाली में एक सर्वनामजात प्रकार का प्रत्यय उत्पन्न होता है sm. बरम्हा जो वरा के निकट है।

अधिकरण

प्राचीन रूप ही चलता रहता है पा० धम्मे, अशोक० गिर० विजिते। किन्तु सर्वनामों में गृहीत प्रत्यय भी मिलता है पा० धम्मस्मिम् जो तस्मिं की भाँति है पा० और अशोक० गिर० धम्मम्हि, कालसी विजित(स्)सि, शाहबाज़० विजयस्पि। यह प्रत्यय नवीन प्रत्यय के साथ-साथ चलता है संभवतः यह -अ और -उ युक्त विकारों का अंश है। बौद्ध संस्कृत (दे० महावस्तु, I पृ० १७) में सम्मिलित प्रत्यय *-एस्मिन् के प्रमाण मिलते हैं।

बहुवचन

कर्ता

चेतन संज्ञाओं में संभावित रूप मिलता है पा० अशोक० देवा। अचेतन में स्मानि प्रकार के निकट प्रायः रूपा मिल ही जाता है (जो पूर्वी अशोक० में एक दूसरे प्रकार के विशेष्य से सम्बद्ध विशेषात्मक कृदन्तों द्वारा प्रमाणित प्रतीत होता है, दे० शिला II, वाक्यांश B और C, किन्तु D नहीं)। पाली में बाह्य-रूप धम्मासे वैदिक -आस की याद दिलाता है, हर हालत में अन्त्य स्वर का कोई कारण नहीं दिया जा सकता। पुल्लिंग कर्म०

प्राचीन रूप देवान्, जो *देवा तक सीमित रहता है, स्त्री० एक० में प्रतीत होता है (बौद्ध संस्कृत में उसके उदाहरण मिलते हैं) तत्पश्चात् *देवं तक एक० का बहु० दृष्टिगोचर नहीं होता फलतः अपरिवर्तनशील। क्या -आन् + निपात की भाँति कर्ता० -आस्-ए की भाँति विचार किया गया -आनि के पृथक होने के संबंध में नहीं बात है? यह -आनि अशोक० पाली और जैन प्राकृत में मिलने लगता है (ल्यूडर्स Sitzb. बर्लिन १९१३ पृ० ९९४)।

पाली और गिर० में सामान्य प्रत्यय -ए है, जा सर्वनामों से मिलना कठिनाई से माना जा सकता है, क्योंकि ये ते का मुख्य कर्ता० के लिये नहीं है जो कर्म० के लिये और साथ ही उसमें कर्म० का प्रयोग गौण है स्त्री० ता नपुं० तानि मूलतः कर्ता० और कर्म० होने के कारण ते जो संस्कृत में केवल कर्ता० है की तरह काम आते हैं, विशेषतः तैहि के विरोध ताहि से भिन्न तेसु, तासु में ता की भाँति काम आने वाले ते

की रूप-रचना को सहायता पहुँचाई है। सर्वनामों के संबंध में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह यह है कि ते के प्रयोग से अन्य संज्ञाओं के आंशिक सादृश्य का खण्डन नहीं हुआ कन्याहि जातीहि अम्मीहि ये कर्म० बहु० कन्या जाती (कर्ता० जातियो) अग्गी (कर्ता० अग्गयो) के अनुरूप है पुरिसेहि फलत कर्म० पुरिसे (कर्ता० पुरिसा) की याद दिलाता है।

करण०

प्रत्यय -ऐ से अनिवार्यतः *-ए प्राप्त होने के कारण संस्कृत -एभि निरन्तर बना रहता है अथवा -ए, -हि युक्त अपा० -आ की भाँति व्याप्तियुक्त हो जाता है ऐसा ऊपर कहा जा चुका है इसीलिए पा० अशोक० देवेहि है लौकिक अर्थ-सहित 'बहूहि वस्(स्)अघवेहि'।

संप्रदान और अपादान

सं० -भ्यस् से रूप-रचना में विचित्र दुहरे व्यंजन सहित *-भ्मो होना चाहिए *-एहियो नियम की संभावित कठोरता के कारण था। किन्तु यह देखा जा चुका है कि सामान्यतः संबंध के सामने संप्रदान विलीन हो जाता है और एक अपादान और करण में गड़बड़ हो जाती है। यही कारण है कि संप्रदान का प्रचलित रूप संबंध० जाता है साथ ही यही कारण है कि अशोक० में जातीभियेहि मिलता है गिर० ठेहि न(द) तम्य जो यह्नाव देयं वठ(न)वो के विपरीत है।

अपादान के लिये उदाहरण बहुत कम मिलते हैं अशोक० गिर० जाव परिवेसि येहि पा० दीस्तपयेहि पक्कामु।

संबंध० और अधिकरण

ये समीनी रूप मिलते हैं देवाना देवेसु।

-अ (-अन्) और -उ युक्त विकरण

एकवचन

कर्ता और कर्म०

चेतन में तो कोई बात ही नहीं है अग्गि अग्गि भिक्खु, भिक्खुं। मूलम् के सादृश्य से अचेतन का भेद करने का काम निकलता है अच्छि (अक्षि) मस्सुं (मधु)।

गौण कारक

• अग्न-, मृदो के प्रत्ययों के कारण कुछ समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जो अभिनव मध्यीय प्रकार का विस्तार करते समय छोड़ दी गयी हैं। विस्तार सरल होने पर, क्योंकि

इसी कारण से -अन् युक्त प्रत्यय संस्कृत में -अम् (जिससे परिवर्तन-क्रम -अ -अम्) पर आधारित था वह -अ युक्त संज्ञा-रूप के साथ जुड़ जाता है और वास्तव में महाकाव्य कालीन संस्कृत इस प्रकार के मिश्रण के प्रमाण प्रस्तुत करती है इस प्रकार संबंध० एक० अग्गिनो भिक्खुनो की उत्पत्ति के लिये दूसरी ओर कर्म० एक० हत्थि कर्ता० कर्म० बहु० हत्थी (सं० हस्तिनम्, हस्तिन) की उत्पत्ति के लिये पीठिका प्रस्तुत हो गयी थी।

दूसरी ओर गिर० प्रियदस्(स्)सनो (-अस्सिन्) से भिन्न अशोक० कालसी पियदस्(स्)स्स्(स्)आ शाहबाज० प्रिअ-द्रश्(श्)स्स(स्)अ की भाँति संबंध० इस बात का प्रमाण है कि विकरणयुक्त की ओर गति प्राचीन है उसी से अभिव्यक्त बौद्ध और उत्कीर्ण कल० सं० भिक्षुस्य।

अविकरण कर्मो मुद्दो मुख्य या साक्षात् रूप में जारी रहने योग्य नहीं रहा। जिस प्रकार पा० अग्गिस्मि हत्थिस्मि हत्थिस्मि के आधार पर बना है और अनिवार्य रूप में भी उसी प्रकार पा० अग्गिस्मि अग्गिम्हि अपना निर्माण करते हैं अमुस्मि के आधार पर -स्मा युक्त अपादान भी मिलता है किन्तु वह प्राचीन करण की प्रतिद्वन्द्विता में कमजोर पड़ता है -स्मा हेतुना, क्रिया-विशेषणजात रूप की गणना किये बिना पा० यन्तुनो [जन्तु(ए)] अशोक० समस्तगिरीये दीर्घ ई सहित विकरणयुक्तों के -आओ का समानधर्मा है।

अविकरण पूर्णा अशोक० पुनापुणे अस्से अगस्(स्)इ ने विकरणयुक्तों का प्रत्यय ग्रहण कर लिया है। सर्वनामजात प्रत्यय का प्रयोग करते हुए पाली कुछ प्राचीन रूप भी सुरक्षित रखती है किन्तु कर्ता० कर्म० पमज्जुने अविकरण पमज्जुने जो पमज्जु से है, विकरणीकरण के प्रमाण हैं ('सद्दनीति' पृ० २६५, ग्र. २)

बहुवचन

विकरणयुक्त रूप अति प्राचीन समय से चले आ रहे हैं संबंध० (-इनाम् अ० स्तनाम्) भारतीय-ईरानी से वैदिक कर्म० में (-आन् की तरह, अ० ईश् के विपरीत -ईन्) और नपुं० युक्त कारक (-ईनि अ० ई) संस्कृत मूल से। नवीन कर्ता० पा० अग्गी भिक्खू उसी प्रवृत्ति से निकलता है नपुं० अक्खी क्या वैदिक का ही दीर्घ रूप है अथवा मुका(नि) की तरह अक्खीनि के निकट की रचना है? यह निश्चित करना कठिन है। यह कहा जा सकता है कि अशोक० पुरुसानि की भाँति पैतन कर्म० ह(त्)थीनि मिलता है।

जहाँ तक केवल कर्म० अग्गी से संबंध है, पु नपु० और स्त्री० लिंगों का साधारण विरोध उसमें 'जाती' का सादृश्य देखने की दृष्टि से एक बाधा है क्योंकि यदि जाती कञ्ञा (कन्या) की भाँति कर्ता० और कर्म० के लिये उपयुक्त है तो पु० विकरणयुक्त के दो ह प्ट रूप हैं, देवा और देवे। तो क्या अग्गी में भारतीय ईरानी का दीर्घ रूप देखना आवश्यक है, तुल० अ० ईरे? यह आकर्षक कल्पना आवश्यक नहीं है प्रत्येक रीति से -आन् की भाँति ईन् मध्यकालीन भारतीय भाषा में बना रहने की क्षमता नहीं रखता था और बहुवचन के दोनों मुख्य कारकों के निकट आने की प्रवृत्ति संस्कृत में निश्चित रूप से है जिसके अंतर्गत -अय युक्त कर्म० प्राय मिल जाते हैं।

विकृत रूपों में पाली में कुछ प्राचीन रूप सुरक्षित मिलते हैं पा आतिथि भिक्खुसु, किन्तु सामान्यत वह विकरण के स्वर को (कुछ वैदिक उदाहरण तो है ही) इस रीति से दीर्घ बनाता है कि उससे -ईहि, -ऊसु की लय उत्पन्न होती है उसी से है जातीहि, भिक्खूहि पूर्वी अशोक० नातीनु, बहूहि बहूसु।

स्त्री० स्वर-संबंधी विकरण

जिस प्रकार पुंल्लिंग संज्ञाएँ विकरणयुक्त संज्ञा-रूप के प्रभावान्तर्गत आ जाती हैं, उसी प्रकार स्त्री० का संगठन इस रीति से मिलता है कि प्रथम से उसका विरोध हो जाता है किन्तु इस समय -आ युक्त विकरण प्रमुख नहीं हो जाते उनका परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इस बात का साम्य उस व्युत्पत्ति से स्थापित होता है जिसका संस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओं तक विरोध मिलता है पु०-नपु -अक- स्त्री० -इका। जहाँ तक -उ युक्त विकरणों से संबंध है उनकी रचना -इ युक्त विकरण की तरह मिलती है।

एकवचन में कर्म० ह्रस्व और दीर्घ स्वर वाले विकरणों में समान रहता है पा० कञ्ञं जातिं नदिं पाली की लेखन-प्रणाली कर्ता० में ही जाति का नदी से भेद उपस्थित करती है किन्तु स्वयं गिरनार म अशोक ने अपरिचित रीति के निकट वर्ती निम्न(त्)ती प्रतिप(त्)ती अनुसस्टी लिपी रूप दिय हैं इसके अतिरिक्त जो ह्रस्व रूप मिलते हैं वे ध्वनि-संबंधी या लेखन प्रणाली-संबंधी हैं न कि आकृति-मूलक क्योंकि यह कठिनाई पहले स ही दृष्टिगोचर हो जाती है जिसका प्रमाण पु० अग्गि प्रकार में मिलता है और क्योंकि उन मध्य -आ युक्त स्त्री० के साथ जिसमें कोई समीपी ह्रस्व नहीं होता समानता आ जाती है इसलिए दीर्घ प्रकार वाला रूप ही सामान्य हो जाता है।

तो कर्म० बहु० में है रतियो, जातियो और कञ्ञा पा० धेनुयो (जिसका -यु उसकी व्युत्पत्ति भली भांति बताता है)। कञ्ञा प्रकार के प्रमाणान्तर्गत कर्ता० में भिक्खुणा कर्म० भी मिलता है पा० रत्ती अशोक० मौलि० में संभवत इ(त्)भी बहु० अटविं को अटवियो के निकट है। एच० स्मिथ ('सद्दनीति' पृ० ४४८, नोट 'सौ') के अनुसार, पाली के कुछ पदों में इयो (पढ़िए —⏑⏑ant—) प्रकार के प्रमाण मिलते हैं।

किन्तु स्वयं कञ्ञा, एकवचन की भांति प्रतीत होने वाला बहुवचन भेद प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है जिससे उपलब्ध होता है कञ्ञायो प्रकार (जो एक बार गिरनार की अशोक० रचना में चेतन संज्ञा महिडायो के रूप में प्रमाणित होता है)।

विकृत रूपों की रूप-रचना समृद्ध नहीं है। प्रारंभ से ही ध्वनि-संबंधी कारणों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है

पाली में संबंध० अपादान जातिया करण जातिया से सम्बद्ध हो जाता है। इस आदर्श के आधार पर एक विचित्र प्रकार अशोक० पूजायां (पाली में अन्त्य स्वर सर्वत्र ह्रस्व) बनाया गया है जिसमें करण *कञ्ञया को पृथक् करने का लाभ है उसकी रूप द्वारा संज्ञा-रूप के सभी सोपान का अध्ययन कर लेना तो यह केवल व्याकरण-संबंधी विकृत रूप अधिक है। यहाँ तक स्थानवाचियों से संबंध है, अशोक ने त(क)खसिलाते, उजनिते मूल के अपादान का तृतीयाय [और व(द्)विया] से भली भांति अन्तर किया है, अधिकरण में कञ्ञाय जातिया अधिकरण के और करण के अस्थायी प्रयोग पर निर्भर रह कर प्राचीन रूप को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं (अशोक में तोसलियं समापायं सुरक्षित रखे हैं)। शेष के लिये यह ज्ञात होना आवश्यक है कि यदि पाली का अधिकरण केवल भारतीय-ईरानी के अधिकरण का प्रसारीकरण नहीं है, तो संस्कृत में व्यंजन का अनुनासिक कहाँ नहीं था, पा० पजावतिया सयाय और पु० प्रा० भूमिया भेद(का)या की तुलना कीजिए।

उनमें ऐसे रूप नहीं हैं जो बच रहे हों। उनके साथ-साथ अशोक के अ-पश्चिमी अभिलेखों में प्रमाणित, संप्रदान के प्राचीन रूप से निकले -ए संयुक्त विकृत रूपों की एक शृंखला मिलती है कञ्ञाये, देखिये भूमी (यह ह्रस्व -इ- संयुक्त विकरण से)। ब्राह्मण ग्रन्थों और प्राचीन उपनिषदों के गद्य में इन रूपों का संबंध० महत्त्व-सहित प्रयोग हुआ है लौकिक संस्कृत में यह प्रयोग नहीं मिलता किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका प्रयोग है अथवा -एभि संयुक्त करण० बहु० पु० की भांति उसकी पुनः स्थापना की गई मिलती है। इसी से अशोक० वुडियाये देवीये है जो विहिसाये की भांति है (यह देखा जा चुका है कि संप्रदान के एक विशेष अर्थ में यह रूप पुल्लिंग तक विस्तृत हो जाता

है) किन्तु अशोक में फिर भी करण० अपादान व(ए)िया का भेद संबंध० संप्र०
व(ए)िये से किया है जिसके साथ अधिकरण चातुंमासिये पक्खिसाये जुड़ जाते हैं,
तुलना के लिये पीछे देखिए।

व्यंजन-युक्त विकरण

यह देखा जा चुका है कि जिन ध्वनि-संबंधी परिस्थितियों में उत्तर मध्यकालीन
भारतीय भाषा के समय से व्यंजन-संबंधी संज्ञा-रूप लगभग पूर्णतः लुप्त हो गया।
आकृति-मूलक परिस्थितियों ने भी वैसा ही प्रभाव प्रदर्शित किया है, यह भी इस सुविधा
के साथ कि सामान्य प्रवृत्ति व्याकरण-संबंधी समरूपता की ओर हो गई थी। इसका
एक स्पष्ट उदाहरण -स् युक्त विकरणों का है। पुंलिंग में पाली में केवल चन्दिमा है जो
उसके स्त्री० संज्ञा के उत्पन्न हो जाने के कारण है और जो बाद को स्त्री० में ही सम्मिलित
हो जायगा। नपुं० में अशोक ने कुछ कर्त्ता० दिये हैं यसो तुलनात्मक मुखे दखीये
संभवतः संबंध० दिवासुहे पाली में भी कोई अधिक विशेषता शायद ही हो किन्तु
करण० एक० में विकरणयुक्त रूपों पर प्रभाव डालने की काफ़ी शक्ति थी मनसा
मनसा जो वसेन (कर्त्ता० वचं वचो) के समीप है। सामान्य नियम की दृष्टि से -स्
संयुक्त विकरण संकोच या व्याप्ति द्वारा विकरणयुक्त संज्ञा-रूप की ओर झुक गये
हैं दुम्मनो अप्पायन चेतसो बहु० नपुं० सोतानि (सोतासि) तुलनात्मक सेय्यो
स्त्री सेय्या नपुं० सेय्यं और सेय्यसो (किन्तु साधारण तुलनात्मक वैकल्पिक -तर
पर-प्रत्यय सहित निर्मित होता है)।

-र् -न् -न्त् युक्त विकरण

अकेले प्राचीन व्यंजनगत विकरणों में ये विकरण परिवर्तन-क्रम वाले संज्ञा-रूप
को अंशतः बनाये रखते हैं किन्तु अशोक और पाली में स्वर-संबंधी विकरणों का
सादृश्य अभी काफ़ी दूर है।

एक० में करण या सत्थारा पितरा उस युग के हैं जब कि समुदायगत व्यंजनों
में संसक्त में सादृश्य आ गया था अथवा वे पृथक हो गये थे अशोक० गिर पित्(ए)वा
भाव्(ए)वा या माता के निकट है द्वारा प्रमाणित सादृश्य एक ऐसे रूप को जन्म
देता है जो ठीक न अच्छी तरह रूप नहीं सका स्वर-संबंधी समावेश द्वारा पा० सत्थारा
पितरा अधिकरण सत्थरि, मातरि, अशोक० पितरि से भली भाँति मेल खा जाते हैं
अन्त में मुख्य कारकों के बाद स्वर का दीर्घीकरण जो कर्म सत्थारं और करण
अथवा सत्थारा को उसी रूप में स्थित करता है जिसमें कम्मारं और कम्मारा है और
जो बहु० तक प्रसारित एक नवीन लिंग की रचना करता है।

किन्तु नवीन प्रणाली पूर्ण नहीं है, यह न तो कर्ता० कर्म० बहु० सत्थारो को विभिन्न एक० रूप धारण कर लिया था और न संबंध० एक० सत्थु, पितु को एक दूसरे के समीप ला सकी।

तो भी इसमें रचना द्वारा पालित बहु० करण० और अधिकरण० हैं जो प्रचलित हो जाने वाले सादृश्यों के अंग बन जाते हैं। उनमें ऋ अपने मूल रूप में प्रत्ययों से पूर्व उ- अथवा -उ द्वारा सीमित हो जाती है, प्रत्युत पूर्व की ओर -इ जैसी प्रतीत होने लगती है -उ परिवर्तन में और पाली में। इसी से -उ और -इ संयुक्त विकरणों के साथ सादृश्य स्थापित होता है, *सत्थूभि आदि रूप तो लुप्त हो जाते हैं, किन्तु पा० सत्थूहि, सत्थून सत्थूसु, पितूनं (जो अस्पष्ट पितुनं के निकट है) पूर्वी अशोक० नातिन नातीनं बहु० सम्पूर्ण में करण० एक० पा० पितुना पूर्वी अशोक० पितिना बहु० पितुना को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, और संबंध० सत्थु पितु, अशोक० मातु की व्याप्ति सीधे संस्कृत से पा० सत्थुनो पितुनो में फिर सत्थुस्स पितुस्स मातुया में आई है। अशोक के पूर्वी रूप महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनसे यह प्रमाणित हो सकता है कि नवीनताएँ संबंध० एक० के रूप के रूप में नहीं हैं। शेष पाली में कुछ अपवाद पितिहि मातिहि हैं और मातुक- के निकट मातिका- जैसे व्युत्पत्ति वाले रूप हैं।

पितृ संबंधियों के नामों के समुदाय में एक विशेष प्रतिरोध घटित है जिस प्रकार कि वैदिक भाषा में नप्तृ और जम्पतृ उत्पन्न हो गये थे पाली में सखि के लिये कर्म० एक० सखारं, कर्ता० बहु० सखारो (शेष सामान्य रूप हैं सहायक-) हैं। इसी प्रकार महावस्तु में भार्याम् के लिये भार्यारम् है और जैन प्राकृत भवन्तारो (भगवन्तारो) को जन्म देते हैं (Anpap १५२)। स्त्री० में कर्ता० सं० दुहिता को ऋग्वेद में एक बार ह्रस्वात्मक के रूप में आता है, क्योंकि के समासान्तर्गत धीता जिसका संज्ञा-रूप पा० कञ्ञा की तरह होता है, रूप धारण कर लेता है। संस्कृत महाकाव्य उसका प्रमाण कर्म० एक० दुहिताम् द्वारा देता है, पाली में हैं कर्म० एक धीतरं, बहु० धीतरो के निकट संबंध० धीताय जो धीतु और धीतुया के निकट है, धीतानं जो धीतूनं के निकट है। इसी प्रकार संबंध० एक० माताय अशो० पा० मातु और पा० मातुया (जेनुया की भांति) है। जहां तक स्वसृ से मिलते स्वसा से संबंध है उसका स्थान पा० सं० भगिनी ने ले लिया है।

इस प्रकार -ऋ युक्त संज्ञाओं के विविध रूप विकरणयुक्त और सामान्य स्त्री० को संबंध कारण के साधन हैं। कुछ सम्बन्ध शब्द भी इस प्रकार स्पष्ट हो जाते हैं, पा० अर० नार्ता (*स्नायितृ से) भट्ट (भर्तृ)।

-ऋ- युक्त विकरणों की रूप-रचना समान रहती है कम-से-कम एक० के आत्मा पा० अत्ता की तरह किन्तु जहां कहीं भी विकृत रूपों की पूर्ण श्रेणी संस्कृत व्यंजनों

के निकट पहुँचती है परिवर्तन क्रम वैसा ही नहीं रहता। पाली गिरनार के अशोक० और बेसनगर में संबंध० रञ्ञो करण० रञ्ञा है किन्तु पाली में राजिनो राजिना अशोक० लाजिने लाजिना का भी प्रयोग हुआ है बहु में करण० राजूभि राजूहि अधिकरण राजूसु है। दूसरे शब्दों में -न् युक्त विकरण -र् युक्त विकरण के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। पूर्वी अशोक० करण० लाजीहि की तुलना पितुसु के साथ पाली राजूहि से भिन्न पितूहि के साथ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साथ ही उन संज्ञाओं में जिनमें संस्कृत में -अ है यह स्वर उपयुक्त परिस्थिति में नवीन लिङ्ग के अनुकूल हो जाता है पा० ब्रह्मुनो पूर्वी अशोक० अत्(द)उना और इसी प्रकार पा० कम्मुना।

अंत में -अन् की मूल्य श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने वाला स्वयं व साक्षात् अनुकूलत्व और विकरणयुक्त संज्ञा-क्रम के पृथक्त्व के कारण रहा है सर्वत्र० राजस्स कर्म बहुं नपुं० कम्मं करण० कम्मेन बहु० संबंध० अत्तानं अधि० कम्मेसु अशोक० में कर्ता० कमि कर्म० कंमं संबंध० कंमस्स कंमने में निश्चित है।

संस्कृत ने भी कर्ता० नयी रचनाओं (तुल० उपर्युक्त दुहिता) के पृथक्त्व का कारण बना है अथर्व० में मज्जा पु० शा० ब्रा० के मज्जा स्त्री० के और अप्रत्यक्ष रूप से पा० मिञ्जा के बाद आता है महाभाष्य में सीमा स्त्री० है जो अथर्व० सीमन् से है कोषों में प्लीहा स्त्री० प्लीहन् पु० से लिया हुआ है और यदि चर्म नपुं० का प्रतिनिधित्व पा० चट्टा स्त्री० (जिस पर आप० पु० वर्धमन् स्त्री० आधारित होना चाहिए) द्वारा होता है, तो यह निस्सन्देह ही अन्तर्वर्ती पु० *वर्धमा ('ल्युडविग इण्डो-ईरानिका' पृ० १७) के कारण है।

विकरणीकरण की ओर प्रवृत्ति के कम-से-कम विरोध का एक कारण विशेषण होना चाहिए एक रूप अशोक० मैसूर बहु० महात्पा दृष्टिगोचर होता है करण० एक० महात्मेन जो मुद्(ध्)अकेन के विपरीत है।

-न्त् संयुक्त विकरणों में अशोक० में तो वर्तमानकालिक कृदन्त है ही नपुं० बहु० गिर० तिस्टन्तो करण० एक० हेतुवता चपकाता। कर्ता० एक० पु० कठिनाई से मिलता है पूर्वी अशोक० मनवं किन्तु कालसी० शाह० पनाव जो गुणता (गिर० मधार० स्तम II का भिन्नत् के साथ कोई संबंध नहीं है यह 'भि हर्म' के समान है जौकि में पृथक् हो गया प्रथम आज्ञा का मद्दा अपाये समास होना चाहिए, जैसा कि जौगढ़ का समानवर्मी रूप उसे प्रकट करता है) १४ वीं आज्ञा में धौलि और जौगढ़ में एक विकरणयुक्त पु० एक० महते रूप है जिसे ही अन्य रूप महत(म्)अके के पक्ष में बना जाते हैं सारनाथ में मघ(ᅩ)ते (सं० मायाम्) है और इस रूप से पृथक् होता है व्युत्पत्ति वाले बहुनाबंदके। इसी प्रकार हृदयों में गिर० करोतो है (जिसका रूप करातो भिन्न

प्रणाली की दृष्टि से अपूर्ण होना चाहिए) अन्यत्र व्याप्ति प्राचीन रूप की याद दिलाती है पूर्ण रूप में कस्सत करतं किन्तु संयम एक भद(न्)त(स्)म – सं० भदन्त। अशोक में वर्तमान-कालिक कृदन्त मध्य में अधिक पसन्द किये गये हैं, फिर नियमित रूप से विकरणयुक्त रूपों म पाली जिसमें समानो है पस्स कुब्ब मर्व (सवम० करोतो मोतो) का बहुत प्रयोग करती है, किन्तु साथ ही बहुत पहले कर्ता एक० पु० पस्सन्तो संबम० पस्सन्तस्स जानो पस्सो काव्य रूप प्री० ह्रॉपावस् से हैं। -अन्त् युक्त विकरण में कर्ता -आ है गुणवा सतिमा भगवा किन्तु अर्थ गोतमो और साथ ही अरहं पुराने मंत्रों (?सूत्रों) में अरहा को स्वतन्त्र शब्दों में माना गया है 'सद्दनीति' प० १७१। नये रूप -न्त् (जिसके संस्कृत में चिह्न मिलते हैं) युक्त विकरण के साथ मेल खाते प्रतीत होते हैं और एक रूप सतिमं जो कर्म० एक० के रूप में प्रयुक्त हुए पाये जाते हैं की अनिश्चितता की ओर झुके प्रतीत होते हैं ओवर्य नपु ओजवन् का स्थान ग्रहण कर लेता है किन्तु स्वयं अपने में सतिमा प्रयुक्त होना चाहिए था और हुआ है कर्ता० बहु० के रूप में अथवा स्त्री० के रूप में (कर्ता० बहु० पु० मतीमा नपुं० एक० स्त्री० कित्तिमा)। किन्तु -अन्त् युक्त विकरणों में, जिस प्रकार वर्तमानकालिक कृदन्तों में सामान्य रूप सीलवन्तो प्रकार की व्याप्ति रही है।

प्राकृत

स्तैतीकत प्राकृत के रूप प्रधानतः अत्यधिक ध्वनि-संबंधी क्षय के कारण उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा वालों से भिन्न हैं। व्याकरण की प्रणाली समान है केवल नव रूपों की प्रमुखता हो जाती है और सरलीकरण की आवृत्ति होती है। विभिन्न प्राकृतों में बहुत अधिक अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता साथ ही य स्वतन्त्र बोलियाँ भी नहीं हैं उनका एक ही व्याकरण-संबंधी आदर्श है और, बहुत कम अपवादों के रूप में विभिन्नताएँ रूपों के केवल ध्वनि या आकृति-मूलक पुरातत्व की श्रेणी ग्रहण करती हैं इन रूपों के ग्रहण करने में यह आवश्यक नहीं कि नियमों का पालन किया ही जाय इस प्रकार एक ही ग्रन्थकार की रचना में कर्ता० एक० चुणा और चुणाणो (सं० चुणा) सार्स और सासन्तो (सं० शासत्) मिलते हैं इतने पर भी -अन्तो इयन्त की स्पष्टतः प्रमुखता मिलती है।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि प्राय जो रूप प्रथमत प्रतीत होते हैं वे कृत्रिम ढंग से बनाये गये ज्ञेमात के हैं यथा जैसा एक स्फुट शब्द इस बात की गणना करने के लिये यथेष्ट है पाली में कर्ता एक सा बहु० साणो के निकट है सुणाय सुण जिसमें मूर्धन्य ण् है और जो प्रामाणिकता का चिह्न है, और साथ ही सुणक है जो निस्सन्देह

एक स्तोम-शब्द कु-मत्त से बना है प्राकृत सारो (?) पाली में भी प्रचलित रहता है, एक पुनर्निर्मित रूप में प्रतीत होता है यह कोई संयोग नहीं है कि 'कुतो' की आधुनिक दशाएँ सब भिन्न हों। इसी प्रकार पच्छो और बहुत कुछ पहा (-पहो -बहो विशेषतः रचना में मिलते हैं) संदेहात्मक है जब कि यह शब्द जिसका स्थान पढ़ा स्त्री० ग्रहण कर सका है केवल कुछ विलक्षण बोलियों में मिलता है उससे भी अधिक अद्धा (अध्वन्) है जिसका कोई आधुनिक रूप नहीं है।

एक० पु०-नपुं० में -आ युक्त यथास्थान दुर्लभ नहीं है -आहि युक्त तो महाराष्ट्री में प्रायः मिल जाता है -अम्हा युक्त सर्वनामवाची रूप का अभाव है सामान्य क्रिया-रूप विशेषण से उत्पन्न है, किन्तु जैन प्राकृत को छोड़ कर, निरन्तर -आ सहित सौर० पुत्तादो महा० पुत्ताओ।

तात्पर्य अधिकरण है जहाँ मा० लोगंसि महा० लोअम्मि कभी-कभी लोगंसि मागधी कुमालंसि —-ंसि को स्मि (-ं) से निकलता है, -म्मि को -म्हि से निकलता है, और दोनों पाली में मिलते हैं मागधी -आहि, चाहे सं० प्रकार दक्खिणाहि का दीर्घीकरण हो (दे० पीछे) चाहे -अस्मिन् से निकले *-अस्ति में स्मि-ध्वनि की विकृति के कारण हो कुछ पूर्वी अशोक -अ(ख)सि सर्व० मागधी कस्साहि की भाँति -अस्व से निकल सकता है।

ध्वनि-संबंधी तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्व० बहु० का अन्त्य अनुनासिक वैकल्पिक हो सकता है पुत्ताण विपर्यस्त रूप में प्रायः अन्त्य अनुनासिक सहित लिखा जाता है महाराष्ट्री करण० एक पुत्तेण अधि० बहु० पुत्तेसु, करण बहु० पुत्तेहि।

इसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है स्वरभक्ति के निकट बहु नपुं० बनाई का मुख्य कारक।

पुत्ते के निकट, जो सामान्य है कर्म बहु० पु० में प्रायः पुत्ता पाया जाता है जो संस्कृत से नहीं निकला न पाली से किन्तु जो अन्य रिक (तुल० सं० रिक्त) बहु वे० मात्रा प्रकारों के उदाहरण के कारण होना चाहिए।

-आ(इ)ओ में यथास्थान एक० से भिन्न पाली की भाँति प्राकृत में बहु में करण के प्रयोग की रीति प्रचलित है। किन्तु एक विशेष रूप बताने के लिये कुछ प्रायोगिक रूप उत्पन्न कर लिये गये हैं अकेला एक जो प्रकाश में आता है, और वह भी जैन धर्म-नियम में वह एक विचित्र रूप में है यह करण में क्रिया-विशेषणात्मक प्रत्यय -तो के जोड़ने से बनता है पुत्तेहिंतो वैयाकरणों ने तो (कुछ पाठों के आधार पर ?) पुत्ताहिंतो पुत्तेसुंतो और संकर रूप में पुत्तासुंतो पर भी जो एक ही सिद्धान्त के आधार पर बने हैं, दृष्टिपात किया है वे एक० के रूप भी स्वीकार करते हैं। ये प्रायोगिक रूप प्राचीन

काल में जिनकी अपेक्षा मिलती ही है (अ० पद्भ्यः) भाषा के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वहीन रहे हैं।

स्त्री० में अपादान के समान प्रत्ययों का ही प्रयोग होता है सौ० मालाओ बहूओ, महाराष्ट्री मालाओ बहूओ, और बहु० में मालाहिंतो आदि।

स्त्री० एक० के अन्य विकृत रूपों में प्रत्यय -आए बना रहता है पाठों में यह बहुत कम मिलता है और वररुचि ने उसकी अनुमति नहीं दी प्रचलित रूप -आए है यहाँ प्राकृत पूर्णतः पाली का अनुसरण करती है (किन्तु -आये गाथायं 'सद्दनीति पृ० ६७५) और अशोक द्वारा प्रयुक्त पूर्वी बोलियों से साम्य रखती है फलतः मालाए और इसी प्रकार देवीए, बहूए दीर्घ स्वर सहित हैं।

इसी प्रकार कर्ता० कर्म० बहु० में मालाओ जो पाली मालायो का समानधर्मी है देवीओ बहूओ रूप में स्वर का दीर्घीकरण स्वीकार करता है।

जो अधिक महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि स्त्री० की प्रतिक्रिया पु० पर होती है और जैन धर्म-नियम के पाठों में कर्ता० बहु० में देवा प्रकार के विकृट मालाओ जैसे कुछ रूप हैं वे कितने ही दुर्लभ हों वे एक वास्तविक तथ्य प्रतिबिंबित करते हैं यह मन्द प्रत्यय गआई (गजान्) प्रकार के कर्म० रूप का संतुलन करता है जो कि फिर अशोक-युग से लेकर प्राकृत तक चला आता है।—क्लैसीकल साहित्य में भी इसीओ (ऋषयः) गिरिओ के कुछ उदाहरण मिलते हैं।

दो प्रमुख रूप-रचनाओं ने अन्य रूप-रचनाओं को आत्मसात् किया है अथवा उनके लिये आदर्श का काम दिया है। पु० मनो और नपुं० मनं प्रथम महाराष्ट्री और जैन द्वितीय विशेषतः शौरसेनी और मागधी में अकारों की रचना ज्ञात है ही इसी प्रकार कम्मो और कम्मं हैं -अन् युक्त पु० में -आ युक्त कर्ता में स्त्री० वाले कुछ अंशों के कारण हुआ है पन्निमा जो पाली में पु० है, अद्धा (और बहुा) उम्हा जुड़ जाते हैं।

-न् युक्त विकरण -अ युक्त संज्ञाओं में बराबर मिलते रहते हैं एआणा (राजा) का बहु० करण० में एआईहि, संबंध० एआईणं है, जिसका परिणाम यह होता है कि सभी समानान्तर प्रत्ययों में एक-सी ही लय रहती है।

अपभ्रंश

प्राकृत रूपों में अपभ्रंश, पाठों के अनुसार परिवर्तनीय अनुपात में कुछ ऐसे रूप जोड़ देती है जो ध्वनि की दृष्टि से उनके और साथ ही नवीन प्रत्ययों के काफ़ी परिवर्तित दूसरे रूप हैं।

अपभ्रंश रूपा में ह्रस्वीकरण हो जाता है और अन्त्य स्वरों की ध्वनि मन्द पड़ जाती है। कर्ता० बहु० प्रा० पुत्ता पुत्त हो जाता है। कर्ता० एक० पुत्तो भी पुत्तु हो जाता है दूसरी ओर कर्म० एक० पुत्तं का अनुनासिक स्वर संवृत हो जाता है जिससे पुत्तु हुआ और समान कर्ता० कर्म० के इस पुत्तु का अन्त्य यहाँ तक मन्द पड़ने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है कि बाद के कुछ पाठों में कर्ता० बहु० पुत्ता मे निकले पुत्त से उसकी गड़बड़ हो जाती है।

इस प्रणाली की अन्य विशेषताएँ हैं प्रत्ययों में -ह् की प्रचुरता और बहु० के विरुद्ध कारकों में अनुनासिक स्वरों की प्रचुरता।

विशेष-विशेष प्रत्यय निम्नलिखित हैं

विकरणयुक्त, पु०-नपुं०

एकवचन

कर्ता० कर्म पुत्तु (जो पुत्त हो सकता है) कम्, के संबंध में बताया जा चुका है। करण० मे पुत्तेण (ꣳ) पुत्त पुत्ति के संपूर्ण प्रत्यय का ह्रस्वीकरण हो सकता है जो प्राकृत के नियमों के विरुद्ध है इसके अतिरिक्त अनुनासिक अपनी स्पर्शता को बैठता है, जिस प्रकार प्राकृत मे बहु नपुं आदि में है।

अधिकरण के दो रूप होते हैं पुत्ति प्रा० पुत्ते का दूसरा रूप और पुत्तहिं जो मागधी पुत्ताहि और साथ ही पा प्रा० तहिं आदि सर्वनामजात क्रिया-विशेषणों की याद दिलाता है।

रूपों की इस दूसरी माला में अपादान पुत्तहुँ जुड़ जाता है तुल० पा० मयाहि, प्रा मुक्ताहि। अपादान का एक और रूप पुत्तहों है जो निस्सन्देह उपलब्ध रूपों के अनुकूल हुआ प्रा पुत्ताओ है (अथवा क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि ह्रस्व रूप का स्थानांतरण हुआ है पा पुत्तओ ?)।

संबंध० के अनेक रूप हैं पुत्तह का मूल सवनामजात है (प्रा मह जिससे तुह) संभवत पुत्तहा भी क्योंकि मह के निकट अपभ्रंश में महु है जो मह + मज्झु (मह्यम्) है और ती (*तह्यो तव से ?)। यह देखने की बात है कि पुत्तहो साथ ही अपादान भी है इससे तथा इस बात से कि दो कारकों में स्त्री० एक० और बहु० में एक-सी ही अभिव्यंजना है संभवत 'मीसरियँ सरियँ मन्दिराम्' का अपादान० प्रयोग स्पष्ट हो जाता है मध १४२, ७ तथा पृ० १४०।

जहाँ तक पुत्तसु पुत्तासु से संबंध है उसका अन्त्य स्वर पुत्तहु, पुत्तहु के सादृश्य पर

है संभवतः यह भी केवल कर्ता॰ बहु॰ पुत्त के दीर्घ से निकल अ की अपेक्षा अधिक संवृत अन्त्य अ का संकेत-चिह्न है।

बहुवचन

कर्ता॰ कर्म॰ पुत्त फलै का संबंध प्राकृत के पुत्ता फलाई से है। यह एकवचन और बहुवचन दोनों में होता है—एक विचित्र मुख्य कारक है।

करण॰ पुत्तेंहि, पुत्ताहिं अधिकरण पुत्तहिं।

करण॰ का परंपरागत प्रत्यय सामान्यतः *पुत्तिहिं *पुत्तिसु तक सीमित रहता है और उसकी गड़बड़ -इ युक्त संज्ञाओं से हो जाती है जैसे अग्गिहिं उसी से विकरणयुक्त स्वर उत्पन्न होता है, जो बाद को समस्त लिंग को प्रभावित करता है। किन्तु अधिकरण में इस प्रकार उपलब्ध *पुत्तसु अपरिवर्तनशील होता है संबंध॰ एक॰ होने के कारण और फलतः यह एक महत्त्वपूर्ण कारक है अधिकरण और करण को संबद्ध होते भी देखा गया है, भले ही एकवचन और बहुवचन के लिये एक ही रूप प्राप्त हो। यह उन छोटी-सी बातों में से एक बात है जो इस भाषा के कृत्रिम रूप का आभास देती है वास्तविक बोलचाल में इन अनेक अनिश्चितताओं का भेद बनाये रखना निस्सन्देह कठिन ही था किन्तु इस बात का अनुमान करने का अधिकार तो होना ही चाहिए कि जिस युग में अपभ्रंश में लिखा जाता था संयुक्त "मध्य में बाद में" के अर्थ में शब्दों के समुदाय या समासों द्वारा कारक की अभिव्यंजना विशेषतः अधिकरण की पहले ही से प्रचलित थी।

यह कहा जा सकता है कि करण और अधिकरण एकवचन के निकट रहे हैं चाहे वह युग रहा हो जब कि पुत्तें और पुत्तें रहे हों चाहे बाद का जब कि अधिकरण पुत्ताहिं पुत्ते हो जाता है।

संबंध॰ पुत्ताहँ।

यह देख लेने पर कि पुत्तेण पुत्तें हो जाता है (और फलाणि फलाइं हो जाता है प्राकृत के समय से) तो यहाँ फिर चाहे *पुत्ताम् की चाहे *पुत्तामें की व्याख्या की जा सकती है। इन कष्टप्रद रूपों का स्थान तुहुरा मवब॰ ग्रहण कर लेता है पुत्तह+में जो -मार्ग से निकलता है। परिणामस्वरूप दृष्टिगोचर होता है एक द्वयक्षरात्मक प्रत्यय जैसा कि एकवचन और बहुवचन में विकृत कारकों के सभी प्रत्यय होते हैं।

किन्तु साथ ही अनुनासिक स्वरों के केवल अस्तित्व के कारण बहु॰ का एक॰ से

विरोध स्थापित हो जाता है पुत्तह पुत्तहूँ। इससे संभवतः अपादान का नवीन रूप पुत्तहूँ का स्पष्टीकरण हो जाता है जिसका एक० पुत्तहो से विरोध है।

प्राकृत में पहले से ही पुत्तानं का अनुनासिक करण० पुत्तेहिं और अधिकरण पुत्तेसुं तक पहुँच चुका था।

स्त्री०

एकवचन में कर्ता० और कर्म० (बिना अनुनासिकता के) माल पु० की भाँति एक विचित्र रूप है। विकृत कारकों में मालए की आशा की जाती है, और वास्तव में यह करण का रूप है किन्तु अधिकरण अपादान की विशेषता हू द्वारा मालहूं, -हिं संकेत चिह्न निर्धारित होता है अधिकरण मालें जो मिल भी जाता है (मव० पृ० ३५*) इस बात का द्योतक है कि वास्तव में पुंल्लिङ्ग आदर्श-स्वरूप रहा है।

बहुवचन में कर्ता० कर्म० माल करण अधि० मालहिं संबंध० में मालहूँ के निकट मालहु मिलता है भलीभाँति प्रमाणित न होने पर इस रूप का एक अपादान-संबंधी पक्ष होता है उससे स्वयं मालहे के एक वचन में उत्पत्ति के आधार पर, प्राकृत मालाओ प्रकार के जीवित रहने का प्रमाण मिलता है।

अन्य विकरण

-इ और -उ युक्त संज्ञा-रूप न तो भली भाँति स्थापित चिह्न प्रदान करते हैं, न महत्त्वपूर्ण समस्याएँ। संबंध एक० अभिस्स प्रकार का लोप ध्यान देने योग्य है पुत्तह के विपरीत अग्गिहें अग्गिहि और गुरुहें मिलते हैं देखिए (मव० पृ० ३६*) गुरुहु बहु० में अग्गिहु अथवा अग्गिहू अथवा स्त्री में वेणिहु या सीणिहें (शकुनीनाम्) के निकट है किन्तु सनत्कुमारचरित में भुणिहें वहिहिं।

सर्वनाम

आदर्शीकरण की प्रवृत्ति से जिसके फलस्वरूप नामवाल संज्ञा-रूप की स्वर-संधि उत्पन्न हुई, सर्वनामों में कुछ परस्पर विरोधी बातें उत्पन्न हो गयी थीं। उनमें पृथक करने वाली बातें अनेक और बार-बार दृष्टिगोचर होने वाली हैं कोई एक सामान्य विधान नहीं मिलता। उसी से होती है रूपों के मूल की वृद्धि और विकास कभी-कभी अस्पष्ट, किन्तु जिसकी प्रामाणिकता के संबंध में शायद ही कभी संदेह हुआ हो वे विविध प्रायोगिक रूपों का एक युग प्रमाणित करते हैं और प्रायः आधुनिक बोलियों में प्राप्त रूपों के अधिक स्थायी विधायन की ओर संकेत करते हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

मुख्य कारक—कर्ता० द्वयक्षरी वैदिक त्व(उ)वम् और कर्म० एकाक्षरात्मक त्वाम् का विरोध पा० प्रा० त से भिन्न पा० प्रा० तुवं (पा० त्वं के निकट) तक पहुँचता है किन्तु प्राकृत तुमं दो कारकों की प्रवृत्ति प्रकट करता है। उत्तम पुरुष में भी पा० अशो० गिर० अहं, कर्म० पा० मं एक व्युत्पत्तिवाला बीज प्रा० रूप अहकं प्रा० मागधी अहके जैन अहयं है जिसमें आदि स्वर के लोप के कारण द्वयक्षरात्मक पक्ष निहित रहता है पूर्वी अशोक० हकं प्रा० मागधी० हगे हगे जिससे अप० हउं जो हुउँ की उत्पत्ति का कारण बना और जो उसी की तरह केवल कर्ता० है (अ)हं कुछ क्रियामूलक रूपों में अपने को संयुक्त कर बना रहता है दे० और आगे।

गौण कारक के सभी रूपों का यहाँ संग्रह करना निरर्थक होगा कुछ उदाहरण ही वास्तविकता को प्रकट करने के लिये यथेष्ट होंगे।

उत्तम पुरुष के संबंध० के लिये प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में मम' बना रहता है। किन्तु संबंध० और संप्र वाक्य-विचार-संबंधी तुल्यता से यह ज्ञात होता है कि मह्य अपनी अनुनासिकता जो अस्थायी भी है इस प्रकार 'मम' को प्रदान करता है।

दूसरी ओर अशोक मह० मम है जो पाली में सदृश रूप के अभाव के कारण प्रा० मह को जो भारोपीय में मिलता है प्राचीनत्व प्रदान करता है *मेघे तुल० *तेभे V sl. सेबे और संभवतः प्राकृत सह V sl सेबे और अर्थ के लिये सं० स्वयम् से साम्य रखता है। प्राकृत मह ने स० मह्यम् जिससे महं से अनुनासिकता ग्रहण की है यह समानता मध्यम पुरुष तुह तुहं में भी मिलती है।

अपादान में मत् ने जो अत्यन्त संक्षिप्त और असुविधाजनक है प्राकृत में सामान्य पर-प्रत्यय ग्रहण किया है, जिससे मत्तो बना जो वैयाकरणों को ज्ञात कुछ रूपों के लिये आदर्श का काम देता है और संबंध० को प्रभावित करता है ममत्तो मज्झत्तो।

करण भी संबंध० को आधार रूप में ग्रहण करता है पूर्वी अशोक ममया जो कभी ममिया था जिसके लिये पृथक्-पृथक आज्ञाओं में ममियाये की गणना नहीं की गयी। इन आज्ञाओं में बाद को महावस्तु में ज्ञात करण० मये का चिह्न मिलता है। इसके विपरीत अब कर्ता० हमा हमियाये के आधार पर शेष उन सबका काम निकालते हैं जिनकी ठीक-ठीक परिभाषा निर्धारित नहीं हो सकी। क्या महावस्तु मये रूप के साथ करण० मया और प्राचीन प्रत्यय मे के संबंध का भी क्या वही महत्त्व हो सकता है? अथवा यह नाम-प्रत्यय से संबंधित है? जो कुछ भी हो यह रूप असंसीकृत प्राकृत तक में

बना रहता है मए, मैं और इसी प्रकार मध्यम पुरुष तए, तैं (जो पा० करण० मया० तया का स्थान ग्रहण कर लेता है)।

मं के निकट मुख्य कर्म कारक ममं में संबंध० स्वयं विकरण की सहायता करता है, क्या यह मारोपीय में भी है? अन्यथा प्रत्ययांश मे ते में दो मूलों का अस्तित्व विपर्यस्त रूप के लिये सहायक सिद्ध हो सकता है।

ये सभी रचनायें इसलिए और भी अधिक रोचक हैं क्योंकि ये बहुत या कम सी प्रता के साथ लुप्त होने वाली थीं (उदाहरणार्थ अशोक के करण० केवल उन्हीं में मिलते हैं) और इससे उस प्राचीन संप्रदान को काम पहुँचा जिसे सर्वनाम उस समय तक सुरक्षित रखता है जब कि यह संज्ञाओं में से लुप्त हो जाता है पा० मम्हं [जिससे प्रा० मज्झ (—) अप० मज्झु] से तुम्हं [प्रा० तुज्झ तुज्झु के निकट अप० में तुम्ह है अप० (तुम्हु) जिसकी विकृति अस्पष्ट है] की उत्पत्ति को सहायता मिलती है जो भिन्न रूप तुज्झ (—) (सं० तुभ्यम्) को जिसका केवल पर्सेपोलिटन प्राकृत में प्रमाण मिलता है और जो फलतः संकेतात्मक है, बना जाता है।

मध्यम पुरुष एक० के तु विकरण का प्रभाव अन्य रूपों तक प्रसारित होता है। संबंध तुह तो देखा ही जा चुका है नियत संबंध तुम्ह (कर्ता० तुमो) प्रदान करता है। करण० में तए, ऊपर उद्धृत तै से प्राकृत तुए, तुइ बनते हैं जो इधर तुमं से सम्बद्ध हो जाने पर, तुमं तुमए प्रदान करते हैं। स्वयं तुमे तुमए फिर अपादान में दीर्घ रूप तुमाहो तुमाहि, जिससे तुमाए, धारण कर लेते हैं। ये सब रूप एक ही पाठ में पास-पास मिल जाते हैं गीत अपहो तए, तै तुमाए, तुमाइ हाल तुए, तुइ तुमए, तुमाइ जैन तए, तुम तुमए। प्रामाणिक रूपों का अनुपात बताना कठिन है अपभ्रंश में संज्ञाओं के करण० की अनुनासिकता के कारण अत्यधिक प्राचीन रूप दीर्घ हो जाता है तई (पई संस्कृत के आधार पर बना उसका एकमूलीय-भिन्नार्थी शब्द प्रतीत होता है हर हालत में उसमें संस्कृत का चिह्न नहीं मिलता सर्वनामों के प् ने आत्मन् वर्ग प्रा० अप्पा की याद दिलाई)।

बहुवचन

उत्तम पुरुष के कर्ता० में वयम् का आदि जो मध्यम पुरुष के प्रत्ययांकों सं० व:, पा० वो की याद दिला सकते हैं, अपने को एक० के अनुकूल बना लेता है जिससे है पा० मयं पूर्वी अशोक० मयं उसी से बाद को ह हुमु० महावस्तु मो मो के लिए सं० न। यह पूर्ण नहीं है अशोक में मये का कर्म० है अ(प्)फे अ(प्)फेनि (पीछे भी देखिए) जो सीधे वैदिक अस्मे विकृत रूप की याद दिलाता है जिसे केवल यास्क ने मुख्य

कारक के रूप में स्वीकार किया है अम्हे *अम्ह पर आधारित है जो सीधे संस्कृत अस्मान् से निकला है *अम्हं, पा० सर्वघ० अम्हं, सं० अस्मान् की भाँति नहीं स्वतंत्र रूप से बना है और *मुस्मे के प्रतिलिपि से बना है क्लेसियम (ग्री०) येम्मे हाल के कर्म० सम्ब० अम्ह में सुरक्षित पीछे भी देखिए। इस कर्म कारक का केवल एक अंश है प्रा० अह्मे कर्त्ता० कर्म० है और अशोक० मये का प्रभाव उसमें आ गया प्रतीत होता है पा० तुम्हे, पूर्वी अशोक० तु(ए)फे दो कारकों के लिए आवश्यक है। यह तुम्हे विकरण एक० युष्मे जिसने युष्मद्, जो संस्कृत की अपनी रचना और मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्रतिकूल है, का स्थान ग्रहण कर लिया है, के आधार पर पुनर्निमित हुआ है और *तुम को एक० sor प्राकृत तम्ह के अत्यन्त निकट होना चाहिए, पीछे देखिए।

अन्त में मुख्य और विकृत कारकों के प्रत्येक सर्वनाम में केवल एक विकरण रहता है। दूसरे प्रकार के कारकों की टीका-टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं है।

सर्वनामजात विशेषण

संस्कृत में सर्वनामजात विकरणों की संख्या कम हो ही गयी थी और जिन्हें उसने सुरक्षित रखा उन्हें समुदायगत किया। मध्यकालीन भारतीय भाषा में विकरणों और लिंगों का सरलीकरण जारी रहा।

विकरण अमु- जिससे निकला वैदिक अमुत अमुग थे ही, उस समुदाय की वास्तविक विशेषता है जिसमें असौ कर्त्ता० एक० पु० है। यही कारण है कि पाली में अमु जो पहले स्त्री० बहु० था पु० में असौ का स्थान ग्रहण कर लेता है, एक० में कर्त्ता० पु० अमु पु० स्त्री० असु के समीप आ जाता है। अमु में विशेष स्वर उतना ही ग्रहण किया गया है जितना ध्वनि की दृष्टि से व्यंजन जैसे वर्णों में से छोड़ देने के बाद आवश्यक था क्योंकि असौ > *असो स्वभावतः सो एसो (स एष) के साथ जाता है। वही स्वर नपुं० में दृष्टिगोचर होता है अदु *अदो सं० अदः के लिये। प्राकृत में एकीकरण जारी रहता है पु० स्त्री० एक० अमु, नपुं० अमुं, जिससे -उ युक्त संज्ञाओं के संज्ञा-रूप के आधार पर संबंध० अमुणो, साथ ही अमुस्स (अमुष्य) है। वास्तव में इस सर्वनाम के रूप प्राकृत में विरल हैं और अशोक० में तो एक भी नहीं है तो भी यह देखा जायगा कि संभवतः उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रहते हैं कम-से-कम कश्मीरी में।

निकट वस्तु-सूचक सर्वनामों में, अ विकरणों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं होता और यह कुछ प्रत्ययों से, पा० संबंध० एक० अस्स स्स बहु० सं। कर्ता पु० एक० अयं का रूप अशोक० गिरनार में पाली और अर्द्ध-मागधी में स्त्री० का काम देता है इसके विपरीत अशोक के पूर्वी अभिलेखों में यह (पुरानी फ़ारसी की भाँति) इयं है और यह

भी पुल्लिंग में। जहाँ तक कर्ता० कर्म० नपुं० इदं से संबंध है उसकी प्रतिद्वन्द्विता इमं (तुल० म० इमद्) से है जिसके सामान्य विशेषण के रूप में आने पर उसके साथ साम्य उपस्थित हो जाता है और कर्म० पु० स्त्री० (इमं इमम् इमाम्) के साथ भी यहीं पर विकरणयुक्त प्रकार के सामान्यीकरण से अलगाव हो जाता है संबंध० एक० पु० नपुं० इमस्स स्त्री० इमाय पूर्वी अशोक० इमाये पु० बहु० इमेसं करण० इमेहि आदि जिससे अन्ततः प्राकृत में कर्ता० एक० पु० इमो स्त्री० इमा इमिआ।

प्रश्नवाचक में मुख्य कार्य नपुं० सं० किम् का स्पष्ट विरोध क- के साथ है उसका एक प्रमाण है कश्चित् > *कश्चि पर आधारित पूर्वी अशोक० किछि तुल० अशोक० कालसी पु० केछ (कश्च)। विकरण का प्रभाव विकृत कार्यों तक पर दृष्टिगोचर होता है पा संबंध० किस्स जो कस्स के निकट है अपि किसुमि जो क्रिया-विशेषण कस्मा के रूप में अपादान से भिन्न है अशो० किनस(स)प जो पा० के तस्सु के तुल्य है, प्रा० किणा वि (केनापि) इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है न कि भारतीय-ईरानी का आश्रय लेने से तुल० गाथा० किंना। स्पष्टतः भाषा की प्रवृत्ति वास्तविक लिंग के संज्ञा-रूप से पृथक् एक विशेष्यमूलक सर्वनाम की ओर है इसीलिए बाद की हि० क्या पु० क्यूं जो कि की व्याप्ति द्वारा बना है, वा हिन्दी कौन् कोन् जो क- की व्याप्ति द्वारा है से भिन्न है, अप० कवण (वै० आपे)।

वास्तव में प्राकृत में विशेषतः कीस का प्रयोग 'क्यों' ? और साथ ही 'जो' के अर्थ में होता है, जो पा किस्स हेतु, प्रा० मागधी कीस कालणादो जैसी अभिव्यंजनाओं से निकलता है।

अपनी विशेषता लिये हुए स्वर घनि-मूलक सर्वनामों में प्रकट होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है अशोक० ऐति(स)स जो एत(स)स के निकट है एतिन जो एतेन के निकट है और फलतः एतिस अ(द्)धाय इमिना जो इमेन के निकट है। उससे मैसूर में है इमिना कालेन और पा पु० में इमिना जिसे अनुमा द्वारा बल प्राप्त होता है तुल महावस्तु एकिना पु० और स्त्री०। जिस अपरस पु० (फलतः पढ़िए इमिस्स) के साथ न केवल छहकाव इमिस मिलता है वरन् अंमनुपस्तिये स्त्री० भी (फलतः यहाँ पढ़िए इमिस्सा) पाली में भी स्त्री० में -अस्स् का प्रयोग हुआ है संबंध० (ए)तिस्सा इमिस्सा और साथ ही एकिस्सा अञ्ञिस्सा अपि० तिस्सं इमिस्सं आदि (*मि की असुविधा के कारण केवल अस्सं शेष रहा है)। प्राकृत की णी- ती से स्त्री० विकृत रूप के नवीन विकरणों का अलगाव देखा जा सकता है।

शेष म विकरण क- इम की भाँति संबंधवाचक य की भाँति प्रा० ज और निश्चय वाचक अथवा आवृत्तिमूलक त एत प्रा० एअ रूप (जो बहुत कम मिलता है) अंत में

म (सर्वंम ह क बाद बाने वाले एन से निकला प्रत्ययांश एत जिनकी संज्ञाओं के आधार पर रूप-रचना निर्धारित होती है, किन्तु मुख्य कारकों के रूपों की एकता बनाये रखने के साथ-साथ ते इमे अमू आदि)। इम का कारक तो देखा ही जा चुका है। इसी प्रकार है कर्ता॰ कर्म॰ नपुं॰ पं एत (यद् एतद्) अशोक॰ संप्र॰ पु॰ एताय स्त्री॰ एतायै पा॰ अधि॰ स्त्री॰ तायं जो तस्सं (तस्याम्) क निकट है, अशोक॰ पा॰ यस किन्तु पूर्वी अशोक॰ एतानां जो बहु॰ एतेष के निकट है पाली में समझौता उपस्थित किया गया है जिसमें कम सफलता मिली है एतेसानं येसाम। स्त्री॰ में प्राकृत रूप होमा ताए, तीए जा मालए, देवीए के आधार पर एक सामान्य विकृत रूप है। जैन प्राकृत में संबंध॰ बहु॰ पु॰ तेसिं स्त्री॰ तासि का एक च्युत रूप है जो अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका।

यह देखा जाता है कि रूपों की व्यर्थ वृद्धि सामान्यीकरण के सामयिक रूप से हुई है और उत्पत्ति की स्वतंत्रता होने पर भी जो सर्वनामों में स्वाभाविक है उनकी संख्या बड़ी नहीं है केवल अपभ्रंश म ही कुछ नवीन रूप मिलते हैं शेष अस्पष्ट हैं मात्र एहु कर्ता॰ बहु॰ ओइ (अइ अमु में अथवा भारतीय ईरानी अव मे प्रदर्शित अथवा पर्वत-आग्नी ओइ से लिया गया?)

मध्य भारतीय भाषाओं में संज्ञा

वर्ग

वह प्राचीन संज्ञा-रूप जिसका रूपों से संबंध है अपने को घटाता हुआ और नियमित करता हुआ चलता है किन्तु इन रूपों का प्रयोग लगभग वही रहता है, और प्राचीनतम संस्कृत के समय से मध्यकालीन भारतीय भाषा तक संज्ञा-रूप की मूलतः एक ही प्रणाली रहती है, जो भारतीय-ईरानी के उत्तराधिकार के रूप में है। जब ध्वनि-संबंधी विकास के कारण प्राचीन प्रणाली के नष्ट हो जाने से सब कुछ अपरिवर्तनशील हो जाता है तभी आधुनिक भाषाओं की विशेषता नवीन प्रणाली का जन्म हुआ।

लिंग

संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञाओं के और उन सर्वनामों के जो पुरुषवाचक नहीं हैं (पुरुषवाचक सर्वनाम स्त्री॰ का एक स्फुट उदाहरण का॰सं॰ पुष्मा है मध्य भारतीय भाषाओं में सिहली में केवल ती स्त्री पु॰ ता है) तीन लिंगों का भेद मिलता है। आधुनिक भाषाओं में से अधिकतर भाषाओं में केवल दो लिंग हैं नपुं॰ केवल मराठी और गुजराती और दूसरी ओर हिमालय की भद्रवाहि (bhar·za-wahi) में मिलता है (एल॰ वर्मा 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स' 1)। लंका में चेतन और अचेतन के भेद पर आधारित एक नवीन संगठन मिलता है। अन्त में पूर्वी समुदाय है बंगाली-असामी-उड़िया में प्राचीनतम पाठों के समय से ही कोई लिंग-भेद नहीं है।

भारतीय के चेतन और अचेतन के प्राचीन भेद का संस्कृत में कोई महत्त्व नहीं है इसके विपरीत रूप-विचार की दृष्टि से मुख्य कारकों को छोड़ कर, सर्वत्र पुंल्लिंगों और स्त्री॰ के नपुं॰ का विरोध मिलता है ऐसा विशेषतः स्वर-संबंधी विकरणों से युक्त संज्ञाओं में दृष्टिगोचर होता है अर्थात् स्वयं उनमें जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में जीवित रह जाते हैं। कुछ प्राचीन पर प्रत्ययों उदाहरणार्थ -अ॰ -म के विशेष्य के चेतन अथवा अचेतन अर्थ का अनुसरण करते हुए दो लिंग संभावित थे। वास्तव में संस्कृत में विकरणयुक्तों की एक बहुत बड़ी संख्या के लिये पुंल्लिंग और नपुंसक॰ के बीच

अनिश्चितता का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है अस्तु, नीड और नीडम् आकाश-, आकाशम् पुस्तक-, पुस्तकम् मस्तक-, मस्तकम् सामान्य प्रवृत्ति नपुं० की ओर पायी जाती है जै० गृह-, क्लैसीकल गृहम् विश्वाबदान में मार्ग प्रव कोष नपुं० है (यह ठीक है कि उसमें मार्ग पुं० है) तमिळ और तेलेगु के उधार लिये गये शब्दों (यह कहना आवश्यक है कि उनकी तिथि अनिश्चित है) में नपुं० की प्रचुरता देखते हुए, यह कहना पड़ता है कि क्लैसीकल पाठ जितना अचेतनों के लिंग के रूप में उसे प्रकट नहीं करते उससे अधिक उस पर विचार होना चाहिए अस्तु, तमिळ में है सयमरम् (स्यमन्त), सुवेसम् (स्ववेश), सुरुम्म् (सब और सुवा) सम्वनम् (स्यन्दन) और साथ ही मदुमम् मच्छम् (मत्स्य) तथा प्राकृत से लिये गये हैं पुयम् (भुज) दे० कयम् (गज) (उदाहरण अनवरतविनायकम् लिखित 'सस्कृतिक ऐलीमेंट द्रैविडिक स्टडीज' III, मद्रास १९१९ से लिये गये हैं)।

जिनका मुख्य कारकों से संबंध है उनके बहु० के रूपों में शीघ्र ही एक अनिश्चितता प्राप्त हो जायगी। एक ओर तो -आ युक्त नपुं प्राचीन प्रत्यय जो पुं० के सदृश है, पाली में बना रहता है जिसमें कभी-कभी पुं० का विरोध मिल जाता है (सर्वनाम य कपि यथा सब्ब रूपा)। किन्तु दूसरी ओर मध्यकालीन भारतीय भाषा म नपुं० मिलता है।

अशोक के पूर्वी अभिलेखों म पु और नपुं० के लिये कर्ता० एक० -ए युक्त है किन्तु उसमें एक नपुं० है क्योंकि कयाने का कर्ता० बहु० कयानानि (सं० कल्याणम्) है। यह ठीक है कि कर्म पुं० क लिय अशोक ने प्राय -आनि -ईनि से युक्त प्रत्ययों का प्रयोग किया है जैसा कि श्री ल्यूडर्स का कहना है (Sitzb. बर्लिन १९११ पृ० ९९२ एफ डब्ल्यू० टॉमस जे० आर ए० एस० १९२५, पृ० १०४ तुल० मप्र्केनि पृ० १४६)। यह अनिश्चितता बहुत दिनों तक बनी रही अथवा उचित बात तो यह है कि प्रत्यय -आनि अथवा उससे निकले हुए रूप बहुत दिनों तक बने रहे ताकि कुछ भाषाओं में वे स्त्री० बहु० के रूप में काम आकर रह जाते।

मुख्य कारक के एक० से जहाँ तक संबंध है यह जैसा कि देखा जा चुका है, मध्य कालीन भारतीय भाषा की ध्वनि-प्रणाली द्वारा संतुलित हो जाता है।

अब प्राचीन नपुं रूपों में कुछ संख्यावाची संज्ञाएँ रह जाती हैं। पाली में तो दुव का सामान्यीकरण हो ही गया था जो अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है प्राकृत में दोण्णि तिण्णि (प्रथम दूसरे के आधार पर बनता है और जो अप्रत्यक्षत "चार" से निकलता है, दे वाकर्नागेल Sitzb., हाइडेलबर्ग १९१६ पृ० ९) चत्तारि, अप० चारि, जिससे लगभग सबम चार् बनता है, तीन् सिंधी कहेंगा और दर्द को छोड़ कर, दोन् केवल मराठी में।

'क्या कुछ' अर्थ वाले सर्वनामों की आधुनिक उत्पत्ति के संबंध में आगे देखिए।

दो नपुं० व्याकरण के उचित लिंग के रूप में लगभग सर्वत्र लुप्त हो गया है इसके विपरीत चेतन और अचेतन संज्ञाओं में अन्तर करने की प्रवृत्ति के चिह्न मिलते हैं।

पहले वाक्य-विचार में संज्ञा के चेतन पुरुषवाचक अथवा अचेतन के अनुरूप कश्मीरी में परसर्ग का चुनाव गुजराती में स्त्री० के संबंध में बहु नपुं० का स्त्रीलिंग व से तुलनीय चेतन संज्ञाओं के कारकों में मुख्य कर्मकारक का स्थान ग्रहण करने के लिये परसर्ग का सामान्य प्रयोग।

स्वयं रूप-विचार में पहले सिंहली की ओर संकेत करना उचित है, जिसमें एक नवीन संज्ञा-रूप की प्रणाली का निर्माण मिलता है एक ओर तो पुल्लिंग और स्त्रीलिंग हैं जिनका निर्माण मुख्य कारक और गौण कारक जिसमें परसर्ग भी जुड़े रहते हैं के दो वचनों में होता है दूसरी ओर अचेतन हैं जिनमें करण और अधिकरण भी हैं इन विकृत कारकों की रचना केवल एक० में होती है। यहाँ कुछ निश्चित न कर सकने योग्य अनार्य आधार का प्रभाव देखा जा सकता है।

नेपाली में भी उसी प्रकार व्याकरण-संबंधी लिंग लुप्त हो गया है उसमें केवल ऐसे कुछ स्त्री० रूप रह गये हैं जिन्हें स्त्री रूप में कहा जा सकता है उदा० नारि वह एक ऐसी बात है जो व्युत्पत्ति और शब्दावली से निसृत होती है न कि व्याकरण से। साथ ही इसमें एक ऐसी भाषा के चिह्न भी मिलते हैं जो हमर हाल ही में भुला दी गयी है। यह भी निस्सन्देह एक आधार, तिब्बती और मुण्डा का प्रभाव है जो पूर्वी समुदाय में लिंगों के पूर्ण लोप के मूल में है केवल कुछ विद्वत्तापूर्ण रचनाओं में ही उसके अधिक चिह्न पाये जाते हैं और पुराने बँगला पाठों के कुछ उदाहरण जो उसके संबंध में दिये जाते हैं इतने कम हैं कि उनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

सर्वनामों में स्त्री के न्यूनत्व के संबंध में और आगे देखिए।

इस प्रकार प्रणाली तो निश्चित थी अब केवल इस बात की ओर संकेत करना शेष रह जाता है कि अलग-अलग शब्दों का लिंग बिना परिवर्तित हुए सर्वत्र प्रेषित नहीं होता। पाली के समय से ही यह दृष्टिगोचर होता है कि कुच्छि सालि और धातु मूकत पु वे किन्तु जिनमें स्त्री० प्रत्यय ग्रहण करने की प्रवृत्ति रहती थी और वास्तव में दीर्घ और ह्रस्व -इ और -उ युक्त विवरण एक दूसरे के निकट हैं। उससे हैं

अग्नि पु० म गु० हि आग्, सिं० आगि जिप्सी-भाषा यग्, पं कहूंरा० अग् स्त्री हैं

कुक्षि पु करु० कोंछ पं कुक्ख् कुच्छ् सि कुखि पु कुख, म० कूस् स्त्री० हैं

वायु पु० हि० वाओ सि० वात पं० हि० वा स्त्री हैं म० वाय् पु० वा पु० वात से निकल सकते हैं

इक्षु पु० हि० ऊख् ईख् गु० ऊस् स्त्री० हैं किन्तु म० ऊस् पं० इक्ख् पु०,

बाहु पु० हि० पं० सहुवा बाँह सि बाँह, स्त्री लिंग हैं व्युत्पत्ति वाले स्त्री० म० बाही गु बाँही

अक्षि नपुं० गु० हि० आँख, पं० अक्ख् सि० अखिम स्त्री० हैं

व्याप्ति सहित

दधि नपुं० गु० म० दहीँ नपु० हि० दही पु० किन्तु पं० दहीँ लहंदा दही सि० डुही स्त्री०।

वस्तु नपुं० सि० वथु और साथ ही तत्सम हि० गु० वस्तु, स्त्री० हैं।

इसी प्रकार वर्म नपुं० जो प्राकृत में वट्टा हो जाता है सर्वत्र स्त्री० द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है, तुल० वे० पीछे।

और भी विभिन्नताएँ मिलती हैं विशेषत विरलतापूर्ण शब्दों में इस संबंध में कोई सामान्य नियम नहीं है जथा० हि प० गु बेह स्त्री० (मराठी में पु०) की स्त्री० में व्याप्ति मिलती है सि० वेह [१]। हिन्दी में सौंह (शपथ) स्त्री० है (बाद् स० वार्ता का प्रभाव ?) किन्तु ठारा बेओता पुल्लिंग हो सकते हैं व्यक्ति में यह नियमित रूप से है।

यहाँ स्त्री० व्युत्पत्ति वाल रूपों के संबंध में विचार करना व्यर्थ होगा क्योंकि संज्ञान्त -इनी और विशेषत -इका जो सामान्यत -अको स्त्री वाले का काम देते हैं से निकले पर-प्रत्ययों के कार्य की ओर संकेत कर देना यथेष्ट है।

व्युत्पत्ति-युक्त संज्ञाओं में लिंग के एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग की ओर संकेत करना आवश्यक है। हिन्दी में स० भाण्डम् से भिन्न कभी-कभी हण्डा पु और हण्डी स्त्री० मिलते हैं पहले का अर्थ है बड़ा बर्तन दूसरे का छोटा बर्तन सं० रश्मि पु से भिन्न हि में रस्सा रस्सी है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह वैपरीत्य वैसा ही है जैसा घोड़ा घोड़ी का किन्तु व्युत्पत्ति-युक्त पु० अधिक बड़ी चीज का आशय प्रकट करता है, स्त्री० छोटी या कोमल वस्तु का। अन्यत्र भी यह अन्तर मिलता है गु० टेकरो पु० टेकरी स्त्री० गई नपुं० गाडी स्त्री० सि० कातु पु० 'बड़ा चाकू' काति स्त्री० 'छोटा चाकू' माटो पु माटी स्त्री०। निश्चित विस्तार की ओर ध्यान नहीं जाता और विशेषत इस तथ्य का किन्तु इतिहास सामान्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से रोचक हो सकता है।

वचन

भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति संस्कृत की रूप-रचना में तीन वचन होते हैं – एकवचन द्विवचन बहुवचन। अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति द्विवचन बिल्कुल लुप्त हो गया है यह अवगाम मध्यकालीन भारतीय भाषा से पाया जाता है। वैदिक संस्कृत में द्विवचन सामान्य बात है साथ ही भारोपीय से अधिक जिससे युग्म की भाँति विचार होता है युग्म प्राकृतिक या निरंतर मिलने वाला (अक्षी पी॰ जो 'दोनों' और साथ ही अक्षी तुल॰ ग्री॰ ओस्स्(ऽ)ए दूसरी चीजें हारी जो हार के निकट है ग्री॰ पु रह) अथवा संदर्भ द्वारा ज्ञात अथवा परंपरागत जोड़े (हरी 'इन्द्र के दो घोड़े') जोड़े की भावना ही वचन की भावना में है जिसका प्रमाण एक ओर प्राचीन मंत्रों का अस्तित्व है जिनमें किसी व्यक्ति को बताने वाले द्वि॰ में सदैव साथ रहने वाला व्यक्ति निहित रहता है (मित्रा मित्र और वरुण अहनी दिन और रात श्वश्रौ सं पितरौ माता-पिता भ्रातरौ -भाई और बहन) साथ ही द्वौ की उपयुक्तता प्रमाण-स्वरूप है जब कि यह अन्य प्रकट या अप्रकट, की सहायता से वचन घोषित करता है (उभौ 'वे दोनों' में 'साथ साथ' की भावना निहित है)।

ऋग्वेद के कुछ कम प्राचीन अंशों में कुछ अनिश्चितता मिलती है (मेइए, बी॰ एस॰ एल॰ XXI पृ॰५९) यदि उदाहरण ठीक है, तो यह इसके ह्रास के शुरू होने का प्रतीक होना चाहिए, और इस संबंध में प्राचीनतम अभिलेखिक संस्कृत में वास्तविक विकास पूर्णतः छिपा रहा क्योंकि उसमें दो चीजों का उल्लेख चाहे वो उपयुक्त हो या न हो जब कभी होता है तो द्वि॰ का प्रयोग होता है ऋ॰ (१ ली अष्टक) वर्मा महा॰ मञ्जुश्री। वास्तव में बौद्ध संस्कृत में कभी-कभी विशेषतः सर्वनामों में द्वि॰ के लिये बहु॰ मिलता है उसमें यह चिह्न स्पष्ट है और सच बात तो यह है कि अधिकांश उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा में द्वि॰ के केवल कठिनाई से मिलने वाले चिह्न मिलते हैं (भी एच॰ स्मिथ के अनुसार जातक V ३७५ में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के कुछ द्वन्द्व दे॰ सद्नीति पृ॰ ६२४ n. १९ गार्बे 'फ्रेस्टश्रिफ्ट याकोबी' पृ॰ १२८ के आधार पर भास में एक प्राकृत उदाहरण)। 'दो' 'सब दो' की संख्याओं के लिये पा॰ दुवे उभो में प्राचीन रूप सुरक्षित है, किन्तु उनसे भी दुवो की भाँति द्वि॰ का प्रतिनिधित्व नहीं होता दो जो संभवतः अनुकरण-मूलक प्राचीन रूप है (प्राकृत वे के अनुकरण पर *दुवो से या ? प्रा॰ कोनिग का स्पष्टतः एक बहुवचन रूप है अन्य व्याख्या वाकेर्नागेल Sitzb Heidelberg, १९१६ पृ १७n.) और जो पाली में मिलता ही है के समीप 'चार' और 'तीन' के रूपों के अनुकरण पर बने विकृत रूप त्रिशो बहु॰ हैं।

आधुनिक भाषाओं में केवल एक० और बहु० हैं। तो भी मध्यकालीन भारतीय भाषा की ध्वनि प्रणाली के कारण प्रायः बहु० के मुख्य कारक और एक० के मुख्य कारक में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, ऐसा मूल संज्ञाओं (प्रातिपदिक) में होता है। जिप्सी-भाषा की भाँति कुछ भाषाओं में इस अभाव की पूर्ति मूल संज्ञाओं (प्रातिपदिक) के बहु० में व्याप्ति-युक्त संज्ञाओं के प्रत्यय के प्रयोग द्वारा की गयी है। इसके अतिरिक्त एक शब्द में दूसरा शब्द जुड़ जाता है, उसकी रचना चाहे उपर्युक्त रूप में हो, चाहे सब लोग, समुदाय' आदि की भाँति समूह की भावना निर्धारित और प्रदान करने वाले रूप में। ऐसा विशेषतः चेतन संज्ञाओं में होता है, जब कि सम्भवतः एक ऐसी 'प्राचीन' धारणा का अनुगमन पाया जाता है जिसके अन्तर्गत अचेतन को सामूहिक रूप में, न कि अलग अलग व्यक्ति के रूप में देखा जाता है, काल्डवेल' पृ० २३२ में कहा है कि द्रविड़ भाषाओं में बहु० के पर-प्रत्यय केवल बुद्धि-सम्पन्न जीवों के लिये प्रयुक्त होते हैं, बोडिंग 'मैटीरियल्स II, पृ० ४० के आधार पर संथाली में वचन के चिह्नों का एक निर्णयात्मक महत्त्व है। इसके विपरीत तिब्बती में बहु० का रूपमात्र नहीं है, किन्तु उसमें 'बहुत' और ऐसे ही शब्दों का प्रयोग होता है।

एक आकृति-मूलक कारण भी पाया जाता है, जब तक नपुं० बना रहता है, उसका एक स्पष्ट बहु० वाला रूप मिलता है, जब कि उसमें एक० का अभाव रहता है, उदा० मराठी में ऐसा अब भी मिलता है, पु० एक० और बहु० घोड़, किन्तु नपुं० सूत, सूतें (सूत्राणि)। किन्तु यह केवल भूल है, क्योंकि यह होता तो बहुत पहले से चला आ रहा था, पर्यवसित कुम्भकार -कुल "कुम्हार" न कि 'कुम्हारों का संघ', महा० अम्बु-बाप 'माता पिता" पा० मातु-गाम "स्त्रियाँ"।

हिन्दी में कहा जाता है 'हम् लोग्' ('हम्' का बहु० mon का अर्थ देता है), साहित्य लोग्' लोग् (सं० लोक) बहु० है। अवधी में कहार लोगन् मं हमे पने। बंगाली में अधिक विविधता का आश्रय ग्रहण किया गया, पुरानी बं० लोक जन सएल (सकल-) मध्यकालीन बं० सब् और कुछ संस्कृत शब्द, पण कुछ गुच्छ हो जाता है, आदि आदिक दि हो जाते हैं, १५वीं शताब्दी में दिग्, सान्निध्य-प्राप्त कुछ आदि शब्द, सकल जत था पहले आश्चर्यबोधक थे, अंततः -कर अथवा -केर, से युक्त पर प्रत्यय से बना व्युत्पत्ति-युक्त विशेषण और प्रथमतः सब् के साथ जुड़ने वाला, आमृरा सब् आमुनेरा सब्, बाद को 'सब्' शब्द का प्रयोग बन्द हो गया और पर-प्रत्यय से बहु० प्रकट करने के लिये काम निकाला जाने लगा, १४वीं शताब्दी से ऐसा सर्वनामों में हो रहा है और एक शताब्दी बाद संज्ञाओं में, छेलेरा कामारेरा, अब तो यह अत्यधिक सामान्य रूप है। कुछ बोलियों में -गुला युक्त विशेषण मिल जाते हैं। पूर्वी बंगाली में मीन मान्

छत्तीसगढ़ी मना उड़िया मान (१५ वीं शताब्दी में माण) के सदृश हैं ये सं० मानक के कुछ रूप हैं। मराठी में वोर (बहुतर ?) होता है। पूर्वी बोलियों के और भी रूप उद्धृत किये जा सकते हैं जिनकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

उत्तर-पश्चिम में कभी किले (विकृत किला फकत्या यह बहु० है) वैगेलि केले प्रधुन मिलि पशाई कृति गवर्बती मिक ये ईरानी से उधार लिये गये हैं अफ़ग़ानी कर्बले "गाँव"। गवर्बती में मम् 'माम' भी है तुल० सं० गोमिन।

इसके विपरीत सिंहली में अचेतन संज्ञाओं के लिये एक प्रत्यय होता है मुकर-बह् का संज्ञा-रूप एक० की भाँति होता है इस शब्द 'वल' की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। साथ ही उसमें संबंधियों या उपाधियों के कुछ नामों के साथ सम्बद्ध -वर (सं० -वर आदरसूचक) और -ला (अम्म-ला अम्म-वरु) हैं समासों के द्वितीय अंश से यह प्रभावित होता है एक सामूहिक अर्थ में दूसरे आदरसूचक अर्थ में।

बहु० की दृष्टि से भारत में आदरसूचक बहु का महत्त्व ध्यान देने योग्य है। सच बात तो यह है कि क्रिया-रूप में बहु विशेषतः देखा जाता है हिं राजा (आप) कहते हैं लेकिन इस प्रकार भी कहा जा सकता है 'राजा के बेटे यहाँ हैं जिससे तात्पर्य है 'राजा का बेटा'। इस एक० और बहु० के मिश्रण का प्रभाव संज्ञा-रूप पर पड़ता है विशेषतः सर्वनाम-जात संज्ञा-रूप पर।

कारक

लिंग लिंग-संबंधी कुछ अव्यवस्थाओं को देखा जा चुका है उनसे और साथ ही द्वि० के लोप से लिंग और वचन-संबंधी व्याकरण के वर्गों के प्रयोग में कोई गंभीर परिवर्तन नहीं हुआ। जो परिवर्तन रूप-रचना में उत्पन्न हुए उनका बहुत बड़ा महत्त्व रहा क्योंकि जिन वर्गों का उल्लेख हो चुका है उनके परिवर्तन और उनकी पुष्टता के साथ साथ उन रूपों के स्वयं प्रयोग में कुछ परिवर्तन हुए हैं जिनके फलस्वरूप अंत में एक ऐसा संज्ञा-रूप प्राप्त होता है जो उत्तरोत्तर पुराने संज्ञा-रूप से निकलता है, किन्तु जो अत्यन्त भिन्न रूप धारण कर लेता है।

भारतीय-ईरानी और भारोपीय से प्राप्त आठ कारकों का भेद संस्कृत में बना रहता है। रूपों का पुनर्विभाजन एक-सा नहीं था जैसे बहु० और विशेषतः द्वि० की संज्ञाओं में और सर्वनामों में कई कारकों में समान रूप विद्यमान थे किन्तु यह अव्यवस्था जो ध्वनि-संबंधी परिवर्तनों के फलस्वरूप मध्यकालीन भारतीय भाषा में उत्पन्न अव्यवस्था से अधिक नहीं थी स्वयं इस प्रणाली के लिये घातक थी। वास्तव में प्रणाली का प्रधान स्वरूप कुछ समान रचनाओं के संबद्ध रूपों के पूर्ण समुदाय द्वारा सुरक्षित रहता है

और भाषा केवल रूप से सबंधित क्षत-विक्षत अंशों की फिर से रचना करने की स्थिति में बनी रहती है जैसे संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में अपादान का उत्तरोत्तर विचित्र होने वाला रूप प्राप्त करने के लिये क्रिया-विशेषणजात पर-प्रत्यय -त: के प्रयोग का प्रसार मिलता है इसी प्रकार अवेस्ती में उस युग में जब कि विकरणयुक्त पु०-नपु० का अन्त्य -त् बना हुआ था -आ युक्त विकरण और अविकरण युक्त का विस्तार सबंध० से अपादान का दृढ़तापूर्वक भेद प्रकट करने के लिये होता है।

संस्कृत प्रणाली की मुख्य दुरूहता वाक्य-रचना-संबंधी तुल्यता की बहुतायत के कारण है। अस्तु, पुरुष जिसे कुछ दिया जाता है संप्रदान सबंध० और अधिकरण द्वारा प्रकट किया जा सकता है जिससे कुछ कहा जाता है वह कर्म संप्रदान अधिकरण सबंध० द्वारा उद्देश्य कर्म० संप्रदान अधिकरण द्वारा स्थान करण या अधिकरण द्वारा और इसी प्रकार परिस्थिति के लिये काल उन्हीं कारकों द्वारा और कर्म० द्वारा भी करण और अपादान से इसी प्रकार कारण पृथक्त्व तुलना का बोध होता है क्रियामूलक विशेष्यों के निकट सादृश्य प्रकट करने वाले शब्दों के निकट 'पूर्ण करना' अर्थ का द्योतन करने वाली क्रियाओं आदि के निकट संबंध और करण समान हो जाते है। कम परिष्कृत भाषा के पाठों में यह अव्यवस्था और बढ़ जाती है जो प्रणाली के ह्रास होने का चिह्न और कारण दोनों है। इसी प्रकार क्रिया के सबंध में है, जब कि कुछ महत्वपूर्ण रूप जो मूलत: अलग-अलग थे समान प्रमाणों का काम देते हैं, उदाहरणार्थ अतीत की अभिव्यक्ति के लिये वह एकदम लुप्त हो जाती है।

कारक की प्राचीन प्रणाली प्रायश: तो संस्कृत में बनी रहती है। किन्तु उसमें सामान्यीकरण के चिह्न मिलते हैं जैसे कर्म० में क्रिया के पूरकों के रूप में सामान्यीकरण करने की प्रवृत्ति मिलती है कर्मवाच्य के पूरकों क्रिया-विशेषणजात वाक्यों और विषय प्रयोगों में करण स्थित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

एक बात जो कम महत्वपूर्ण नहीं है वह है संप्रदान का लोप। लक्ष्य और संबंध अथवा भुकारोपण वास्तव में समीपवर्ती भाव हैं और प्रागैतिहासिक काल से प्रत्यय सर्वनामों में समान रीति से व्यक्त हुए हैं सं० मे ते पु०फ़ा० मैय् तैय् की भांति। ब्रा० के समय से संबंध० अन्य कारकों के समान हो सकता है विशेषत: संप्रदान के। ब्राह्मण ग्रन्थों में दोनों कारकों का प्रयोग भजाजा के पूरकों के अथवा क्रिया 'देना' के साथ-साथ पाया जाता है (ऐत० ब्रा० 'तस्य ह दात वस्ता') बाद को यह अन्तिम प्रयोग स्थायी रूप में पाया जाता है। विषयस्त रूप में इन्हीं पाठों में -आ और -ई युक्त स्त्री० का संप्रदान एक० सबंध का स्थान ग्रहण कर लेता है (यही बात अवेस्ता में दृष्टिगोचर होती है) यह

एक ऐसा प्रयोग है जो संस्कृत से लुप्त हो जाता और मध्यकालीन भारतीय भाषा में निरन्तर बना रहता है किन्तु जिसमें रूप अन्य संबंध० के समानान्तर रहता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के आदि में ही संप्रदान का लगभग ह्रास हो चुका था। सम्प्रदान बहु० के लिये अशोक के अभिलेखों में एक प्रत्यय -एहि मिलता है जो 'देना' क्रियाओं के साथ संबद्ध हो जाता है यह मुख्यतः श्लेष-पद-युक्त था (बे० एस० मजूम दार, आसुतोष मेमोरियल' पृ० २१) जब कि उसमें करण अथवा अपादान का भाव भी निहित रहता था। वास्तव में पाली में केवल एक० विकरणयुक्त रूपों में सम्प्रदान के उदाहरण मिलते हैं और वह भी अल्प (सग्गाय गच्छति) और विशेषतः भावना के अर्थ-सहित जिसमें एक महत्त्व भी रहता है जो क्रियार्थक-संज्ञा संप्रदान अशो० पा० -तवे के प्रायः निकट होता है अपुनब्भवाय वस्सनाय (-ताए युक्त प्राकृत क्रियार्थक-संज्ञा मंमवतः इस संप्रदान को -तवे युक्त प्राचीन क्रियार्थक-संज्ञा सहित जारी रखता है)।

एक और कारक ने बहुत बड़े अंश में संप्रदान का कार्य स्वीकार किया है, और वह है अधिकरण। वास्तव में इस कारक का नामकरण ठीक नहीं हुआ और वह विविध और प्रायः अस्पष्ट संबंध प्रकट करता है जिन्हें 'भाग लेना' शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यदि इस शब्द को हम वह मूल्य प्रदान करें जो उसे समाजशास्त्री प्रदान करते हैं। पाणिनि ने 'अधिकरण' शब्द का प्रयोग किया है। अधिकरण का विरोध संस्कृत में वैसा नहीं है जैसा लैटिन में उदाहरणार्थ संज्ञा-रूप की मुख्यतः साक्षात् विशेषता द्वारा। अधिकरण द्वारा अभिव्यक्त इस संबंध की अनिश्चितता के कारण वह पूर्ण प्रयोग के लिये विशेषतः योग्य हो जाता है जो बात संस्कृत में संबंध तथा लगभग अन्य कारकों के संबंध में अज्ञात है। स्थिति या गुणारोपण दिशा (क्योंकि संस्कृत में अधिकरण द्वारा प्रश्न-वाचक quo और साथ ही प्रश्न ubi प्रकट होता है) और अल्प समीपवर्ती भाव है साथ ही क्लैसीकल संस्कृत अधिकरण द्वारा लक्ष्य और गुणारोपण प्रकट करने योग्य है बौद्ध संस्कृत में अधिकरण में 'कहना' क्रिया के पूरक स्वमेव मिल जाते हैं। पाली में अधिकरण करण अपादान और यहाँ तक कि कर्म० का भी स्थान ग्रहण कर सकता है बी० हेनरी ने उसे पाली संज्ञा-रूप को बनाने वाला कारक कहा है।

स्वयं कारक से चलने पर, मध्यकालीन भारतीय भाषा की रूप-रचना प्रणाली में ता तुल्यताएँ बहुत बड़ी मात्रा में पायी जाती हैं। जिन सूक्ष्म भेदों को रूप नहीं निश्चित कर पाता उन्हें निश्चित करने के लिये भाषा अनेक परसर्गों का प्रयोग करती है।

सबसे पहले वाले प्राचीन पूर्व-क्रिया से निकले हैं वे लघु क्रिया-विशेषण हैं जैसे अनु अभि अा जो प्राचीन भारतीय भाषा में भारतीय ईरानी और भारोपीय की भाँति स्वतंत्र शब्द थे। पूर्व-क्रिया क्रियाओं से तुरंत पहले और संज्ञाओं के पहले या बाद

में आन लगी म० पश्चात् अनु अनु सृम्। कम शीघ्र ही स्थापित नहीं हो जाता महाभारत में भ्रातृभि सह और सह भ्रातृभि मिलता है किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक ही उपसर्गात्मक अव्यय के लिये दो ही परसर्ग मिलते हैं और यह उपसर्गात्मक अव्यय वाली प्रवृत्ति वर्गीकृत संस्कृत में सामान्य हो जाती है और वह इस रूप में कि समुदाय का क्रम निर्धारण के सामान्य क्रम के साथ संबद्ध हो जाता है वह चाहे अनिश्चित संज्ञाओं के समुदाय में और रचना में हो चाहे पूरक-समुदाय में और क्रिया के समुदाय में हो।

तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि संस्कृत या अन्य मध्यकालीन भारतीय भाषा में वाक्यगत एक शब्द का दूसरे शब्द पर कारक वचन आदि से संबंधित निरंतर प्रभाव की दृष्टि से परसर्गों की प्रणाली थी। संज्ञा का कारक केवल अपना संबंध क्रिया के साथ और निपातों के साथ बिना समुदाय का अंतिम हुए समुदाय के साथ सान्निध्य प्राप्त करते हुए, अत्यधिक भिन्न कारकों के साथ-साथ चलते हुए, स्थापित करता है ऋग्वेद में अनु प्रायः कर्म० के साथ सम्बद्ध रहता है, किन्तु वह संबंध० अपादान करण के साथ भी आ सकता है वर्गीकृत संस्कृत के वैयाकरण तो इन रचनाओं में से प्रथम तीन की अनुमति प्रदान करते हैं साथ ही पाली में जिसमें अन्य दृष्टियों से वह बहुत कम है अनु अधिकरण के साथ स्वमेव आ जाता है सं० बिना* "पृथक" जिसमें बिना रहित जो कर्म० के साथ केवल शतपथ ब्राह्मण में आता है पाणिनि के ग्रंथ में अपादान के साथ आता है जो उन्हीं के संबंध में कहा जा सकता है, किन्तु साथ रहने की निहित भावना के कारण वह करण के साथ भी पाया जाता है। इसी प्रकार पाली में मातापितूहि बिना बिना मांसेन हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक स्पष्टतः विचित्र मत का नवीन उपसर्गात्मक अव्यय एक विचित्र कारक के साथ निरंतर सम्बद्ध हुए बिना रह जाता है।

सच तो यह है कि पूरी प्रणाली कमजोर है, और परवर्ती इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि प्राचीन पूर्व-क्रिया का केवल कुछ हद तक ही क्रियाओं के साथ संबंध बना रहता है शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र प्रकट करता है कि ओ अथवा उ (अप अव उद्) अथवा प् (प्र प्रति) भ्/व् (वि) सं द्वारा युक्त हुई अनेक आधुनिक क्रियाओं के आदि में कुछ पूर्व-क्रियाएँ आती हैं बाकी के यदि समीपवर्ती अर्थ वाले कुछ शब्दों का समुदायी-करण पूर्व-क्रियाओं से निकला हो या न निकला हो उस संबंध को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है, तो पूर्व-क्रिया की रचना फिर उसी रूप में सामने नहीं आती। संज्ञाओं में दोषांश और भी कम रह जाता है लिखित भाषाओं में प्राचीन पूर्व-क्रियाओं के प्रयोगों में सामान्यीकरण का अभाव एक ऐसी परंपरा प्रकट करता है जो अब भाषा के वास्तविक प्रयोग में पोषित हुई नहीं मिलती।

वास्तव में वाक्यांश में संज्ञाओं के रूप में आने वाले कारकों के प्रयोग का आवश्यक निर्धारण विशेष्यों के स्वयं अनिश्चित रूपों के साथ समुदायीकरण द्वारा यथेष्ट तीव्रता के साथ प्राप्त होता है।

ऋग्वेद के समय से अन्तः (अ० अन्तरम्‌ लै० इण्टर) के निकट अन्तरा मिलता है जो अन्तर (अ० अन्तरो) का करण रूप है और जो फलतः प्राचीन काल में 'भीतर' होना चाहिए किन्तु अन्तरा कर्म० के साथ अन्तर् के रूप में आता है (जिसका एक अधिकरण रूप भी होता है) और फलतः विशेष्य के साथ संबंध नहीं रखता किन्तु ऋ० III,८२ के सँमिठस्य धंममाण पुरस्तात् में पुरस्तात् पुरः की भाँति अपादान या कर्म० के साथ नहीं चलता (ब्राह्मण-ग्रंथों में उपरिष्टात् उपरि की भाँति कर्म० के साथ चलता है) यह एक ऐसी संज्ञा है जो सदा ही के साथ संबंध रखती है। मध्ये समुद्रे के निकट तुल० पा० मज्झे समुद्दे उदाहरणार्थ मध्ये अर्णसः मिलता है। बाद को प फा० आरमन उपरि उपरि की ईरानी और वैदिक रचना कर्म० और करण० में है नवीन रचना सामान्य अधिकरण में है। यह रीति संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में भरपूर प्रचलित होती है उदा० इस प्रकार निर्मित होते हैं अन्तिके समीपे पृष्ठे, अर्थे अर्थाय (पा० अत्थाय अत्थं) हेतोः (पा० हेतु) निमित्तम् निमित्तेन वशात् वशेन आदि। इन्हीं नामजात समुच्चयों के इस प्रसार से उपसर्गात्मक अव्यय-संबंधी प्रणाली का अभाव स्पष्ट हो जाता है।

रचना में कुछ कृदन्त और जुड़ जाते हैं, जैसे -सहित जो सह का स्थान ग्रहण कर लेता है आश्रित जो कभी-कभी 'मध्ये' की भाँति ही विशेष्य हो जाने की और रचना में अथवा कर्म० सहित निर्मित होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है। इसी प्रकार हम गवाक्षगता तिष्ठति गुप्तकाम् विद्याम् गतम् मते की ओर चलते हैं।

अर्थ लुप्त हो गए विशेषणों में सबसे अधिक रोचक 'कृत' है। महावस्तु में रुदानकृता आसना मिलता है पालि में भिक्खापत्त पाया जाता है, किन्तु कायपत्त भी और साथ ही भट्टीनि ममरं कर्ं अभिव्यंजना भी है जिसमें जो करण मिलता है उसमें भावपूर्ण प्रणाली का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार की रचना में कृत का प्रयोग प्रतिबिंबित होता है जिससे सामान्य निर्भरता प्रकट होती है और जिसका पृथक्त्व सं० मह्य मम कृते मत्कृते पा० ममकते मेसस्स कते में पाया जाता है सं० अर्थकृते अमीयाम् प्राणानां कृते। स्वयं क्रिया के सम्बन्ध-सूचक विशेषण से प्राकृत में *केर(क) भी मिलता है मागधी शकु० तव केलक मम धीदिके मृच्छ० चारुदत्तस् केलके शौर० अज्जस्स केरको जो दारय केरिगाए के निकट है साहित्य में ग्राम्य भाव का द्योतक है।

क्रिया 'होना' के वर्तमानकालिक कृदन्त से एक सदृश प्रयोग वाला विशेषण प्राप्त

होता है। मास्कि के अभिलेखों के अम्हस(न्)तक पितुस(भ्)तक में अब भी विकरणों से काम पड़ता है न कि संज्ञा-रूपों से। किन्तु दिव्यावदान में विहारस्वामिमन्तकं भद्रादेयम् (पृ० ४६४) के निकट (पृ० ५२९) देवस्य सन्तकं भक्तम् और (पृ० १७४) भगिन्या सन्तिका प्रेष्यदारिका भी मिलते हैं।

अन्त में कुछ अत्यन्त सामान्य क्रियामूलक विशेष्य कर्म० के परवर्ती रूप में परसर्गों के तुल्य हो जाते हैं यह प्रयोग संस्कृत में देर से पाली में प्राय मिलता है कर्म० के साथ आदाय सिद्धान्ततः 'लिया हुआ' का अर्थ प्रकट करता है किन्तु वास्तव में वह केवल 'सहित' का अर्थ प्रकट करता है इसी प्रकार गहेत्वा है सं० उद्दिश्य और पा० निस्साय प्रति के लोप की पूर्ति करते हैं पा० उपादाय का वास्तव में अर्थ 'अनुसार' है आमन्म का 'सापेक्षिक दृष्टि से तुलना से' ठपेत्वा 'छोड़कर या सिवाय'। यही रीति चलती रहती है, दे० आग उसकी रचना सामयिक सदृश समुदायों से होती है किन्तु उसमें बँगरेजी के ढंग की चीजों की संभावना की जा सकती है ये संबंधित संसृष्ट आदि के आधार पर अनुकरणमूलक हैं, न कि व्याकरण-संबंधी व्यवस्था के अंश।

यह जो केवल नाममात्र रीति है पाली में सबसे अधिक विकसित हुई है। संबंध० के प्रभाव के निकट, रचना प्राय रहती ता है किन्तु प्रमुख रूप में नहीं उदाहरणार्थ ('पद्दाहत्तीन एन् महा०) १ ४ में मिसह् मट्ठा पाया जाता है और १ २१ वह मट्ठुमाए जो १४४ बस्स् अत्थाए के निकट है ६१ १२ मम् अत्थाए जिसमें रचना असम्भव हो गयी थी १० १७ अम्मपत्-अन्तियं किन्तु ११ ३ महावीरस्स अन्तिए, ८.२५ नियमगिणीमम् अन्तिए कए(कृते) अथवा कज्जे (कार्ये) जैसे अर्थ-विहीन शब्दों में रचना सम्भव नहीं है २९.१५ मोमाण कज्जे ५० १४ तस्स य कज्जे ७८.८ तुम्हाण कज्जेण ६ १४ मुम्बवरुयस्स कए। भविसत्तकह (११ वीं शताब्दी) में केवल एक बार पीरनमि मिलता है, सामान्य सूत्र संबंध है तुम्हाहें मज्झि अम्हह मज्झि नायहँ मज्झि। ऐसे ही स्थलों पर वह रीति मिलती है जो आधुनिक प्रयोगों पर प्रकाश डालती है।

समासों की रचना

मिश्रतापूर्ण शब्दों से भरी भाषा-भाषकता विशेषत संस्कृत और मुसलमानी भाषाओं में मिलती है (अर्थों के व्यतिक्रमों सहित जिनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है) आधुनिक शब्दों का बहुत बड़ा समूह जिसमें अर्थ-व्युत्पत्ति-विचार से प्रभावित होने की प्रवृत्ति रहती है संस्कृत शब्दों का प्रयोग जारी रहता है किन्तु अब से मध्यवर्ती व्यंजन अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणत होने या सघोषीकरण करने लगते हैं इन

शब्दों की रचना बहुत सार्थक नहीं रह जाती। प्राकृत के बाद पर-प्रत्यय -न की हिन्दी धातु में आवश्यकता नहीं रह जाती और न पर-प्रत्यय -स्ना की मे॰ जुन् (ज्योत्स्ना) में हि॰ चून् (चूर्ण) या चौक (चतुष्क-) में मध्य व्यंजनों के पर प्रत्यय-संबंधी मूल्य का कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रह गया। बंगाली में विशेषण जिसमें लिंग लुप्त हो गया है, कोई ऐसा शब्द स्मरण नहीं हो आता कि जिससे बेद् कभी विस्व कभी बस्ती प्रकट हो सके।

तो जिस अनुपात में आधुनिक भाषाओं ने रचना की उसी रीति का आश्रय लिया जो संस्कृत में थी मध्यकालीन सामग्री उससे उतने ही बड़े अंश में भिन्न है और जहाँ उनमें साम्य है वहाँ उनका मूल्य वही नहीं रह गया।

इसी कारण अनेक प्राचीन समास दृष्टिगत होते हैं हि॰ माउसी मसी प्रा॰ माउस्सिआ केवल *मातृष्वसृका अर्थ-व्युत्पत्ति-शास्त्री के लिए हैं स्वयं द्वात की रचनाएँ जैसे मे॰ चोंसानि म -आनि अथवा कुळेख में -एख् केवल पानी तेल् से मेल खाते हुए बने हैं और जो रचना में अपना आदर्श स्थापित कर देते हैं।

तो भी दोनों पदों या शब्दों की रचना सामान्य बनी रहती है और इस प्रकार रहती है कि बड़ी कठिनाई से यह जाना जा सकता है कि उदाहरणार्थ क्या हि॰ चौकोना चौमास, पछतावो आधुनिक रचनाएँ हैं अथवा सं॰ चतुष्कोण चतुर्मास्(य)म पश्चात्ताप से निकले हैं। असाहित्यिक भाषाओं में शब्दों या पदों का सदैव विश्लेषण नहीं किया जा सकता किन्तु उसके संबंध में कम-से-कम थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर लेना उत्तम होता है मनी मन्ठोम् (मन्त्र-अनुप्) अम्फुन हमा एक देवता का नाम (यम राज) बहुत प्राचीन होने चाहिए किन्तु अफुन में ही अपच-मोन् 'पूर्ण' अङ्ग-वद् 'आम का पत्थर' मगीमि अङ्गूर 'जिनमे वाली उँगली' आदि मिलते हैं सिमा लैंडपार 'लड़का' मुँमुमुसा 'चूहा' में बहु॰ चारि 'लड़कों' और स॰ मूष के मिले-जुले से रचना उपलब्ध होती है। मराठी जैसी भाषा में वैयाकरणों को प्रधान संस्कृत रचनाएँ प्राप्त करने में कोई संकट नहीं हुई (यह महत्त्वपूर्ण बात है कि संस्कृत समासों का आधुनिक शब्दों के समासों के साथ मिश्रण से ऐसा हुआ है) तत्पुरुष पाय् वाट पाय-वाट् ताम्ब्-माट् ताम्बाड़्-माती चोरगोंड् बहुव्रीहि प्रत्ययत संख्या में कम (व्याप्ति सहित तुल॰ सं॰ -क) ति-मजला चौखुनायचा तिम्गी संबोधन किये हुए रूप म माईबाप् तुल॰ हि॰ माबाप्।

एक प्रकार की रचना जिसके संस्कृत में केवल चिह्न मिलते हैं शब्दों का दुहरापन (द्वित्व) है, किन्तु दुहरे रूप में अनियमित ढंग से परिवर्तित होने की प्रवृत्ति रहती है। पुनरावृत्ति से संस्कृत में नवीनता या विभाजन प्रकट किया जाता है विशेष्य दिवेदिवे

(विचित्र स्वराघात की ओर ध्यान दीजिए) मद॰ सं॰, तुल॰ पा॰ पर्म्म पर्म्म प्रा॰ केसाकेसि। इस संबंध में कुछ अन्य बातें भी हैं, अर्थात् बिना किसी ऐतिहासिक बन्धन के भारोपीय संस्कृत प्रतिध्वन्यात्मकों सहित एक अभिव्यंजक रचना है उनसे संज्ञाओं और क्रियाओं के मिलन की संभावना रहती है। यह बात क्लैसिकल संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में ध्वनि प्रकट करने वाले कुछ शब्दों द्वारा व्यक्त होती है सं॰ (पतम्पकि) भकभका पा॰ घुरघुर, घुरघुरायति। आधुनिक भाषाओं में ऐसे अनेक साथ ही अत्यन्त व्यवहृत उदाहरण हैं बं॰ खट्खटा ठकठका म॰ कड़कनी क्रियाविशेषण उठाउठी।

हि॰ पानिवानि जैसे प्रकार से पजाबी पनिर् अनि पनि सेनि। किन्तु यह अधिक दूर का बीज हुई। पर्यायवाची शब्द के प्रयोग द्वारा एक भिन्न रूप मिलता है डोगरी (पजाबी बोली) चक-मुक्क चल-मुख अजूला-बजूला कछो-काछ (ग्रीरीयकर के अनुसार, 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स' ४ पृ ८१)। किन्तु इसी कारण में एक अंश विकृत भी हो सकता है ग्रीक जिप्सी-भाषा में मस्ता-वस्टा है, फ्रेंच Sain et sauf' (निरापद') के विपरीत जिसके यह तुल्य है दूसरा शब्द (या पद) सुस्पष्ट नहीं है। क्योंकि उनके मूल में क्या है और इन समुदायों में से मुख्य के मूल में है, इससे केवल एक ही बात स्पष्ट हो पाता है म उलझमाबझ, आसपोसा म प्रथम म॰ आर्पार, अड़ोसा पड़ोसी इत्यादि में दूसरा। यद्यपि हि॰ उपास्-आवास् सम्भवतः सं॰ उपवास को अभाव के साथ जोड़ कर बनता है, और हि॰ आस्पास्, सं॰ अस का पादश के साथ जोड़ कर किन्तु इनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि ये समुदाय पूर्वोल्लिखित समुदायों के लिये आदर्श का काम देते हैं, अथवा यदि वे उन्हीं से निकलते हैं तो शब्द-व्युत्पत्ति शास्त्र का साम्य संयोगवश है।

इसी प्रकार की रचनाएँ आरमीनियन तुर्की फारसी में भी मिलती हैं नास्तवप में वे संभवतः स्थानीय परिस्थितियों के कारण हैं वास्तव में वे इनी भाषाओं में प्रचलित हैं भी।

इनमें से जहाँ तक उनका संबंध व्युत्पत्ति से है, यह उन बोलियों में जिनमें कोई साहित्य नहीं है, और उनमें जिनका अभी ऐतिहासिक अध्ययन नहीं हुआ कठिनाई से दृष्टिगोचर होती है, जिसकी वजह से एक भाषा के उधार लिए गए शब्दों को दूसरी भाषा के एम शब्दों से अलग न करने का खतरा रहता है यह बात खास तौर से समझ है कि हिन्दी से उनकी समीपवर्ती भाषाओं ने अनेक शब्द ग्रहण किए हों।

संस्कृत से आय पर प्रत्ययों का समुदाय बुरुक है निम्नलिखित की ओर संकेत किया जा सकता है

अत्यधिक प्रचलित क्रियार्थक संज्ञा संस्कृत की -अनम् युक्त कार्यवाची संज्ञाओं से निकलती है सिंह० -अ, कश० -उन्, सिंधी -णु, लहं० -ण्, पुरानी -अन् तथा व्याप्ति सहित हि० -ना राज० -णो ब्रज० -नौं पं० -णा -ना म० -णे प्रेरणार्थक धातु प्रकार के -आपन से बंगाली की प्रेरणार्थक धातुमूलक संज्ञाएँ जाग्गान खेलान निकलती हैं और कर्तृ० के अर्थ में कुछ कृदन्त देखान। गु० -अँ, राज० -वो जो बंगाली -वे की भाँति है -तव्यम् पर आधारित हैं कर्मवाचक कृदन्त उसी रूप में म० -आवा में सुरक्षित है और वर्तमानकालिक कर्मवाच्य कृदन्त के रूप में सिंधी और गुजराती में उससे बंगाली भविष्य प्राप्त होता है।

वर्तमानकालिक और भूतकालिक कृदन्त नियमित रूप से प्राकृत -अन्त और -त(द)अ से निकलते हैं यह भी सर्वत्र व्याप्ति धारण कर।

सामान्य म हि पाँचवाँ (पञ्चम) आदि इसी प्रकार सिंधी -ओ डोरवाली चोग्गेम् जैसा जो पैन्जवेम् आदि के सदृश है। गुजराती और बंगाली में -म संस्कृत जैसा ही रहता है। सिंहली सिवा जिप्सी-भाषा में नवीन रचनाएँ मिलती हैं।

स्त्री० की रचना। -इका से निकला अत्यन्त प्रचलित पर-प्रत्यय आते दे० इनि प्राय मिल जाता है हि० जोगिन्, पं० जोगण्, म० वघीण् पु० बं० पुरनी यूरोपीय जिप्सी-भाषा कविनी (गभिणी) मनुषेनी।

भाववाचक सं० त्वम्, -त्वनम् हि पं० बुढ़ापा हि० बुढ़ापन् सिं० बुढ़पण्[२] गु० बुढ़ापो पं जड़म्पुणा म चांगुलेपण् चांगुलपण् कश० बैन्युवुथीन्[२] अथवा -थौंन्[२] जिप्सी भाषा मनुषिपे चोरिपेन् यैरूप जिप्सी-भाषा विन्निपेन् जो अंग० begin से है गौण रूप से म० चोरट्पण् चोरपे बंगाली में कुछ व्युत्पत्ति-युक्त विशेषण हैं बाड़ुपाना लाल्पाना।

कुछ पर प्रत्यय तो वास्तव में उन विशेष्यों से बने हैं जो पहले समासों के द्वितीय अंश के रूप में प्रयुक्त होते थे -वम (-व)हर -कर -कार -पाल- और जो मुसल-मानी काल में -शह आदि रूप ग्रहण कर चुके हैं।

सर्वाधिक रोचक अंश तो विशेष मूल्य से रहित पर प्रत्ययों के हैं, जिन्होंने आधुनिक संज्ञाओं की रचना में एक अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

आधुनिक व्युत्पत्तियों में निस्संदेह सबसे अधिक प्रमुख उनमें से सबसे कम महत्व पूर्ण है, सं० -क प्रा० (य)अ जिनके पूर्व -अ -इ -उ आते हैं और ठीक उसी के भाव का कारण है जिससे उसका व्यापक प्रयोग व्याप्ति की भाँति होता है। उसके कारण शब्दों की एक बहुत बड़ी संख्या का विशेषता-सूचक स्वर सुरक्षित बना रहता है, जो

उसके बिना अपना अस्तित्व खोकर स्पर्श में परिणत हो गया था, उदाहरणार्थ सं० अश्रु, प्रा० अंसु, पर्याय में ओष्ठोष्म रह जाता है, किन्तु सर्वत्र भी उसी व्युत्पत्ति वाले रूप के अंतर्गत दृष्टिगोचर होता है, हि० आँसू, पं० अन्थ्रु, म० आँसु (सिंह० अँड अश्रु मिश्रित के आधार पर बना है)। अपि च, नपुं० स्त्री० हो जाता है अपने अन्त्य के कारण हि० में आँस् रह जाता है, किन्तु सिंध में अन्त्य दीर्घ हो जाता है, अछी, सं० मालिका-मालिका के रूपान्तर्गत हि० माली में बहु पर-प्रत्यय बना रहता है जो उसे माला हि० माल (और जिनके साथ उपादेयता के साथ 'चीनी' आला' मुसलमानी मूल का पर प्रत्यय जुड़ जाता है) से पृथक् करता है। इस व्याप्ति की खास बात यह है कि उसके कारण उन लिंगों के वर्गों का निर्माण होता है जो विशेषणों और संज्ञाओं में परस्पर विरोधी होते हैं, यहाँ पर स्त्री० -अका अथवा -अकी नहीं है, किन्तु -अका है, उसी से है, उदाहरणार्थ मैथिली बड़ बड़ी। किन्तु सामान्यतः पुं० की भी व्याप्ति हो जाती है, पुं बड़ा बड़ी, थोड़ा थोड़ी, चिन्ता सेंत सेंह (श्वेत) माल-ए, मालिन्-ए (महत्तक-) अस्तुत गहनुआ -ई कोइ कोंहि, गुड़ी पोन पोनि, बुड्डोटा ठि 'छोटा छोटी'।

शेष में व्याप्ति स्वयं अपने में ही जुड़ जाती है, सं० कालिका (*कालककी) मैथिली० करैमा हि० कलूँया, किन्तु यह ह्रास का है, सं० मातृका से उसी प्रकार माटी का अनुमान किया जा सकता है जिस प्रकार छत्तीस- महरिया से महरी का। मैथिली में तो ऐसे वर्गों की एक पूरी शृंखला है, घोड़् घोड़ा तुल्य है, घोड़ा के निश्चित रूप से ह्रास्य रूप घोड़ौआ। इससे यह प्रकट होता है कि प्रत्यय जीवित है और संभवतः व्याप्ति-युक्त रूपों का प्रभाव स्वर ह्रास का है।

एक दृष्टि से विशेषणों की योजना भिन्न है, छोट्, छोटा छोटका छोटकवा। वास्तव में प्राकृत में पुनरुक्त क वाला एक पर-प्रत्यय है, राजक्क- (= राजकीय) पार्थिवक- महिषिक्क-(किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा के अभिलेखों में पूर्वी अशोक० -क्य अथवा बेसनगर एक प्रकार से तरल संबंध के प्रतीक हैं)। प्रारंभ में यह भावना एक अभिव्यंजक रूप में पायी जाती है, म० पाहुणा या पाहा के निकट है, फुआरकी या फुआरी के निकट है। यमुनाकी संज्ञाओं को देखिए, बकरा परदेस-क पठिएह। बंगाली में यह एक अवस्थित पर-प्रत्यय हो जाता है, चड़-अक (प्रा० चड) -अड़-अक् बैठक। उसमें स्वभावतः सम्भवतः पर-प्रत्ययों का मिश्रण है, हि० पैठक (-आकु-)। प्रमुख बलात्मक बोधार और क्रिया क-न युक्त हलन्त और क्रियार्थक-संज्ञा मंत्रगत ईरानी प्रयोग हैं, तुल० मीमैम्प्टियम इंडो-ईरा० फंटियर लैंग्वेजेज पृ० १५८।

प्राचीन काल में संस्कृत में -र-(र)प्रत्यय का प्रयोग कम पाया जाता है स्थिर धनिष्ठ- मधुर-। यह पर-प्रत्यय स्वार्थक की ही रचना के रूप में नहीं हो जाता वरन् एक साधारण व्याप्ति के रूप में भी (कुछ दीर्घ स्वर वाले रूप हैं जैसे -क- के लिये कर मार वाचाल शीतालु)। मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह प्रयोग व्यापक होता है और पुनरावृत्ति ग्रहण करता है पा० दुट्ठुल्ल-(दुष्ट और दुष्ठु-) अट्ठिल्ल-(अस्थि) महल्ल(क) (तुल० अशोक० महालक-)। प्राकृत में विशेष मूल्य-रहित बहुसंख्यक उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक भाषाओं में विशेषणों के निर्माण में उसका प्रयोग होता है हि० भामला म० अगल (जिसमें मूर्धन्य सामान्य -ल- की कल्पना करता है) से अपिस्लो(-अग्र) -हि० पहिला (प्रथम प्रा० पहिल्ल बं० पाहिल (प्रथम) -मराठी गुजराती (हाल ही में) बंगाली बिहारी और हिन्दुस्तानी की कुछ बोलियों में भूतकालिक कृदन्त की भी व्याप्ति हो जाती है म० गेला (गत) पातला (प्राप्त) बं० मानूमिल सुविल उसी से क्रियामूलक विशेष्य को विकृत कारक में है चलिले।

आधुनिक भाषाओं में एक और प्राय मिलने वाली व्याप्ति मूर्धन्य ड़ अथवा ट् है। पाणिनि को ही आबाट ज्ञात था किन्तु अपभ्रंश और देसी तक उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। बं० चामड़ा (चर्म) पातड़ा (पात्) आपुड़ी जो आप् (स्वम्) के तुल्य है चामड़ा (चर्म) आदि में उसका कुछ व्युत्पत्ति का मूल्य है यह सिन्धी चम्ड़ो मारवाड़ी पु० गामड़ं, चौड़ी हि० अमड़ी अपड़ा में वह स्वार्थक है।

अधाय-रूप जो उत्कृष्ट *-ट्ट की कल्पना करता है का प्रतिनिधित्व सिन्धी और मराठी में क्रियामूलक धातुओं से निकले कुछ विशेषणों में होता है सिन्धी चपट् म० चेपट् इसी प्रकार बंगला में निरन्तर चलता है, नामधातु विकरणों के अनुकरण पर पाँसुटा रोमाटे। प्रत्यक्षत यह यही पर प्रत्यय है जो मध्यवर्ती सौंदर्य (लिट) के अन्त में आता है। बंगाली में उसका एक विशेष प्रयोग है संज्ञाओं के साथ प्रत्यय होने पर इससे उन्हें एक निश्चित मूल्य प्राप्त होता है यह एक उपपद की स्थान-पूर्ति करता है गाछटा "यह, बड़ा पेड़ गाछटी "यह, छोटा सुन्दर पेड़"।

-अट् (हि० बनावट्) और -हट् (हि० मुस्काहट्) रूप अस्पष्ट है चट् भाग, दूत सं० घनउपाट दोनों रूपों में से केवल एक की स्मृति दिलाता है और कार्यवाची संज्ञा को स्पष्ट नहीं करता।

संस्कृत पुरःप्रत्ययों के कुछ चिह्न मिट गये हैं उदाहरणार्थ अनेक शब्द प (प्र) द्वारा भो और उ द्वारा युक्त होते हैं जिनसे उपालीन रूप में अप अव उप उत् का प्रतिनिधित्व होता है और फलत कोई स्पष्ट महत्व दृष्टिगोचर नहीं होता। कुछ संस्कृत पुरःप्रत्ययों का कालिक उधार रूप में प्रयोग हुआ है किन्तु उन्हीं शब्दों के साथ जो स्वयं

संस्कृत के हैं वे हैं स सु जिनमें स्व (सुमाम्—स्वभाव) के समाहित हो जाने की संभावना रहती है स्वय स्वर से पूर्व मन् रूप के अंतर्गत मकारात्मक म प्राय मिल जाता है जैसे मध्यकालीन भारतीय भाषा में। स्वभावत कुछ मुसलमानी पुरःप्रत्यय हैं हि वे जिप्सी-भाषा जि यो फ़ारसी के बे बी के समान हैं न नि सं० वि के बद ना जो बंगाली में देशज शब्दों के साथ सम्बद्ध हो सकता है स० 'न' में सुरक्षित मिलता है। किन्तु प्रचलित शब्दावली के शब्दों के निर्माण की दृष्टि से सचमुच इन सबसे कोई काम नहीं है।

रूप रचना

मध्यकालीन भारतीय भाषा के विकास-काल में ध्वनि-संबंधी परिस्थिति और आकृति-मूलक सादृश्य के कारण कर्ता० और कर्म० का सामञ्जस्य उपस्थित हो जाता है जो पृथक्त्व की दृष्टि से केवल नपु० के लिये सामान्य था -इ और -उ युक्त स्त्री० और नपुं० संज्ञाओं में यह बात शीघ्र ही प्रस्तुत हो जाती है विकरणयुक्त पु में प्रतिरोध-शक्ति अधिक लंबी रही है, किन्तु बहु० में प्राकृत मे तो पुत्ते के निकट कर्म० पुत्ता मिलता ही है अन्तत उस दिन से जब से जैसे अपभ्रंश मे पुत्तो और पुत्त पुत्तु के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, एक सामञ्जात रूप रचना मिलने लगती है जिसमें गौण कारकों के विरोध में एक मुख्य कारक मिलता है।

उनके दो समुदायों में भेद उपस्थित किया जा सकता है

एक ओर तो प्राचीन संबंध -संप्र का स्थानापन्न जिसका सामान्य कार्य परसर्गों को जारी करना है (उपसर्गात्मक अव्यय पूर्णत अपवाद-स्वरूप है बस्कुन प प्रघुन नु 'में') और जो विशेष्य का वाक्यांश के साथ संबंध स्थापित करता है इसका तात्पर्य यह है कि इस विकृत रूप में सर्वनामों का पूर्ण अभाव होता है वे सब सर्वनामों में सुरक्षित रहते हैं (उदा मैथिली बं० दे ता पनाई उन्हें दोतिस् अकली छत्तीसगढ़ी एक वचन में कुछ पुरुषवाचक सर्वनाम और प्रश्नवाचक सर्वनाम) यहाँ परसर्गों को संज्ञा में अपने को दृढ़ बनाने की सुविधा प्राप्त होती है और उससे एक नवीन रूप रचना का निर्माण होता है।

दूसरी ओर परिस्थिति-मूलक कारक हैं करण अधिकरण अपादान जो वास्तव में बच रहते हैं, किन्तु उत्तरोत्तर वास्तविक संज्ञा-रूप से अलग होते जाते हैं वे वहाँ भी मिल सकते हैं जहाँ कोई अन्य रूप रचना नहीं है, वहाँ लुप्त हो सकते हैं जहाँ एक नियमित रूप रचना है अंत में वे एक क्रिया-विशेषणमूलक मूल्य ग्रहण लेते हैं।

मुख्य कारक

दो रूप हैं एक जिसके अंत में न्यून स्वर या व्यंजन आता है, दूसरा जिसके अंत मे दीर्घ स्वर। प्रथम मूल रूप है व्यंजन प्रकार में लिंग और वचन दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके विपरीत द्वितीय वर्ग मे वे दृष्टिगोचर होते हैं और निस्संदेह विशेषणों अथवा मूल द्वारा लिंग न प्रकट करने वाली संज्ञाओं में उनके सामान्य प्रयोग का यही कारण है।

मूल संज्ञाएँ

एकवचन

कुछ उदाहरण

	पु०	स्त्री०
पु० राज०	पाउ (पाद)	भाट (प्रा० भट्टा)
		आगि (अग्नि)
सिंधी	देहु^उ (देश)	सध्^अ (श्रद्धा)
	पि^उ (पिता)	रात्^ए (रात्री)
	केहर्^ए (केसरी)	विज्‌ज्^उ (विद्युत्)
सिना	मोस् (मांसम्)	जिप् (जिह्वा)
		गेम् (गृहिणी)
		शैस् (स्वश्रू)
कश०	धूर् (धौर)	ज़ेव् (जिह्वा)
		रात् (रात्री)
यूरोपीय जिप्सी-भाषा	चार्	जिव्, रत्
हिं०	चोर्	जीभ् रात् सास्
पंजाबी०	फल् (फलम्)	गोठ् (गोष्ठी)

इसी प्रकार मधु के लिए म० मुह (मुखम्)।

न्यून स्वर स्वर-संबंधी प्रत्ययों से निकलते हैं या निकले थे प्रा० चोरो चोर, जिब्भा जिब्भ रत्ती रत्ति अग्गी अग्गि सस्सू सस्सु।

आधुनिक समानता इन विविध विकासों को छिपा सकती है। प्राचीन बंगाली में मिलता है कुम्भीरे, कान्हि (संबोधन "कृष्ण") बंगाली बोली में पुति जो पुत्^अ के समीप है नह (स्नेह) इस बात की ओर भी प्रायः ध्यान जाता है कि उनमें शेष मागधी

प्राकृत की विशेषता -ए वाले हैं व्याप्ति वाला रूप -ए है लोके बोले जल सबे। साम्य के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है और यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन सिंहली में कर्त्ता पु मपुं० है जो -ए युक्त है (पुत्ते करने) और जो उसी प्रकार पु० बहु० -अहु के विपरीत है जिस प्रकार अर्द्ध-मागधी -ए -आसो के। किन्तु -ए का स्वयं विरोध -आसो को इस अंतिम वाली में पाया जाता है यह सूचित करता है कि हर हालत में यह तथ्य रूप-विकार-संबंधी है न कि ध्वनि (उच्चारण)-संबंधी स्वयं बंगाली में सिंहली की भाँति सामान्य व्याप्ति -आ युक्त है जो -अए से नहीं आ सकती जैसा कि लोक-ए के अनुमान से होना चाहिए यदि यह अंतिम रूप ध्वनि-संबंधी था तो हिंदी का -आ युक्त पूरा समुदाय आधुनिक उधार लिया हुआ समझा जाना चाहिए। तब करण का आश्रय लेना पड़ता है इससे वाक्य-रचना का प्रश्न उत्पन्न होता है और -ए तथा -अहि अथवा -ए की प्राचीन लेखन प्रणाली में साम्य का अनुमान होता है। समस्या अस्पष्ट बनी रहती है।

इसी प्रकार जहाँ वे हैं (आधुनिक सिंहली में व्याप्ति सामान्यतः मिलती है) वहाँ ह्रस्व विकरण एक साथ ही सब भाषाओं में दृष्टिगोचर नहीं होते। -उ युक्त विकरण की सामान्यतः व्याप्ति हो जाती है और इसी प्रकार किन्तु कुछ कम -ई युक्त स्त्री० विकरण की जैसे भवदृश्ती में पुत्तु ""पुत्र" किन्तु सखे "सहन" भी साथ ही विशेषण में मैथिली में स्त्री० बड़ि का पु० बड़ से विरोध है।

बहुवचन

पुल्लिंग

प्राचीन काल में विकरणयुक्त पुल्लिंगों के बहुवचन प्रा० -आ व्यंजनयुक्त संज्ञाओं में दृष्टिगोचर नहीं होते हि० सिप्सी-भाषा घोड़, कब० घूर। जहाँ न्यून स्वर बना रहता है, वहाँ उसका विरोध एक० के न्यून स्वर से पाया जाता है (अपभ्रंश -उ जो प्राकृत -ओ और अ से निकला है)।

सिंधी	एक० ठेहु	बहु० ठेह
रूबीमपुरी	मरु	मरु

इस विरोध के चिह्न को समीपवर्ती भाषाओं में अनेकाक्षरात्मक स्वर-संबंधी परिवर्तन क्रम में पाये जाते हैं

कद० एक घोडुर	बहु० घोडर (किन्तु घूर)
कहंगा कुक्कुड़	कुक्कड़ (किन्तु मर)

स्पष्टता की आवश्यकता निस्संदेह मूल संज्ञाओं के बहुवचन में व्याप्ति के विस्तार के मूल के संबंध में रही है।

यूरोप की जिप्सी-भाषा में एक० मनुस्, फल् का विरोध बहु० मनुसा फला से पाया जाता है, जैसा कि स्त्री० एक० चिंग् बहु० चिंगा भूपी में मानुर्वेस् से भिन्न मानुस्-ए नियमित रूप से मिलता है, पुल० एक० चोल्में का बहु० चोभे। इसी प्रकार सामान्य गुजराती में है बाळको किन्तु खैर (khaira) में बाप् का बहु० बाप है (और नपुं० में घर घरों) पलन् (palan) में नोकर् का है नोकरों घरों की तरह।

यह मस्पस्तत कराण एक० सो 'राजा' वाला कारक है बहु० सोभी (सोभें एक० बहु० के निकट) समवत माल के निकट तोराही अरम्-अ की भी (पुल० स्त्री० में एक० बहि बहु० माल को इ-अ से है) अस्य -ए सहित कवी तोप्-किस-ए, वैगेलि गुड़-ए, कराय दर्द (स्त्री० बूकी?) सिनी प्रहर्-अ (स्त्री धाम्-ए) बहु की सोकपा अपर्थे-आ और अपर्थे द 'चोरे' ।

-अ युक्त संज्ञाओं मे सिंधी घोंहरे बहु० और एक० म समान रूप से है।

नपुंसक

प्रा -आई का स्वर-संधि स्थानो के अनुसार विविध रूपोंमें होतां है म० पुठं (पृष्ठानि) गुज०चोखी घरों [सामान्य भाषा घरों -औं व्याप्ति वाली संज्ञाओं में काम आता है छोकरों जो छोकरूं का बहु० है कोंकणि घोड्डां (वर्णानि)]।

स्त्रीलिंग

प्राचीन -आ युक्त विकरणों मे प्रा० -आओ सामान्यत -आ तक सीमित रह जाता है का० एक चेर् बहु० चेर यूरोपीय जिप्सी भाषा चिंग् चिंगा मन्देमालि (mandeali) बेर् "बहन" बेहा (किन्तु घर एक० और बहु) म० ईट् ईटा कोंकणि वाट् वाटो।

किन्तु दूसरी ओर, उन भाषाओं में जिनमें केवल दो लिंग है नपुं० में कुछ प्रत्यय मिलते हैं जब बातें हि बातें स्त्रीम किताबें बहुएँ को तुलसीदास की रचनाओं मे -ऐ युक्त अपवाद को बीच कर देता है गुजराती जिसम बहु नपुं० -आं युक्त है, के निकट सिंधी में सधों और मधू है अहुरा म पकानी अत म मारवाड़ी में बातों है इन पिछली दो भाषाओं में साक्षात् रूप विकृत रूप में समान ही है। इसस्थान-पूर्ति का इतिहास अज्ञात है। यह एक रोचक बात है कि भीली में स्त्रियों के लिए अनियमित रूप म कभी स्त्री० और कभी नपु का प्रयोग होता है बैरी और बैरू इससे द्रविड़ नियम की याद

जाती है। गुजराती में स्त्री से संबंधित विशेषण (किन्तु न तो संज्ञा न क्रिया) आदर भाव के कारण नपुं० बहु० में आता है मारां मा सारां छे ओ मारां प्यारां बेहेनो।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की -ई युक्त संज्ञाओं में प्रा० -ईओ के सदृश ई की आशा की जाती है। यह वास्तव में मिलती है कोंकनि कूड बहु० कूडी मरा० बैहण् बहु० बैहणी कश० राथ्, बहु० रूर्नों थ[उ]। किन्तु यह अपवाद-स्वरूप है। चाहे ई, -आ की भाँति भाषा के रूप में प्रतीत होती हो क्योंकि उससे पु० एक० अथवा संस्कृत से लिये गये (नदी माला) स्त्री० एक० का स्मरण हो आता है अथवा अन्य कोई कारण हो वह सामान्यतः सर्वत्र व्याप्तियुक्त प्रत्ययों के रूप में प्राप्त होती है यूरोपीय जिप्सी-भाषा फेन् "बहन" बहु० फेनीआ चुरी चुरीआ गवर्ड्यली पु 'लड़की' बहु० चुम तोरवाली पु 'लड़की' बहु० पी (तुल० असीं स्त्री० एक और बहु० सामान्य पु० एक० असु)। व्याप्तियुक्त प्रत्यय सिंधी में नपुं रूप में है राति‍एँ। लहंदा में केवल उसका नपुं० के साथ अनुकूलत्व हो जाता है अक्खीं (सं० अक्षीणि नपुं० जो -इ युक्त अन्य विकरणों के साथ स्त्री० में हो गया है क्या उसमें स्त्री० बहु० के नपुं० रूप-रचना के मूल तो निहित नहीं हैं ?) कश्मीरी बहु० छोहिर् रस्सी जो रज्जु (रज्जी) से है। साथ ही हि० बहुनें आदि में -आ युक्त संज्ञा-रूप वाले अंश।

-ऊ युक्त संज्ञाएँ अन्य संज्ञा-रूपों और विशेषतः -आ युक्त शब्दों के आधार पर अपना रूप निर्धारित करती हैं चाहे सादृश्य के माध्यम द्वारा हो लहंदा हंजू, मणी की भाँति बणनां चाहे पूर्ण समीकरण द्वारा हो म० बिना सिंधी विजू।

संबंध-सूचक संज्ञाओं का बहुवचन

-ऋ युक्त संबंध-सूचक संज्ञाएँ बहुत समय तक एक अलग समुदाय का ही निर्माण करती रहीं और उसके चिह्न अब भी अवशिष्ट मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें समीपवर्ती अर्थ की संज्ञाएँ भी जुड़ गयी हैं।

वेदों के समय से पितृ के अनुकरण पर पत्यु ('पति' के अर्थ में किन्तु 'स्वामी' के अर्थ में पते) जन्यु (हॉपाक्स विकरण यौनि से निकले संबंध का यह अकेला उदाहरण भी है) और साथ ही सख्यु। यदि पाली कर्ता बहु० सत्थारो कर्म० एक० सत्थारं से पितरं की अपेक्षा सत्थार का रूप अधिक सामने आता है, तो करण० सखिना संबंध० सखिनो को -इ युक्त विकरणों के रूप में माना जाता है और पिति जैसे प्रकार की स्मृति दिलाते हैं जो उत्कीर्ण लेखों और मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रायः मिल जाता है (किन्तु प्रत्येक दृष्टि से ये पुराने रूप हैं पाली गद्य में साधारणतः सहायक- अधिक मिलता है)। महावस्तु में भार्याम् के बदले भारियरम् है, जिसकी रचना मातरम् के साथ-साथ मिलने

बाके मातरम् के आदर्श पर हुई है इसी प्रकार प्राकृत में मामरं है और मायं है और देवी माता' का अर्थ प्रकट करने के लिये रचित मामरा इस बात का प्रमाण है कि बहु० मामरा निरन्तर बना रहता है।

अथवा सिंधी में संबंध-सूचक समासों म बहु० (किन्तु एक० के विकृत रूप में नहीं) की विशेषता र सुरक्षित है

एक पि[उ] बहु० पिउर[अ] एक० मा[उ] बहु० मादर[उ]

मा[उ] माउर[अ]

इसी प्रकार सादृश्य के आधार पर मा[उ] भेन्[उ] धि[उ] गुरु[उ] के संबंध में विचार किया जा सकता है।

हिन्दकी पीरिँ मूहाँ के समीप गोहरिँ निस्सन्देह इसी संबंध-रूप का बचा हुआ रूप है, एल० एस० आई० VIII, I पृ० ३३७।

सिंधा मे सीधे संबंध-सूचक समासों के समुदाय अथवा संबंध द्वारा बहु० -आरें में मिलता है वि "लड़की" दिवारें म "मां" मेंयारें स "बहन" समारें, सेंभ्र "सास" सैंभपारें, येम् "पति" येमारें, सेंभ्नृओ सेंभनृयारें, सेँरि "साला या बहनोई" सेँयारें आदि।

व्याप्ति-युक्त संज्ञाएँ

इन संज्ञाओं के मुख्य कारक का इतिहास प्रत्येक भाषा में स्वर-संधि के सूत्रों पर आधारित रहता है। फलतः यह देखा जाता है कि ई युक्त संज्ञाओं में प्रा० एक० -इओ और बहु -इआ का अन्त में आने से समान परिणाम होता है हि सिंधी भाली म० भाली एक साथ एक० और बहु० होता है। अस्तु, मुख्यतः जिन पर विचार करना होता है वे क्रमशः -अओ युक्त पु अत में -अ (यू) अ युक्त नपु० और स्त्री है।

पुंलिंग

एक० में ब्रज के कृदन्तों (गयौ) में और क्रियार्थक-संज्ञाओं (मारनौ) में संयुक्त स्वर बना रहता है किन्तु घोड़ा (दे अन्यत्र)। सिंधी गुजराती राजस्थानी और नेपाली बुन्देली में मिलता है घोड़ो इसके साथ है कश० गुर[उ] सिंधा मास्[उ] (महस्सक) कोरवाली में यूरोपीय जिप्सी-भाषा घोरो (घट)।

मराठी हिन्दी ब्रज पंजाबी बंगाली में घोड़ा पार्ई, गवरबती घोड़ा बैंगलि

तत "पिता" अवधुन बांड सिंहली पुता [सामान्य रूप अंता (हाथी) और इसी प्रकार बहु० -ओ के सामान्य रूप हुए हैं, पु सिंहली -अहु दे० अन्यत्र।]

सीरिया की जिप्सी-भाषा में दो रूप मिलते हैं यक, दीर्घ विशेषणों के प्रकार हैं प्रकार जन्मो (जामातृ), बारो अपवाद-स्वरूप हैं किन्तु सर्वनामजात प्रत्यय मन्दो-मृ दृ वाले अतीत काल में वह सुरक्षित है। मराठी में भी ऐसे क्रियामूलक रूप हैं जिनकी रचना प्रत्ययस्त -दो और -लो जो -ता -न्त के निकट हैं, से युक्त कृदन्तों के आधार पर हुई है (तुल० बोवेरे, बी० एस० ओ एस० IV पृ० ५६७)। ब्रज के संबंध में दे ऊपर। बंगाली छोके के संबंध में अन्यत्र देखिए।

बहुवचन में *-अय अथवा *-अस (सं० अका) से आगे बढ़ने पर परिणाम भिन्न आता है म गु घोडा किन्तु बुन्देली हिं० पं सिं० घोड़े कश० गुरि सिना मारेरे, बैगेलि तले यूरोपीय जिप्सी-भाषा लोरे गूरी बके (मूल संज्ञाओं तक प्रसारित मनुसे मनो)।

नपुंसक लिंग

म० मुलवें मुलगे का बहु० पु० छोकरों छोकरें का बहु०।

पुल्लिंग और नपुंसक० की स्वर-संधि के नियम स्वतंत्र हैं कोंकणि में जिसमें गुजराती की भांति पुं० गवो है, नपुंसक० में मराठी नियम का पालन करते हुए बुरूं है।

स्त्रीलिंग

यह प्रा० घोडीओ है जिसका संबंध गु घोडी से स्थापित करना आवश्यक है और निस्संदेह कर गुएंर के साथ। किन्तु उसके समीप एक रूप था -इआओ -इअओ जिससे है पु० घोडीयो कोंकणि घोड्यो म० घोड्या हिं० पं० रान घोड़ियाँ यूरोपीय जिप्सी भाषा रनीआ (हिं० रानी सं० राज्ञी) गूरी कोमिए, कूरे, जो चालि चूरि से हैं में संभवत नपुं का प्रत्यय है तुल नपु० पानि-ए उसी से मिलता है पु० सहिव बके, ऊपर देखिए यही प्रश्न मुलाइ (महल्ला) के बहु० मुलायो के निकट मुलाएँ के संबंध में उठता है, तुल० असाहिये स्त्री० (प्राचीन नपुं०) सेतें (सेतु) का बहु सेवे और पु० माके।

तीन कारक

एक विभिन्न मुख्य कारक के विपरीत सामान्यत एक विभिन्न प्रकार के मूल्यों से युक्त विकृत कारक मिलता है जो परसर्गों से शक्ति ग्रहण करता है और प्राचीन संबंध०

पर आधारित रहता है। इसके अतिरिक्त शेष तीनों प्राचीन कारक—करण अपादान और अधिकरण कुछ-कुछ सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं।

यह सोचा जा सकता था कि यह कारक अपने कम-से-कम महत्त्वपूर्ण चिह्न तो छोड़ जाता क्योंकि मूलकालिक क्रियामूलक रूप के साथ उसके प्रयोग की आवश्यकता पड़ती रहती थी और जैसा कि उसके कर्मवाच्य रूप में देखा भी जाता है। उसमें ऐसा कुछ नहीं है उसमें बड़ी मुश्किल से केवल विकरणयुक्त एक० मिलता है जो सामान्यतः क्रियाविशेषणमूलक रूप में है।

पुरानी मराठी में उसका प्रचुर रूप से प्रयोग हुआ है गावें (गर्जेन) सेनावइएँ में प्रत्यय का प्रयोग -ए युक्त (सेनापतिना) विकरण में होता है बहु० पु० नपुं० पक्षिर्हि चिह्निं (प्राकृत -एहि से)। स्त्री० एक० में देविया की विकृत रूप में देवीए से भिन्न है, तुल० प्रा -आए? अथवा संलग्नपद? हर हालत में बहु० का अभाव है पुरानी विकृत रूप है, ऐसी चिह्निं। आज यह केवल एक० विकरणयुक्त के रूप में रह गया है और ऐसे वाक्यों में मिलता है जो मुझे सज़ें अथवा 'अपल्या हातें करम' प्रकार के समुदायों में परसर्ग का काम करता है।

व्याप्तियुक्त विशेषण में पु० बोर्[उ] स्त्री० बुर्दृ[उ] नपु० में संप्रदान एक० पु० बविस् स्त्री० बर्जे से नपुं० पु० बर्[ई] स्त्री० बवि को जिसके प्रत्यय निस्सन्देह प्राचीन अप० -ए, -इ प्राकृत में -(अ)एन-ईए द्वारा प्रकट होते हैं, अलग रखा जाता है।

बहु० में प्रत्यय की मदद अपादान के साथ हो जाती है और एक० में मूल संज्ञाओं के साथ। पु० पून् अपा० चोर के आधार पर निर्मित हुआ प्रतीत होता है हर हालत में यह उससे भिन्न है तुल० पुतिन् या मराठी पे सिं की भांति *साहितेन स है?

सिंहली में अचेतन संज्ञाओं में जो नपुं० मूल संज्ञाओं के सदृश हैं, करण एक० के अन्तर्गत एक प्रत्यय होता है अतेन् अतिन् (हस्तेन) जो अत (व्याप्तियुक्त मुख्य कारण) से है। इन संज्ञाओं के आधुनिक बहु० का निर्माण एक समास द्वारा हुआ था जिसका द्वितीय भाग एक० के रूप में आता है करण का रूप उसमें समान रहता है अत्वलिन् "हाथों से"।

पुरानी राज० ई प्रत्यक्षतः संस्कृत -एन अप -ईं का उत्तराधिकारी है सुखिं देहई और इसी प्रकार पाणिइं पु पु पोहई हथिईं। स्त्री० मे स्त्रीइ और माकाई। बहु० मे (हाथे अमन पाणीए, स्त्री० कलाए, नारीए) -ए अप० -अहिं के सदृश है जो प्राकृत -एहिं का स्थान ग्रहण कर सका है। उसमें केवल ऐसे रूप ही अधिक मिलते हैं गु० हाथि राज० पोरी गु० बोरे (गुज० पोड़ो सिहल० पोड़ा)।

पुरानी बंगाली में पूर्ण एकीकरण है, बेगें (बेगन) -आले स्त्री० मीसे माम्हियें (सीस्या मास्या) और बहु० में तिमिएँ पटे उसमें 'हामे' येप रह जाता है। इसी प्रकार मैथिली म फन्चे जैसे थो मेनुएँ सों (मुख्य० मेना) के निकट है और साथ ही पानिएँ और स्त्री० में कन्चे बेटिएँ। प्रत्यय -एँ सम्पन्न हो गया है।

उत्तर-पश्चिम में भी यह मिलता है जिसके बिना उसका विस्तार नहीं माना जा सकता बैंगेलि अबातें (अदकुन आबोलुं) खोवार कई-एन् बैगलि सुइ (मुहु) कावार पचेन् (संभवतः पलीय)।

अपादान

इसके संबंध में अवशिष्ट चिह्न भी बहुत कम है, और व एक० के उस प्रत्यय के साथ सम्बद्ध हुए भी मिलते हैं जो मूलतः क्रियाविशेषणमूलक था प्रा० -आओ। सिंधी की नियमित रचना म० में -औ-नि उन्-में अन्तभूत से पु० राज० का हाथो हाथएँ विसो विविध प्रकार प्राप्त होते हैं, तुल० पा० दिसोदिम। उत्तर-पश्चिम समुदाय में खोवार मन्-मार् (मर्कस० मनो) अर्थात् मिलते हैं तुल० अर्थे वोरबाली सिंर, तुल० करण० मवि० सिंरि शिकहा० सिर् समस्त ममर्नड़ी बाबो तुल० सिक्व० बाब पु० कश० मैंमा क० धुर पेठ, मन्[अ] अर। यूरोप की जिप्सी-भाषा में सदृश प्रत्यय सहित क्रियाविशेषणों से अधिकरण का अर्थ निकलता है तन्द् अकूतू (अमन्तद् *अग्गावा) और फक्तः पुई-अन्।

एक अनुनासिक रूप भी मिलता है, जो करण के सादृश्य पर बना प्रतीत होता है कश० मूनो सों तुल० हि से म० हिं पु० राज० कोसां कम मिलता है पं० मरो निपी करें और फ्लतः स्त्री० अबानी मोहियां बहु करनियां -अउँ -औं -एँ भी मिलते हैं और साथ ही पश्चमों में सां सउँ वां। संभवतः अदकुन अबोन् की तुलना करना भी आवश्यक है। अर्थ के रहते हुए भी मराठी अधिकरणों गाड़ी इयां पादर्षि बोलनि दोनों मराठी का निस्संदेह यही मूल है।

अधिकरण, पूर्वी विघ्नुत रूप

इस संबंध में भी प्राचीन प्रत्यय अकेला जो स्पष्टतः सुरक्षित रह सका है विकरण पुरुष के एर० का है।

संस्कृत -ए कभी-कभी -ि की भाँति मिलता है कश० बारि, गु० हाथि (हस्ते) तुल० पु० राज० घरि, घर। प्रायः यह स्वर लुप्त हो जाता है किन्तु उसका चिह्न पूर्ववर्ती

स्वर में विशेषत रह जाता है जैसे गु० भेर्, कोंकनि गेर् (*घरि से) लहंदा चनुगिल (अनुगुल् से विहृत० अनुपल्) में हि० जिप्सी-भाषा मांधि हूर लहंदा घर् सं० घोर् घोर्। यह रूप कुछ परसगों में सुरक्षित है कोंकनि गेर्, कथ मनुष (मध्ये) हि० पास् (पार्श्वे)।

व्याप्ति-युक्त संज्ञाओं में -अके से एक स्वर, -ए अथवा -इ, उपलब्ध होता है जिप्सी-भाषा केरे, गु० कश० घरे, पु० पं० लहंदा राज० बज पु०बं० बरे पु० कश० हाथे (हस्ते) हूरि, अस्ति यथानि कलाय सुरे, जिप्सी-भाषा मधे मन्द्रे। मारवाड़ी में तो अब भी 'मार्गे' मिलता है, जिसके अनुसार फिर बने हैं पछे भी।

कभी-कभी इस प्रत्यय का विस्तार अन्य विकरणों तक हो जाता है प० छांवे जो स्त्री० छां(ह) (छाया) से है पु० कश० बसे धारे (धारा) आधुनिक दारि धारि पु० बं० सांझे। इससे प्राचीन विहृत रूप -आए को अधिकरण के रूप में मानने का कोई कारण नहीं है शेष पु० राज० रावें बाहि (बाहु से) में और विशेषत विवाह, विधि कार्य में इ निश्चित रूप से परसर्ग है।

एक बड़ी भारी कठिनाई अपभ्रंश में दो प्रत्ययों -ए, -इ और -अहि अथवा -अहिं का साथ-साथ मिलना है। यह पु हि० वेसहिं 'सेवकहि मिश्रा कागी द्वारा प्रमाणित भी है हिवडे के निकट हिअहि कश० द्वारा अन्ति के निकट अन्तिहि बेहेर्ए के निकट पु० सिंहली बेहेरहि और आज भी मध्यीमपुरी घरें, गांवें बजारें जो दुवारे के निकट है, समहे। स्त्री० में लहंदा अक्खीं बजारिं (पं० बहु० घरिं हथिं जिस्सदेह अनुरूपत प्राप्त है)। ऐसा नहीं है कि अनुनासिक प्रत्यय की व्युत्पत्ति मालूम करना कठिन हो अधिकरण क्रियाविशेषणमूलक प्रा० तहिं से नमूना प्राप्त होता है किन्तु अधिकतर यह ज्ञात नहीं यदि -ऐ -ए एक या दूसरे प्रत्यय पर आधारित है। फिर करण के साथ गड़बड़ की आशा की जा सकती है और वास्तव में गुजराती और मारवाड़ी में घोड़े के दो महत्त्व हैं।

गुजराती में यह प्रत्यय विहृत के साथ सुप्प्रत्यय के रूप में आता है घोड़ए, इसी प्रकार स्त्री० घोड़ीए, बहु० घोड़ाए, घोड़ाओए, घोड़ीआए इसी प्रकार सिंहली में अधिकरण बहु० असाधारण रूप में विहृत० और -हि के योग से बनता है तम्बरहि।

चाहे सामान्य रूप में हो क्योंकि अधिकरण सामान्यत एक ऐसा कारक है जो कहीं भी खप जाता है तुल दे० अध्यान चाहे व्याप्ति-युक्त विहृत रूप पु० एक० -ऐ जो -अहिं से निकला है के साथ गड़बड़ के फलस्वरूप हो फिर चाहे इस कारण हो कि भारोपीय से आया एक सर्वनामजात विहृत रूप प्रा०-अहि बना रह गया हो अथवा अन्य

सब बातों की दृष्टि से क्या हमेशा ऐसा तो नहीं होता कि पूर्वी समुदाय में अधिकरण से साम्य रखने वाला एक विकृत रूप होता है।

तुलसीदास की पु० अवधी संगहि गुनहि, अब अधिकरण नहीं रह गये बहु० पायमह पीठन में अधिक नहीं और वास्तव में म केवल 'चोरहिं राति में भाषा' ही ठीक ठीक विवादास्पद है, वरन् मोतिहि को रामहिं टीका पुरोहितहिं देखा राजा' भी।

पु० मैथिली हरदहि घेउहि किन्तु वस्तुहि भी (जिसमें प्रा० -आहि का घेपांश हो सकता है) और विशेषतः सभुही बान् (एक और प्रत्यय -हु अप० -अहु अपादान में प्रा० -आओ का घेपांश ?)। इसी प्रकार पु० बंगाली कुले कुल किन्तु (चर्या) 'सहज कहइ' भी।

अस्तु इस समुदाय में अधिकरण पर आधारित विकृत रूप सचमुच विद्यमान था वह लुप्त हो गया है। मैथिली में ही एक और -आ युक्त विकृत रूप है और बंगाली में विकृत रूप का विषय कम नहीं है -ए ने संभवतः मुख्य कारकों से व्याप्ति ग्रहण कर की है, दे पीछे।

वास्तविक विकृत रूप

रूप-रचना यदि कोई हो तो उसके रूप में सकेतित अवशिष्ट रूपों से बना भाव वाचक सदैव मुख्य कारक जिसमें बहुत से विकृत रूप-संबंधी मूल्य रह सकते हैं, के विपरीत रहता है, और जो सामान्यतः परसर्ग पर आश्रित रहता है।

बहुवचन

विकृत रूप लगभग सर्वत्र स्पष्टतः बहुवचन में आता है उसकी विशेषता है अन्त्य अनुनासिक व्यंजन या अनुनासिक स्वर।

पु०सिंहली पिळिमन्न (प्रतिमानानाम्) बमन् (बमानाम्) महनुन् (श्रमणानाम्) बहुन्। उसमें आधुनिक बहु विकृत रूप केवल चेतन संज्ञाओं के लिये है।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मुर्शेंगुर्शेन् 'मनुष्यों' अङ्कक' आ० विवन् 'भाताएँ' फनिएन् 'बहनें' मूरि मनुसेन् चोनन् दर्शी लर्तिएन् 'लड़कियाँ'।

फ़ारसी मनुर्षे में मनुषि में। अफ़ग़ानी धोड़ों को 'भाई' सुमौ बहनें नाकरन् 'नौकर'। बैंगलि गोड़ों जेरों (प्रा० मारु) बहु० के परप्रत्यय सहित -केम

ललेरेभियाँ प्रमुख बाकिलियों 'माता-पिता' मुर्षेनुविलिबा। पञाई आदमेन्म् बयन् 'लड़की' बच्चा बच स।

कोवार छगन् 'लड़का' मथन् 'पर्वत'।

म॰ 'संभवाम' पुरन् पुर् से मुरुएँन् गुर[उ] से स्त्री॰ मासन्, मास् से रोंध[वे]न्

'रक्त' राप् से गरुएँन् गुरु[उ] से।

तीराही कनिम् अमृमन् जुन् लड़की' पी स।

धिना -ओ तोरवाली -अ में अनुनासिकता नहीं है (तुल॰ करण -ए)।

सिंधी डेहन्[ए] पिठन्[म] पिठरन्[म] डेहरिम्[ए] स्त्री॰ समुम्[ए] सम्[म] से बिज्मन[ए]

बिमृन्[उ] से ब्वन्[ए] रखे ब्वी रविन्[ए] रविएँ, रविकों पु॰ रखो से स्त्री॰ रखी।

ब्रज॰ करन्(ह) करनु, करीं स्त्री॰ मातन्(ह) मार्ती।

प॰ लहदा॰ गु॰ राज॰ मर्ग घोड़ी हिंदी मरो घोड़ो घोड़िया मराठी मर्ग

मर्नु पुर्तो (पुत्र) स्त्री॰ हर्ती (हप्ता) राति (रात्री)।

अवधी (खीमपुरी) घोर से घोरन्, बिया से बिजन् मद्मिन् हिन्दुन् स्त्री॰ फाल्गिन्।

पूर्वी समुदाय में जो विकृत रूप से नहीं है कुछ ऐसे रूप शेष हैं जो विशेषत बहु॰ के अन्तर्गत प्रत्ययों या उपसर्गों का काम करते हैं मैथिली॰ छोकनि मध्यकालीन बंगाली समान् यथा॰ -गुणि-गुण के निकट -गुणिन्-गुलान्।

अनुनासिक व्यंजन और अनुनासिक का सिंधी और ब्रज में सह-अस्तित्व हिन्दी के प्राचीन कवियों के दुहरे प्रत्यय से साम्य रखते हैं तुलसीदास सुरन्[म] नारन्[म] एक ओर है और दूसरी ओर लोगन्ह[म] मुनिन्ह[म] मनुन्ह[म] दासिन्ह[म] नयनन्ह[ह]। ये अन्तिम प्रत्यय (और फलतः -न् युक्त अन्य प्रत्यय) प्राचीन प्रत्यय में अप (अ)ह प्रत्यय के जुड़ जाने से बनते हैं (तुल विपर्यस्त रूप में हे॰ पीछे एच॰ स्मिथ बी॰ एस॰ एल॰ XXXIII पृ॰ १०१ n. ने कुछ समान प्रयोगों की ओर संकेत किया है और विशेष रूप से भयात्मक सर्वनामजात् समय हि॰ इन्-ह्-ओं की ओर)। निस्सन्देह इन अतिरिक्त रूपों की आवश्यकता संस्कृत -आनि से निकले पुरुष नपुं॰ (तत्पश्चात् मंडल स्त्री॰) और -आनाम् से निकले संबंध॰ के बीच ध्वनि-संबंधी समर्प से उत्पन्न होती है।

एकवचन

पुंल्लिंग में प्रत्यय प्रा॰ -अस्म उत्तर-पश्चिम समुदाय के एक भाग में मिलता है "कर्म॰" यूरोपीय जिप्सी भाषा चोरेस् (जो टर्नर, ज॰ आर॰ ए॰ एस॰ १९२७

पु० २३३, बी० एस० ओ० एस० पु० ५० के अनुसार एक मध्यवर्ती रूप *-अस की कल्पना करता है स्वरित सर्वनाम कस् में -स्स् का चिह्न सुरक्षित रह जाता है) नूरी मन्‌सस् (व्याप्ति- युक्त संज्ञाओं तक प्रसारित प्रत्यय यूरो० चवो स चवेस् नूरी चोन मे चोमस्) "संप्रदान" कश० पुरस् गुरिस् (घोटकस्य) कलाश मोच्-एस् और फलूरा पूस् पशाई लोमिस् और वेयस् अथवा वयेस्। भारत के मुख्य भाग में केवल सर्वनामों में उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रह गये हैं अथवा स्वभावतः दो लिंगों (कस्य कस्या) के लिये इन रूपों का महत्त्व है हि० इस् आपस् में व्रज० इस् माहि के समीप है पं जिस् को संबंधवाचक चिह्न के समीप है लहदा के नाँ-उस् ? कस्-इस् जाते ओस्— किन्तु इस अन्तिम भाषा में वैसे कश्मीरी के अतिरिक्त अधिकरण एकवचन को नियमपूर्वक ला सकते हैं गुज० ध्वनि-संबंधी धसि के लिये।

अन्यत्र असाधारण मूल संज्ञाओं से संबंधित बातों में अधिकरण प्रकार मिलता है अव्यक्त है० सामान्यतः *-आत्मन० -अह यथेष्ट रूप से प्रमाणित है म० वेह् से देखा सूरत और काठियावाड़ की गुज० वाप्-आ सिंधी वेह् ^म^ को देह् ^उ^ से है लहदा कुक्कड़ जो कुक्कुड़ से है लखीमपुरी घरूं कुछ परिस्थितियों में मैथिली अन्‌ह् ^म^ रा क्रियार्थक संज्ञा देक ^म^ ब्-आ वं देखिवा (र्) तोरवाली पल्‌-अ गावर्‌वती वाम्-अ अस्कुन मर्‌-अ (इन अन्तिम तीन भाषाओं में -अ भी स्त्री० में) खोवार दग्-ओ मग्-ओ वैमिति गुड़ से गुड़ो और तत से ततो "पिता"।

गुजराती हिंदी आदि में शून्य प्रत्यय (दे पीछे)।

व्याप्ति-प्राप्त संज्ञाओं में प्राचीन रूप का चिह्न प्रायः स्वर के तालव्यीकरण में पाया जाता है, प्रकार * घोडया राज० घोड़ा घोड़ो से किन्तु म० घोड़या सि० घर्ईदा० हि० घोड़े घोड़ा से व्रज घोड़ै लखीमपुरी में घोड़ा परिवर्तित नहीं होता किन्तु मूल में ठव्व का विकृत रूप है ठव्वे।

स्त्री० में मराठी में माओ प्राकृत आकाए का 'राती' प्रा रत्तीए से भली भाँति अन्तर पाया जाता है इसी प्रकार यूरोपीय जिप्सी-भाषा बिंब को बिंर से है और फेनी को फेन् से है (जिह्वा भगिनी)। कश में रूपों च् ^ऐ^ के अनुकरण पर 'मालि' समान रूप धारण कर लेता है। नूरी पंजाबी सिंधी हिंदी और विशेषतः पूर्व में और गुजराती में विशेष रूप नहीं है।

व्याप्ति-प्राप्त संज्ञाओं में प्रा० -इमाए म गु राज० पं० हि० लखीमपुरी घोड़ी गुज० तोरवाली विकृत रूप सीं से "बहन" से किन्तु पु० राज० देवीम राणीम

रानि से जिप्सी-भाषा रानीआ मुरी चोनि-अ "लड़की" (चो -र मुक्त पु॰ में आ गया प्रतीत होता है चेलि-अ) सिंधी गोलि-अ निस्सन्देह कर॰ मुरएँ, किकिसी से सिंहली किकिलिय।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा में अब भी विकृत रूप का प्राचीन मूल्य बना हुआ है न देल्स् ई जेक्स चि ते एक्सैल् (na delas I Jakes ca te xal) "जैक को कुछ खाने को मत दो" सत् ने दयेस् सी केस् लेन् क्रिया-विशेषणों का अति लचीला प्रयोग तचेनेम् सचाई के लिये अकेचिवेस 'आज'। अन्यत्र स्वयं भाषा में ही अन्य प्राचीन विकृत कारक सुरक्षित रह जाने के कारण विकृत रूप विविध प्रकार के संबंध प्रकट करता है।

कर॰ दएँतस बरज् फकीरस ओस्[उ] नियुएँ सबर दाबुएँस् मस्त् कासनि अमिस् मास्सेएँनाकस् और नएँनछाह करुन अमिस् काल्सुएँनाकस् दोस्[उ] पतनिस् मों ठिस् बुडुंमुह[उ] स् मीरिसयरस्, जो गरम् बोंनु पर (मुख्य), और मरि (अपा॰) बेहुन् के निकट है बेनतस् किन बोजकस् मुह्[अ] हुस्। अदकुन गोंडो जो मुख्य गोद्[अ] "(मैं देता हूँ) एक घोड़ा" से भिन्न है।

पु॰ म॰ अभि॰ मझा विमुझुका आमेस्वरी बसया मेरे ते समारुदों ब्रियां तोंद्[अ] किन्तु भासियां काये पयमा भेटे स्वमाये किस्या आवी (एक अधिकरण मिल्या है सामरि)।

इसी प्रकार सिंधी पानय्[अ]-खि[अ] पमुह्[अ]।

विकृत रूप की यह रचना असाधारण है सामान्यतः यह जैसा कि वैयाकरणों का कहना है एक ऐसे समुदाय के काम आती है जिसका द्वितीय भाग परसर्ग होता है वास्तव में सज्ञा-रूप-युक्त शब्द जो सबंध॰ को प्रभावित करता है तो रचना वैसी ही है जैसी फ्रेंच में "à côté de auprès de, dans la direction de, au moyen de, à l'égard de आदि। यह प्राचीन है

पु॰ म॰ (ज्ञा॰) एमयाँ काजाँ काणी कृष्णा ते म्हाथे

पु॰ अवधी (पु॰ बास) बरहिँ स्यापि मिलेहिँ मास

पु॰ बगाली (सरह) स्वपणे मैं

पु॰ कर॰ (ल्यास देद) पानस मनुष् कारी प'ठ्य (मुख्य प्ठ्यन्[ए])।

कश्मीरी म एक दुर्लभता मिलती है प्राचीन संबंध (जो सप्रदान कहा गया है)

पुरस् के समीप उसमें अपादान दूर रह जाता है अथवा जब कि अन्तर् मध्य अमुत्र^उ आदि जैसे परसर्ग "संप्रदान" के साथ आते हैं, तो अपादान के अर्थ और रूप वाले परसर्ग

अपादान के अंतर्गत संज्ञा के साथ आते हैं अट पेठ, साथ ही अन्‌ अ र, किन्‌ ई आदि

धान्‌ का संबंध दो कारकों के साथ हो सकता है संबंधवाची विशेषण -हामुनु जो आजकल संप्रदान में बरता है, राजा देव में अपादान है। यह रचना प्राचीन नहीं हो सकती संस्कृत में 'समीपे' का संबंध॰ समीपात्‌ की भाँति बनता है। तो भी इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि पुरानी मराठी में 'सहित' के द्योतक शब्द करण॰ में है जो करण॰ वाली संज्ञाओं के साथ आते हैं जीविते सिं रहिं नामभूत सहितें। अस्तु, यहाँ निस्सन्देह एक ऐसे रूप का आकर्षण प्रदर्शित होता है जो आधुनिक भाषाओं के प्राचीन काल से संबंधित है और जो सं॰ मध्ये समुद्रे प्रकार का अवशिष्ट रूप नहीं है दे॰ अन्यत्र।

यह देखा जा चुका है कि गुजराती में और हिन्दी-समुदाय में मूल संज्ञाओं मे विकृत रूप एकवचन नहीं होता। यह प्राचीन स्थिति है तुलसीदास मे है

रघुबंसिन्ह महं

तरुवरन्ह मध्य

किन्तु कम महुँ, जय मैं सचिव संग सम्भु पहुँ बिरिख तरें, भवतन (विकृत॰ बहु॰ जो संबंध॰ के अर्थ आता है) हित लागी राजकुमारी संग।

पुरानी गुजराती में एक ही वाक्यांश में मूल विकृत रूप मूल्य और व्याप्ति-युक्त विकृत रूप दिखायी देता है वर्ग तणा पहिला अक्षर परी (मुख्य तणी पहिली)। पु॰ राज॰ में टेसिटरी ने बताया है कि -ह "में बिना कोई चिह्न छोड़े लुप्त हो जाने की अति प्रबल प्रवृत्ति मिलती है" जगह महि, किन्तु जिन लागी और साथ ही किन्तु बहुत कम बहु॰ 'कुमर सूं' सहित।

यह तथ्य कि अन्य रूपों में भी विकृत रूप दिखायी देता है इस बात के सोचने पर बाध्य करता है कि यह वास्तव में ऐसा प्रत्यय के तीव्र न्यूनत्व के कारण हो जाता है। तो भी पु॰ मराठी में निश्चयात्म सहितें लाल देव वाली पु॰ कश्मीरी म बर् एंद जो पार्श्वेषु बामायरस् की भाँति है।

तो एसा प्रतीत होता है कि यहाँ निर्भरता और तुलना द्वारा रचनाएँ मिलती हैं, जिनसे प्राचीन एकमूलक भिमार्थी शब्द उत्पन्न होते हैं सं॰ तस्य समीपात्‌ और तत्समीपात्‌, उपरि ममामाम्‌ और बाणस्योपरि, पा॰ मातमन्स सन्तिक और निग्रामसन्तिके, बामरस्स पिट्ठे और सीहपिट्ठे। निस्सन्देह ऋषिगण शीघ्र ही

उस विकृत रूप के विकसित रूप की ओर ध्यान देते हैं जो सौभाग्यवश प्रिय बने रहने वाले परंपरागत रूप के साथ साम्य रखता है यही कारण है कि चन्द में सर्वनामजात संबंधवाची विशेषण का विकृत रूप मिलता है

ता के कुक्ष में ते उप्पनौ।

और बिना परसर्ग के

सद् में अब् में सोध् में उप्पनौ।

सम्भवतः ऐसा शैली में एक ऐसे प्रभाव के कारण हो जाता है जिसमें वास्तव में व्याकरण के संबंध दूर हो जाते हैं उसे रूप में जिससे संस्कृत की साहित्यिक शैली के दीर्घ समासों की याद हो आती है तो भी इतना कह देना आवश्यक है कि यह प्रभाव कम होता यदि लेखन-पद्धति में (जैसा कि निस्सन्देह कम-से-कम कवि के उच्चारण में था) दुर्बल रूप में उच्चरित स्वर बने रहते किन्तु जो आज भी सिंधी अथवा पश्चिमपुरी में

तो दृष्टिगोचर होते ही हैं संभवतः प्रथमतः थे वे *सद् इ अब् इ सोध् उ।

एक कारक है जिसमें परसर्ग से पूर्व का रूप मुख्य कारक में है ऐसा उस समय होता है जब मूल वाक्य परसर्ग होता है न कि एक संज्ञा वरन् मुख्य कर्म कारक में एक क्रिया (बे० अम्बन)। सिन्धी में भी मधो 'में' जाति 'सहित' विकृत रूप-सहित किन्तु मि० (गृहीत्वा) मुख्य रूप-सहित चिलिम् रीतिमिनि किन्तु यह विकृत रूप सादृश्य के कारण है चिलिम् रिजै मि। पु० मराठी में वांचूनि "सिवाय" ठीक-ठीक 'छोड़ते हुए" अब भी मुख्य रूप में ही लगता है। बंगाली में कहते हैं मथुरापुरेर माझे और बन् ए माझे किन्तु केवल हाग् दिया बेल ए मोर् ए ठांई किन्तु आमा छाड़ा।

परसर्ग। संबंधवाची विशेषण

परसर्गों का कार्य भी निश्चित है उनका शब्द-व्युत्पत्ति-विचार की दृष्टि से विभाजन करना केवल शेष रह गया प्रतीत होता है। यह निश्चित होना चाहिए, ताकि परसर्गात्मक शब्दों की स्वतंत्र सत्ता की रक्षा हो सके और फ्रेंच परसर्ग de depuis, parmi, sauf, pendant, hormis आदि की भाँति उनमें स्पष्टता आ सके। किन्तु ऐसी बात नहीं मिलती एक बहुत बड़ी संख्या में भारतीय शब्द केवल व्याकरण-संबंधी साधन की भाँति हैं इस विशिष्टता के कारण उनमें एक ध्वनि-संबंधी ह्रास पाया जाता है जो कुछ एकमूलक क्रियार्थी शब्दों में दृष्टिगोचर होता है सिंधी मांसों और मां हिं० ऊपर् और पर् (यह सं० उपरि से ऐसा नहीं होता वरन् अधिकरण से निर्मित

एक शब्द से है, प्रा० उप्परि, प० उप्पर् इस रूप में अधिकरण है जिप्सी भाषा ओप्र तुल० आप्राक अपा० म० वरि) सिन्ध भाष्ट्र्ये संवेद में एक ही शब्द दो बार है। इस ह्रास का प्रभाव यह हुआ है कि इन परसर्गों की शब्द-व्युत्पत्ति-विचार की दृष्टि से व्याख्या प्रायः कठिन या असंभव हो जाती है।

स्पष्ट शब्दों और क्षीणता प्राप्त शब्दों जिन्हें व्याकरण-संबंधी साधन मात्र बना डाला गया है में भेद के कारण वैयाकरणों ने अनिश्चित प्रत्ययों या उपसर्गों और "पर सर्गों" का भेद उपस्थित किया है। इस भेद सैद्धान्तिक मूल्य रहित न हो तो भी एक वास्तविक आधार इस दृष्टि से है कि उल्लिखित विषयों द्वारा कुछ ऐसे शब्द आने जा सकते हैं जिनकी स्वतंत्र सत्ता है जैसे कश्० मन्ज़् जिसका अर्थ "बीच" होने के साथ "में" भी है, जब कि अन्य का कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसे ही म० सिंधी का हि० को ब्रज सों हि० से पु० में हि० ने। एक भाषा से दूसरी भाषा में अथवा स्वयं एक ही भाषा में उन सबके विविध रूप मिलते हैं कश्० पेठ्[ई] अपि० पेठ्[अ] अथा (पृष्ठ-) म० पाशीं अपि० हि० पास् की भाँति किन्तु पाशुन् अपा० (पार्श्व) सिंधी से हि० से ब्रज सों बंगाली के हि० का।

इसके अतिरिक्त यह परिणाम निकलता है कि परसर्ग न तो विशेष्यों से हैं न क्रियामूलक विशेष्यों से किन्तु कुछ-कुछ उन विशेषणों से जो "संबंधित" का अर्थ प्रकट करते हैं, और उस संज्ञा के साथ साम्य रखते हैं जिसका विकृत रूप जो उनके साथ आता है, पूरक है। इसी को प्रचलित व्याकरणों में "संबंध०" कहा गया है।

मध्य युग से संबंधवाची विशेषण का प्रयोग प्रचलित है

पू० म० (ज्ञान०) जया जेया इन्द्रियाँ जैसा वरा तयाचिये दिठि आपनेयां वाँ नाहीं।

तुलसीदास सन्तन्ह कर साथ जा करि तई वासि।

लाल चंद गौर सौम्य् [च] मनुष दयें सम्बें मढ़े।

आधुनिक उदाहरण

सिंधी घर जो धणि 'घर का मालिक'।

घरम् [ए] जो धणि 'घरों का मालिक"।

मुड्स जी जोए।

मुड्सन् [ए] जू जायू।

स्त्रियाँ सन्दे पाइ [अ]।

हिं० कुत्ते का सिर्।

कुत्ते के सिर् पर् (जिसमें विकृत रूप की भाँति सिर् का रूप ठीक परसर्ग द्वारा देखा जाता है जो उसके साथ साम्य रखता है)।

स्त्रीम० गोपाल् कूर्ब लरिका।
गोपाल् के लरिका।
गोपाल की लौंडिया।
गोपाल् के लरिक के।

इसी प्रकार हैं म० चा (ची चे) गु नो राज रो सिंधी जो पं० दा यूरोपीय जिप्सी-भाषा 'को' अथवा 'केरो' रूप० होन्तु समस्त स्त्री० बहु और एक सहित उक^उ और उन्^उ केवल पु० एक० में मिलते हैं अन्त में स्पुत् से अधिक विशेष रूप में उद्देश्य का द्योतन होता है, तुल० स इत्य-। बंगाली में सामान्यतः अव्यय रूप विशेषण "संबंध" -एर् उड़िया -आर् से बने प्रत्यय को स्पष्ट करता है।

इस विशेषण के प्रयोग के कारण "सामासिक परसर्ग" की रचना संभव होती है जैसे फ्रांसीसी में sur के निकट au dessus de है वैसे ही हिन्दी में 'पर्' के निकट 'के ऊपर' का प्रयोग होता है जिसमें द्वितीय अंश विशेष्य है जब कि मराठी में अधिकरण पाशिं अपादान पासून् सीधे विकृत रूप के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं हिन्दी में 'के पास्' का प्रयोग होता है।

इसी प्रकार सिंधी 'जे आगें' में -एर् बाहिरे, -एर् भीतरे। वाक्य-विस्तार की यह प्रणाली हिन्दी में विकसित नहीं हुई और वह विविध विशेष्यों को अधिकांशतः फ़ारसी-अरबी को आत्मसात कर लेती है।

अस्तु, संबंध प्रकट करने वाला परसर्ग विशेषण है। अथवा यह विशेषण उस मूल के कारण हो सकता है जो भावगत पूरक से बनता है और जो प्रायः विकृत रूप में मिलता है।

तो भी मराठी में (घर् चा वरा चा) और राज० म (देव तणे प्रासादि) देवतनौ कुसुम तनी वृष्टि, और तुलसी और, चरित्र गुण्या तमु तणी ["उनके (१ ४) चरित्र (१) गुने गये हैं (२)"] वाली रचनाएँ अपवाद-रूप में मिलती हैं।

आधुनिक युग में संबंधवाची विशेषण से न केवल विकृत रूप से वरन् परसर्ग वाले समुदायों के साथ सम्बद्ध होने की संभावना रहती है, और यह दुरूह परसर्गों के अनुकरण पर जैसे गुजराती में कहा जाता है निशाल् मां थी कहा जा सकता है घर्मां-नी छोकरी या देश्-मां-न लोको और मराठी म घरिं चा त्या दिवशिं चा।

निश्चित रचना या संभवतः आश्रित-वाक्य-योजना जिसका आगे प्रश्न उठेगा के अभाव की पूर्ति करती है।

इस प्रकार आधुनिक रूप-रचना दो कारकों में स्थित होने की प्रवृत्ति प्रकट करती है किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं हो पाया तथा दूसरी ओर उनमें विकृत रूप निर्धारित करने वाले शब्द सामान्य नियमानुसार परसर्गात्मक किये गये तो नवीन रूप-रचना फिर से प्रत्ययों से संज्ञा-रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करती है। फलतः विकास क्रम के संबंध में सोचते समय मूल विकरण हो गये विकृत रूप "मूलों" पर आधारित प्राचीन प्रकार की रूप-रचना की संभावना सोची जा सकती है किन्तु यहां नष्ट संज्ञा-रूप के योग्य बना रहा संबंधवाची विशेषण उसे पर प्रत्ययों में स्थान देता है उसमें यह एक कठिनाई है। अथवा अव्यय-रूप प्रत्यय या उपसर्ग द्वारा विभिन्न रूप न प्रकट होने वाला नाममात्र प्रभाव बहुत कम मिलता है सिंहली से (मुहे) अनुरूप व वैयक्तिक मूल (मामात् ?) तोरवाली स सि एक मध्यवर्ती भाषा में मारवाड़ी रा, तुल० पु० राज० मन रा पीड़ाई "प्रजानाम् पीड़ा"।

अस्तु, प्रणाली एक स्थायी संतुलन के निकट नहीं है।

विशेषण

विशेषणों की कोई विशेष रचना प्रणाली नहीं है। संज्ञाओं के मूल या व्याप्ति प्राप्त होने के अनुसार उनका रूप हो सकता है (संस्कृत या मुसलमानी भाषाओं से ग्रहण किये विशेषण प्रथम वर्ग के हैं) म० उनूष हि० ऊनूषा स्त्री० ऊनूषी।

अपवाद रूप में व्रज में विशेषणों का व्याप्ति-प्राप्त रूप पु० एक० व संज्ञाओं से भिन्न है अलीगढ़ में छोटो बेटा आगरा में बहुरी छोरा। यहाँ हम उसे समुदाय गत रूप के परिणाम-स्वरूप देखने का लोभ होता है मूरी में भी एक ओर तो विशिष्ट करण और क्रियामूलक शब्द के रूप में एक मात्र कृदन्त पाया जाता है, और दूसरी ओर मन्दो-स्म् समुदाय में निहित कृदन्त। किन्तु यह मूल व्रज के संबंध में लागू नहीं होता जिसमें क्रियामूलक रूप वाले कृदन्त के अन्त से इसी रूप का समुदाय आता है जिस रूप का विशेषण छोटो बडा बस्ती गयी। इसमें दो प्रकार के भिन्न संज्ञा-रूप मिलते हैं उन संज्ञाओं से जो अन्य बोलियों से हाल ही में ग्रहण किये गये हैं, हिन्दी-पंजाबी प्रकार के।

एकरूपता

जिन भाषाओं में व्याकरण-संबंधी लिंग स्वीकृत है, उनमें लिंग-संबंधी एकरूपता व्याप्ति-प्राप्त रूपों में मिलती है और साथ ही मूल रूपों में जहाँ नहीं उनमें अन्त्य स्वर

सुरक्षित रहता है सिंधी उमिरुए चौसाल अ (पु० चौसाल[उ]) इसी प्रकार तुलसी-दास में दाहिनि आँखि और सपथ[न] सखि जिनमें केवल विशेषण में लिंग मिलता है। लखीमपुरी में यह प्रयोग सुरक्षित है पातर् पातर्[इ] (तुल० पातरो पत्र से उत्पन्न) नीक् नीक[इ] (फ़ारसी शब्द) किन्तु व्याप्ति प्राप्त विशेषण में स्वर दीर्घ है गोरा गोरी। और यही कथा में भी एक् छेगेर् बाड़ि 'एक बुरा लड़का' एक् छेगेरि बुक "एक बुरी लड़की"।

बंगाली जैसी प्रसिद्ध भाषा में अर्थ के अनुसार संस्कृत अन्त्य-रूपों का प्रयोग होता है सुन्दर् बालक सुन्दरी बालिका परम मित्र परमा शान्ति।

सामान्य रूप में ऐसा प्रतीत होता है जैसे दीर्घ रूपों का विस्तार आधुनिक हो हिन्दी में पुंल्लिंग के बजाय मूल रूपों को अधिक पसन्द किया गया प्रतीत होता है जिनकी रचना में सन्देह बना रहता है अभ्यन्तर् संस्कृत समास किन्तु तद्भव में आभा जोव में बात् सच् है किन्तु सच्ची बात् 'सब्' जैसा शब्द विशेषणों के वर्ग से हटकर संख्यावाची संज्ञाओं में चला जाता है। एक स्पष्टता और अन्तर उपस्थित करने की विशिष्टता की झलक मिलती है दूर् किन्तु [illegible] रा की काल् काला (असाधारण रूप से बालकुमारी)।

विशेषण के विशेष्य की भाँति निर्मित होने के कारण ऐसी आशा की जाती है कि उसकी रूप-रचना विशेष्य के समान हो (तो) एकरूपता मूल रूपों या व्याप्ति-प्राप्त रूपों के बीच स्थापित हो सकती है हि० मीठे वचन् से हि काले घोड़े को म काला घोड़्या-न् म चच्च पाच्या न। वास्तव में यह पूर्ण एकता जो संस्कृत में आदर्श थी केवल कुछ ही भाषाओं में मिलती है कश्मीरी (वडिस् मन्‌ऐंघटिस् मनुव् स्त्री बब्रुएँ मर्दीबिर्में मनुव् बाडी माबी) सिंधी [छार्वे सिंह[औं] केविर्[अ] उमिर्[ए] जो (पु)? घोरन्[ए] डीहन्[ए] क हुर्मा पो] पंजाबी और गुजराती (में भाषजात बहु के प्रत्यय या उपसर्ग -ओ का भाववाचक रूप करते समय)। लखीमपुरी म सामान्यत संज्ञा-रूप प्राप्त करने वाले विशेषणों के रहने पर भावजात रूप-रचना के क्षीण हो जाने का अपवाद मिलता है।

किन्तु स्वयं सिंधी मे बहुवचन के स्थान पर एक विकृत रूप का प्रयोग होते देखा जाता है कूड़ (अथवा कूड़न्[ए]) जविड़न्[ए] क। हिन्दी का प्रयोग इस प्रकार है काले घोड़े को काले घोड़ा को काली बिल्ली बिल्लियों को। इस सरलीकरण के मूल

में ध्वनि-संबंधी विपर्यीकरण की झलक मिलती है जो उस युग से पहले उत्पन्न होता है जब कि विकृत रूप बहु० का अन्त्य *-आँ मन्द पड़ जाता है *कालयाँ घोड़याँ > *कालय घोड़यँ > काले घोड़(ए)ऍ (ब्रज घोड़ऍ)। क्योंकि समवाय में होने वाले परिवर्तन के कारण वास्तव में ऐसा होता है इसी से यह तथ्य प्रकाशित होता है कि यह केवल 'पीले फूलों-वाला गमला' प्रकार से ही उत्पन्न नहीं होता वरन् विशेष्यों में भी हम् बच्चे लोगों को (हम-बच्चे विकृत रूप एक० अथवा मुख्य बहु० ? -लोग्स् विकृत रूप बहु०) लड़के और लड़कियों के लिये [लड़कों के लिये (प्रत्यक्षतः विकृत रूप एक० अथवा मुख्य बहु०) और लड़कियों के लिये (विकृत रूप बहु०)] और विशेषतः एक स्त्री० संज्ञा में 'बातें बातों में' [प्रत्यक्षतः मुख्य बहु० बातें के स्थान पर बातें बातों (विकृत रूप बहु०)]। इस अन्तिम उदाहरण से मन में यह आता है कि पुल्लिंग में एक वचन विकृत रूप पर किस प्रकार मुख्य बहु० की भाँति विचार हो सकता था 'घोड़े' में तो मुख्य है ही सर्वनाम वाले समुदायीकरण की गणना करना भी आवश्यक है 'हम् लोगों ने' जो 'हम्होंने' से भिन्न है और हम् जो मुख्य या विकृत रूप हो सकता है हम् लोग् हम लोगों ने 'काली बिल्लियों' तब तो मुख्य में प्रतीत होने वाले विकृत रूप एक० 'काली बिल्ली' से अलग होने में स्पष्ट हो जाता है अथवा मुख्य बहु० काली बिल्लियाँ से अलग होने में किन्तु स्वयं इसका तो निर्माण समुदायगत शब्दों के विपर्यीकरण के सिद्धान्त का अनुसरण करने के कारण होता है।

अन्यत्र विशेषणजात रूप रचना का न्यूनत्व एक दूसरे रूप में होता है यूरोपीय जिप्सी-भाषा में हिन्दी की भाँति है काले मनुसेस् काले मनुसेन् किन्तु पुल्लिंग रूप ने फिर भी स्त्री० बहु० को प्रभावित किया है। मराठी में भी यही बात है किन्तु फिर भी विकृत रूप स्त्री० एक० में पुल्लिंग प्रत्यय भी मिलता है।

सिना और गवर्बती में लिंग में विशेषण एकरूपता रखते हैं किन्तु विकृत रूप के लिंग में नहीं।

वस्तु, विशेषण की रूप रचना विविध रूपों में मिलती है इस प्रक्रिया का इतिहास तैयार नहीं हुआ।

तुलना

पीछे दी गयी आधुनिक प्रत्ययों की छोटी-सी सूची में न तो तुलनात्मक न तमबन्त के पर प्रत्यय का उल्लेख हुआ है।

भारोपीय से प्राप्त संस्कृत में वे ये एक ओर -ईयांस् और -इष्ठ- धातु के साथ सीधे संबद्ध हैं दूसरी ओर -तर और -तम विशेषणों से उत्पन्न हैं ये अंतिम या अधिक स्पष्ट

हैं क्योंकि कल संस्कृत में अधिक सामान्य हो जाते हैं प्रत्यक्षतः वे पाली में बने रहते हैं किन्तु यह बता देना भी आवश्यक होगा कि पाली और अशोक ० में केवल -तर ही रचनात्मक है। (मस्कुन और बैनेकि के -स्तृमें मुक्त व्याप्ति-प्राप्त विशेषण तो फिर, तमवन्त पर-प्रत्यय से युक्त न होकर, किन्तु जैसा कि श्री मौर्ग्गेंस्टिएर्न को दृष्टिगोचर हुआ है स्था- धातु से सम्बद्ध एक रूप से युक्त सान्निध्य-युक्त होंगे)।

किन्तु स्वयं तुलनात्मक पर-प्रत्ययों को आघात पहुँचता है पाली की अपेक्षाकृत हाल की सीमा में एक नवीन सूत्र मिलता है अर्थात् अधिकरण में तुलना के अंश के साथ विशेषण के सामान्य रूप एतेसु कतरं नु खो महन्तं अथवा अपादान में सन्ति ते आसिती बहू (महावंश 'काफ़ी बाद का पाठ)। यह दूसरा सूत्र था जिसे अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई वह प्रथिक सूत्र के अनुरूप है और फिर मुण्डा में मिलता है, जिसमें वह संभवतः आर्य प्रभाव के कारण है क्योंकि सोरा में वह नहीं है और किसी दूसरे रूप में मुण्डा में उत्कर्ष-सूचक मध्यवर्ती-प्रत्यय है।

'अलग होना' का अर्थ प्रकट करने वाली अभिव्यंजना स्वभावतः अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग है उदाह० हिं० से गु० थी पं यों छत्तीस० ले बंगाली होइते वाकिया पिना थेंको तोर० केवा मकुन तैं सिंहली सिट। अन्य अभिव्यंजनाएँ हैं: कर लिए, कोत थो बस् के कृदन्त का अनियत रूप है (बस् का मूल ईरानी है दे० हॉर्न 'वास्' शब्द के अन्तर्गत) बिहारी और पू अवधी चाहि बं० चाहिया मे मन्दा।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा में केवल एक पर प्रत्यय है जो उसने ईरानी से ग्रहण किया है और जो नकारात्मकता के साथ रहता है 'मिन् तू बड़वलेदेर् न में' और साथ ही भारतीय 'बँरैदेर् न तुतें' में अपादान के साथ "बड़ा नहीं तुमसे"।

सबमबाची तमवन्त भी बराबर सामान्य रूप द्वारा व्यक्त होता है, किन्तु "सबकी अपेक्षा अधिक' अथवा 'सबमें' का अर्थ प्रकट करने वाले शब्दों के साहचर्य से तुल पाली सब्बकनिट्ठ अर्थात् 'सब म छोटा' हिं० में यह सब से ऊँचा है, हम् पेड़ों में बड़ा येहि है।

जहाँ तक पूर्ण तमवन्त से संबंध है सबसे अधिक प्रचलित सूत्र है आवृत्ति" हिं गरम् गरम् दूध् बं० माछ माछ कापड़। 'बहुत' का अर्थ प्रकट करने वाले क्रिया-विशेषण का भी प्रयोग किया जा सकता है पु० म० थोर् हिं० बहुत् सिंहाधन् कश० सेठा सिंहली इता बड़ा का अर्थ प्रकट करने वाला विशेषण शायद ही कभी स्थान प्राप्त करता हो हिं० बड़ा ऊँचा म मोठी काम् काठी तुल मिश्र या संयुक्त विशेषण चाङ्गला दाहामा।

विस्तार महत्त्वपूर्ण नहीं है जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि विशेषण का केवल एक ही रूप है।

विशेष्य का निर्धारण

संस्कृत में उपपद नहीं है। तो भी सर्वनाम स- का आवृत्तिमूलक मूल्य बहुत शीघ्र मिटता हुआ दिखाई देता है महाकाव्यों में और विशेषत बौद्ध पाठों में वह वास्तविक उपपद के रूप में आता है।

उपपद और निश्चयवाचक के बीच की मध्य स्थिति आज भी एक से अधिक भाषाओं में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु समस्त भारतीय-आर्य भाषाओं में केवल यूरोपीय जिप्सी भाषा ही एक ऐसी भाषा है जिसमें वास्तविक उपपद मिलता है, स्पष्टत ग्रीक प्रभाव के अन्तर्गत। अस्तु, सिद्धान्तत भारतीय आर्य संज्ञा-निर्धारण के प्रति उदासीन रहता है।

दूसरी ओर अनिर्धारण अपने को स्वेच्छापूर्वक एक- द्वारा प्रकट करता है यह प्रयोग दूर की चीज है अथर्व॰ से ही बहु॰ एके का अर्थ 'कुछ' मिलता है महाकाव्यों और विशेषत नाटकों में अनिश्चयवाचक के रूप में 'एक' का यथेष्ट बड़ी संख्या में प्रयोग मिलता है। आज 'एक' की अभिव्यंजना अनिवार्य है और वह सिंहली में (मिनिहेक गमह् इसमें समुदायगत रूप रचना चलती है) और यूरी में (यूरि-क 'एक स्त्री' युरि "स्त्री" जो ए-युरि "यह स्त्री' से अलग है) परसर्गात्मक रूप में आता है स्वभा वत यहाँ इस प्रत्यय या उपसर्ग के अप्रस्तुत विशेष्य का निश्चित मूल्य है। कश्मीरी में जिसमें -आह् जो कर्ता॰ एक॰ अनिश्चयवाचक के बाद आता है अनिवार्य नहीं है पृथक हुआ विशेष्य भी उसी के द्वारा निर्धारित नहीं होता।

तो भी निर्धारण की कुछ अनिश्चयवाचक रीतियाँ मिलती हैं। हिन्दी छहरा सिंधी बंगाली तीराही (एल॰ एस॰ आई॰, I,I पृ॰ २७१) में निश्चित उद्देश्य मिलता है मुख्य कारक में नहीं किन्तु ऽ (में पर) का अर्थ बताने वाले परसर्ग के बाद आने वाले विकृत रूप में हि॰ पानी मेज़ पर रखो पानी को ठण्डा करो कोई नौकर् लाओ नौकर् को साथ लाओ सिंधी कनिक के भाण्ड् म मेड़े रखो। बंगाली में यह नियम केवल चेतन जीवों और कल्पत पुरुषों के नामों में लागू होता है गोरु चराय् गोरु-टा के बांधो (टा का तो वैसे ही निर्धारक महत्त्व है दे आगे) पु॰ बं॰ राधा का देखिलाँ बड़ायि न छाड़ी इसी प्रकार गुजराती में हुँ गोपाल ने कारकुन् ठेरवुँ छुँ, राइ-रङ् ने समान् दृष्टिए जोतो मुख्यो ने पार्वा सारु मराठी में मिं तुला एक राजा दाखविलो किन्तु आपण् राजा का पाहूँ पाहूँ अवधी (खीमपुरी) में मनुष्य कर्म ॰ माह्मारत ॰

कश्मीरी और यूरोप की जिप्सी-भाषा में अकेले विकृत रूप का संप्रदान भाग मुख्य है पुरुषवाची संज्ञाओं के लिये यह कश्मीरी में मुख्य कर्म कारक का भी काम देता है मारस् मारान्, जिप्सी-भाषा में पुरुषवाची नामों के लिये अनिवार्यतः पशुओं के लिये कम अन्द् पानी "पानी ला" जूर् ई जुकलेस् 'कुत्ते को मार' अन्द् दुइ पेन् "दो घोड़े ला" बारूवस ई मूरूँस अरे। मूरी में मपुं० मुख्य कर्म कारक प्रत्यय-रहित है, चेतन विकृत कर्म कारक मे है। सिंहली में भी ऐसा ही मिलता है।

निश्चित और चेतन भावों का योग भी दृष्टिगोचर होता है ऐतिहासिक विस्तार नहीं मिलता। यह संभव है कि पुरुषवाची सर्वनामों में मुख्य कर्म कारक का अभाव विकास का सूत्रपात होते समय हुआ हो।

मैथिली में व्याप्ति-प्राप्त रूप जो उसका निश्चित सिद्धान्त है, उपपद के तुल्य मूल्य धारण कर सकता है मेन्[अ] या घनिष्ठ है या बुरी नजर से देखा जाने वाला किन्तु घोड़[अ]वा का अर्थ केवल प्रस्तुत 'घोड़ा' है।

छत्तीसगढी में हर् (अपर) एक ऐसी संज्ञा के साथ संबद्ध होता है जो "तथा अन्य आदि" कहलाने योग्य है किन्तु यह महत्त्व ओमाके एक हर्' में लुप्त हो जाता है स्वयं मोहर्, दुम्हर् मिलते हैं चेरिया हर्, सुआ हर्, पर् हर् मे यह उपपद के रूप में आता है (हीरालाल पृ० १७ ४१)।

जिस सीमा तक यह केवल जोर देने की रीति का विशेष प्रयोग हो जाता है वहीं तक वचन-युक्त संज्ञाओं का निर्धारण समीप रखा जा सकता है हि दोनो तिनों तुल० सैकड़ों (विकृत के रूप) तुल० छत्तीस पुनो तिसो सैबो और सबो मैथिली दुनू[उ] अवधी दोउ चारिउ तुल० एकौ वर् अथवा भरी से' पू राज० विहुँ मिहुँ चिहुँ और चार देने वाले -न सहित अहार-न लिपि अवधी कुत्ते मराठी दोघे तिघे चौघे (संज्ञा-रूप-योग्य) भोजपुरी दोगो तिन्गो अस्पष्ट हैं, किन्तु उसी सिद्धान्त के अनुसार बनते हैं।

बंगाली म एक विचित्र प्रयोग मिलता है यह है एक संज्ञा के बाद निर्धारण वाले निपात का टा से मोटी या भद्दी वस्तुओं का द्योतन होता है टी से छोटी कोमल अच्छी लगने वाली वस्तुओं का मानुष एक अथवा एकटा अथवा एकटी मानुष् मानुष्टा अथवा मानुष्टी इसी प्रकार चौड़ी और लम्बी वस्तुओं के लिये (खण्ड से) दस् खाना कागज्खानि और एक दण्ड से मिलती-जुलती वस्तु के लिये (गाछ) लाठि-गाछ छड़ी-गाछि दड़ी-गाछि इसी प्रकार पु० बंगाली में बाण मोटा बाँसी गुटि,

पुल० वचन-युक्त संज्ञाओं से मैथिली पुर्ँ मोटा यह शब्द भी इसी प्रकार उड़िया में आता है, बंगाली में केवल "पूरा, सब" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पूर्वी समुदाय तक सीमित यह प्रयोग अपने को भाववाचक के अवशिष्ट रूप में घोषित करता है यह कोई संयोग की बात नहीं है कि वर्गीकरण करने वालों न स्थानी भाषा में उसे उपपद में परिवर्तित होते पाया है (श्री मुर्ने द्वारा सौसिएते द लीन्ग्विस्तीक को पत्र बी० एस० एल० XXIX, पृ० XXVI)।

सर्वनाम

पुरुषवाचक सर्वनाम

जब कि संज्ञाओं में कर्ता० और कर्म० इस रूप में थे कि मुख्य कारक हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है, सर्वनामों में कर्ता० और कर्म० में पृथक्त्व की दृष्टि से विभिन्न विकल्प थे। नामजात विकरणों के प्रभावान्तर्गत और अन्य सर्वनामों के भी विशेषतः संबंधवाचक के जिनके नियमित रूप से विपरीत रूप थे निश्चयवाचक में प्रायः नामजात रूप-रचना मिल जाती है। उत्तम और मध्यम पुरुष के पुरुषवाचक सर्वनामों में जिनमें यही प्रभाव इतना कम दृष्टिगोचर होता है कि ये सर्वनाम वस्तुओं के संबंध में व्यवहृत नहीं हो सकते कर्ता० का अन्य कारकों में विरोध होता चला आ रहा है।

किन्तु फिर मुख्य कर्म कारक में गौण कारकों से मिल जाने की संभावना थी अस्तुत में प्राप्त एक उदाहरण से यही परिणाम दृष्टिगोचर होता है इमा तो सानुमिर्षे ऐ तौ पत्र मम् अथवा तो-भ म की भाँति। इस विकास का प्रारंभ निस्संदेह प्रत्ययाध म-, म' का वह प्रयोग प्रदर्शित करता है जो उसी समय वैदिक था और इस दृष्टि से संस्कृत में अधिक संयमित किन्तु जो कर्म साथ ही संबंध० और संप्रदान० मूल्य सहित मध्यकालीन भारतीय भाषा के 'मे ते' द्वारा भली भाँति प्रमाणित होता है। यह देखा जा चुका है कि प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में कर्म० ममं या संबंध० मम के अनुकरण पर मं के निकट है मह् के अनुकरण पर प्राकृत में मह और मिलता है अन्त में अपभ्रंश म मई (हि० मैं) है जो करण० है।

अपने में यह कर्म० और विकृत रूपों की गड़बड़ उन्हीं भाषाओं में कठिनाई उपस्थित कर सकती थी जिनमें संज्ञाओं का कर्म० उनके कर्ता० के समान था। परसर्गों के प्रयोग के प्रचलित होते समय यह संभवतः पुरुषवाचक सर्वनामों के मुख्य कर्म कारक तक "को, लिये" (à, pour) का अर्थ प्रकट करने वाले परसर्गों के प्रसार की निर्णयकारी स्थितियों में से एक रही है हि० 'को' आदि इस प्रयोग से ही फिर सामान्यतः वाक्य-विचार

में चेतन और अचेतन संज्ञाओं का भेद प्रकट करने की प्रवृत्ति को पुष्ट किया है॰ ऊपर।

दूसरी ओर प्रमुख-प्रमुख रूपों में कर्त्ता॰ को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति पायी जाती है इसी के कारण पाली में हैं ही अम्हे तुम्हे [अशोक मये वो पाली मयं है और तु(यु) के] जिनमें बहु॰ में प्राकृत भाषाओं में एक अधिक नियमित विशेषता पायी जाती है। आधुनिक भाषाओं में म॰ मी हिं मै आदि मूलवाचिक क्रियाओं के साथ सामान्यतः करण मुख्य कारक में हो जाते हैं।

एकवचन

उत्तम पुरुष

संस्कृत अहं का प्रतिनिधि अथवा उचित रूप में मध्यकालीन भारतीय भाषा अहकं का प्रतिनिधि अब भी कुछ भाषाओं में मिलता है पं॰ और ब्रज हौंउ पु॰ पु॰ हौंउ हूँ हो जाता है मालवी मारवाड़ी हूँ कोंकणि हांव् प्राचीन पं हउँ (हउं) जिसका स्थान मई ने ले लिया है सिंधी आऊ, आँ पचाई, गढ़वाली तोरवाली कलाश आ तीराही असो बोवार आव।—क्या उवे अंव प्रशुन उज़ू को कल्पित *अस्मम् का प्रतिनिधित्व तो नहीं करते ? अस्कुन ऐ, वैग वे संभवतः निश्चयवाचक है कश॰ बोंह अस्पष्ट है।

पं॰ मईं (और कहुधा मैं) मूलतः करण॰ ही है (जो अपभ्रंश म ही कर्म॰ में दृष्टिगोचर होने लगता है) यही रूप फिर ब्रज अवपुरी और नेपाली अवधी मे पाया जाता है पु मैथिली भोजपुरी में (छोटों के बारे में कहते समय) 'में' है। निस्सन्देह यही रूप प्रकट होता है म में 'मी ने में 'म' (उच्चारण करते समय अनुनासिक) पूर्वी समुदाय मे विकृत रूप मो- पर आधारित एक सदृश रूप है पु॰ बं॰ मोए, व मुइ, असामी मैं उड़िया मुँ।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे मुरी अम समान बहु॰ अमे से भिन्न किन्तु म स्पष्ट नहीं है हर हालत में वे निकलते बराबर हैं विकृत रूप से।

पंजाबी मे कर्तृ और कर्त्ता॰ मई का विकृत रूप मै मे से भेद है मु॰ में मी विकृत रूप म से भिन्न 'मे' कर्तृ॰ है।

अनेक रूपों की उत्पत्ति विकृत रूपों से हुई है।

मुरी -म् (कर्त्ता में प्रतीत होने वाले अम के निकट) लहंदा -म् सिंधी -म् ए कश॰ मुएँ, -म् पशई मे -म् तीराही तोरवाली मे प्रशुन -मु सं॰ मा मे का प्रतिनिधित्व कर

सकता है दीर्घ स्वर-युक्त अथवा परम्परागत रूप सर्वनामों म स्पष्ट किये जा सकने योग्य प्राचीन रूप होने चाहिए। किन्तु तोरवाली में कर्त्ता० मा ऐ, विकृत रूप मे के समीप कर्म० मा है। यह संभवतः प्राचीन सम्प्र० मह है जो विकृत रूप म पु० म० मा गु० मालवी जैपुरी म सिंधी बोली मह्^ए कोंकनि मोज् के निकट मा- खोवार म तीराही म के निकट म में बने रहते हैं तुल० अरमुन हम सम्प्र० (किन्तु क्या मा विकृत यूँ का प्रतिनिधित्व करता है ?)। इसके अतिरिक्त मह अपभ्रंश में मह या मा सिंधी मुँह जैपुरी मेवाती मूँ ब्रज बुन्देली पूर्वी हिन्दी बिहारी बघेली आदि भी मे पाया जाता है (ब्रज अवधी मैथिली भोजपुरी मोहि मामवात विकृत रूप का प्रत्यय -हि है)।

अन्य संबंध० प्रा० मज्झ मज्झ म मिलता है, गु० मज् कोंकनि मोज् मेवाती मुज् ब्रज और हिन्दी मुझ (तुझ से प्रभावित स्वर)।

उत्तर-पश्चिम में कर्त्ता० मे के विपरीत ऐं, कर्त्ता है और साथ ही दूँ सम्प्र० इन अयम् को फिर अहम् की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में कोई गड़बड़ ज्ञात प्रतीत नहीं होती है। प्रत्येक स्थिति में कर्म० कहीं -मे, -ऐं, -म सर्वनामों में नहीं हो सकते।

सर्वनामों के अत्योक्त रूप है विकृत रूप के तो उल्लेख हो चुके हैं इसके अतिरिक्त सिंधी -म्^ए मत्० -म् मिलते हैं जो अस्मि का प्रतिनिधित्व करते पाये जाते हैं।

सिंहली म कर्त्ता की भाँति मम है, जो संस्कृत संबंध० प्रतीत होता है, और जो विकृत रूप मा के निकट प्रतीत होता है पश्तो मम् कर्त्ता का जो विकृत रूप मे के निकट है, वही रूप है अथवा उससे उत्पन्न होता है।

मध्यम पुरुष

मराठी कोंकनि सिंधी लहंदा पंजाबी तू, गु० तू, असमी तु, यूरोपीय जिप्सी-भाषा तु, कश्मीरी कर्त्ता० त्सु, विकृत० तु नूरी अतु के संबंध में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि सिंहली 'तो रूप' पर आधारित हो सकता है तो आधार पर बरूस्की कलाशा तु, पश्तो तो तोरवाली तु (मा, ऐ के आधार पर निर्मित त तै क निकट) तीराही तु वो, खिना तु, कश्० चह् का मूल निश्चित करने का साहस नहीं होता।

विकृत रूप में वे रूप जो भारत के मुख्य भाग में प्रायः मिलते हैं 'तुम्' और तो' हैं जो प्राकृत तुज्झ और सं० तव पर आधारित हैं। पश्तो -ए (तम्-ए) नूरी -ए, सिंधी -ए, लहंदा -ई, सं० प्रा० ते के साथ अपने वाले प्रतीत होते हैं किन्तु प्राकृत तए के निकट रूप हैं जो पु० कश्० तोये आमु० ऐ (किन्तु प्रत्ययांश -ए, -ए) की माप दिखाते हैं

इसी प्रकार कलाश ऐं पं० ऐं लहंदा तुसे है। केवल तीराही ते (कर्त्ता और साथ ही कर्तृ) तोरवाली ते को सबंध० थि से भिन्न है (तुम कभी पुता-ऐं को तोर् थीं से भिन्न है) और कर्म० ता के सबंध में भिरसम किया जा सकता है।

तनुम् से भिन्न प्रयुग में इयू विकृत रूप ई है जो निश्चयवाचक सर्वनाम के रूप में भली भाँति प्रतीत होते है, तु से भिन्न विपर्यस्त रूप में कत्ती है की भाँति।

कर्त्ता के रूप में प्रत्ययास रूप कद०-ब्ह् अहवा -ऐं, ई, सिंधी -ऐं, स्त्री० वे अस्पष्ट है।

सिंहली का विकृत रूप एक विचित्र विशेषता प्रस्तुत करता है और यह है लिंग ग्रहण करने की पु० ता स्त्री० ती (ती गे अत ती पिया)।

बहुवचन

आदि रूप सामान्यतः संस्कृत अस्मत् युष्मत् आदि में अनुनासिक का अनुसरण करने वाले धिन्-ध्वनि या हकार ध्वनि वाले समुदाय के ध्वनि-संयोग के अनुकरण पर वर्गों में विभाजित होते हैं।

सिंहली में वे इसी रूप में मिलते हैं जैसे विकृत रूप अप तेपि विकृत० तोप (* अप्पके प्रकार जो अशोक को भी ज्ञात था वे अम्पाक)।

इसी प्रकार "प्राकृत" वाले समुदाय में सर्वत्र ह्म है म० आह्मि विकृत० आह्मा तुम्ही विकृत० तुम्हा गु० अमे अमा तमे तम् राज म्हे म्हा थे थां ब्रज हम् हमहुँ तुम् तुम्हउं बं० आमि आमा तुमि तोमा नूरी अमे मेन् असे (विकृत अमन् रम् का निर्माण एक विकृत के आधार पर हुआ है) विचित्र रूप हिं हम् तुम्(ह) ने० हमी तिमी मैथिली हम्, तोह् जिप्सी भाषा अमेन्, तुमेन्।

पश्चिमी भाषाओं में धिन्-ध्वनि के बाद म् व् हो जाता है जिससे है * अस्मे जब कि *तुम्हे *तुह्म् के निकट आ जाता है

कश	असि विकृत असे		तोंही विकृत	तोंहे	
सिंधी	असीं विकृत असां		तव्हीं विकृत	(त)व(ह)हां	
सिणा	असु बे का विकृत०			चहूको	

पंजाबी और लहंदा में चाहे दोनों वर्गों का समान रूप से व्यवहार होता रहा हो चाहे मध्यम पुरुष उत्तम पुरुष में मिल गया हो हमें मिलते हैं लहंदा असीं तुसीं पंजाबी असीं तुसीं विकृत असां तुसां।

अह्म से भिन्न *तुह्म् के व्यवहार से समवत स्पष्ट होते हैं

सीराही	मेम् विकृत म्या	ता
सोर०	मो	मो तो
गर्वी	सर्वन० मो	संबंध० पा

निस्सन्देह प्रिन्-ध्वनि और धकार ध्वनि के अन्तर से ही कभी एम दॅ (ईरानी विशेषता का रूप किन्तु जो समीपवर्ती ईरानी बोलियों में नहीं पाया जाता) बराबर स्पष्ट हो जाते हैं।

किन्तु उत्तर-पश्चिम में कुछ अस्पष्ट बातें मिलती हैं सोवार इस्प (अस्मद् ?) सिंध प्राचीन सिस (स + *-स्मद् ?) कश्मीरी आदि 'हम' और 'तुम' विकृत० १ होम २ मीमि। इस अन्तिम समुदाय से गर्वी १ अम २ मे की ओर ध्यान जाता है पसई १ हम २ (ह)एमा। निश्चयवाचक के प्रयोग भी अस्पष्ट दृष्टिगोचर होती है जैसे वैगेलि मेम मुम ये का बहु० विकृत० है से ई० इमे की ओर ध्यान जाता है जब कि तु का बहु० जो 'वी' है, कीम बड़ी अच्छी तरह से मुपम् (अथवा व जिसके कारण दूसरी ओर वयम् का प्रचार बन्द हो गया ?) को जारी रख सकता है। विपर्यस्त रूप से प्रशुन में भी से विम विकृत० मम् (युष्मम् युष्मत्) उत्तम पुरुष से वास्तविक सर्वनामों से मिलते हैं एक० उमस् विकृत० उम् बहु० असे विकृत० अस्।

उन भाषाओं में जिनमें नामवाद-पूरक संज्ञा के बाद आने वाले संबंधवाची विशेषण द्वारा प्रकट होता है, 'संबन०' का संबंध स्वच्छन्दतापूर्वक अनुप्रास विशेषण द्वारा प्रकट होता है।

एक वचन में मराठी ने विकृत० के विकरण माम् तुन् के आधार पर माझा तुझा है किन्तु बहुवचन में उसमें संज्ञाओं की भाँति आम् चा तुम चा मिलते हैं।

विशेषण का अत्यधिक प्रचार संबंध० से उत्पन्न एक रूप पर आधारित है जो सं० मामक- तावक-नहीं है किन्तु एक सदृश सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए *ममकर अथवा *महकर (अप० महार) है जो अंत में विकृत० के साथ एकरसता स्थापित कर लेता है जैपुरी मालवी मारवाड़ी म(ह)मारो पु० मारो, व्रज मेरुवौ मेरौ नेपाली कन्नौजी नैपाली मेरो, पं० हि० मेरा यूरोपीय जिप्सी-भाषा मीरो (गुरी मे वास्तविक संबंध० का प्रयोग होता है) पूर्वी हिन्दी मैथिली, बंगाली मोर्।

सिंधी में सभी सर्वनामों का संज्ञाओं की भाँति व्यवहार होता है। इसी प्रकार कश्मीरी में जिसमें शीघ्र ही पुल्लिंग व्यक्तिवाची संज्ञाओं के प्रत्ययों म्योन्[उ] सौन्[उ] स्योन्[उ] का रामुन्[उ] की भाँति प्रयोग होने लगता है, और शीघ्र ही सामान्य संबंधवाची विशेषण का तुहोन्[उ] का पुरुषोन्[उ] मालिकहोन्[उ] की भाँति।

पुरुषवाचक सर्वनाम उस व्याकरण के अंश हैं जिसमें यह बात भली भाँति दृष्टिगोचर होती है जिसे मध्यकालीन भारतीय साहित्यिक भाषाएँ भारतीय भाषाओं के अंग के रूप में प्रस्तुत करती हैं जहाँ से वे अलग होती हैं वह पूरे समुदाय के लिये समान है किन्तु, अन्य बातों के अतिरिक्त ध्वनि-संबंधी पृथकत्व ने फलतः एक ओर सिंहली को स्पष्टतः अलग कर दिया है दूसरी ओर हिन्दूकुश की बोलियों को।

आदरसूचक रूप

पुरुषवाचक सर्वनामों का व्यवहार में सर्वत्र शब्द-व्युत्पत्ति विचार-संबंधी मूल्य नहीं रह गया। भारतवर्ष में परिवार में या परिवार से बाहर, सामाजिक संबंध वह सूक्ष्म भेद या अंतर उपस्थित करते हैं जो शब्दावली और व्याकरण में एक साथ प्रतिबिंबित होते हैं जैसे एक अकेले आदरणीय व्यक्ति को संबोधित करते हुए, 'तू, तेरा' स्वभावतः वर्जित है कहीं-कहीं पर "तुम" दृष्टिगोचर होता है और मध्यकालीन भारतीय भाषा में तो मध्यम० बहु० के सर्वनाम द्वारा प्रकट किया गया मिलता ही है, अन्यत्र ऐसी संज्ञा द्वारा— महराज, हुजूर, साहेब आदि (तुल० सं० भवन्) जो प्रथम पुरुष से बने हैं (सामान्यतः बहु० में)। अंत में एक अकेला आदरणीय व्यक्ति संस्कृत आत्मन् द्वारा प्रकट हुआ है, जिसका मूलतः अर्थ "आत्मा व्यक्ति" होता है और जो साथ ही तीनों पुरुषों में प्रतिबिंबित अन्य सामान्य प्रयोग में आता है, किन्तु कारकों का अनुसरण करते हुए जिसमें 'हम' 'तुम' 'वह' होने चाहिए और भाषाओं के अनुसार जिनकी विविध रूप में रचना होनी चाहिए।

सिंहली में 'तो' उद और अमइ है उमेंव अथवा भुव का प्रयोग बराबर वालों में होता है (प्रथम पुरुष में) तथा (आत्मन्) तमुसे आदरसूचक है वे 'बहुत से' के साथ आ सकते हैं।

मराठी में आम्ही का मी के संबंध से वही रूप है जो फ्रेंच में nous का je के संबंध से है इसी प्रकार 'तुम्ही' vous की भाँति है जिसका प्रयोग उन सब के लिये होता है जो परिचित या निम्न नहीं हैं किन्तु बड़े के लिये संबोधित 'तुम' (vous) आपण् द्वारा प्रकट किया जाता है और क्रिया बहु० में मध्यम पुरुष की होती है। इसी प्रकार गुजराती में तूँ केवल ग्रामीणों में बड़ों के लिए प्रयुक्त होता है तमे सामान्य रूप है आदरार्थ आप् और बहु० के मध्यम पुरुष का प्रयोग किया जाता है।

हिन्दी में भी ऐसे ही भेद मिलते हैं किन्तु आप् की रचना बहु० के प्रथम पुरुष में होती है। उसमें स्वच्छन्दतापूर्वक हम् (उत्तम पुरुष बहु० की क्रिया के साथ) का प्रयोग एक व्यक्ति के लिए होता है और जिसमें यह भी भावना नहीं होती। इसी प्रकार

लखीमपुरी में मैं कहूँ की अपेक्षा हम् कहम् अधिक प्रचलित है तुह का प्रयोग छोटे बच्चों और घर के नवयुवकों के लिये होता है किन्तु अधिक उम्र वाले लड़के या लड़की के लिये तुम् का प्रयोग होगा, आपु बहुत कम मिलता है और एक अजीब-सा रूप लगता है, वह बहु० के मध्यम पुरुष में रहता है।

छत्तीसगढ़ी में आस्मम् नहीं मिलता इसके विपरीत यह एक अजीब बात है कि उसमें तर्ई, तू (ह) के समीप का प्रयोग विशेषतः नम्रतासूचक है मुख्यतः संबंधित परिवार के लोगों से बहु० में तुम् है। इसमें पड़ोसी बिहार का प्रभाव प्रतीत होता है। यहाँ एक और नयी प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। मैथिली में प्राचीन सर्वनाम मै तुं लुप्त हो गये हैं और उनके स्थान पर हम्, तोंह रह गये हैं जिनका एक नया बहु० बनाना और सम् शब्द जोड़ना आवश्यक हो जाता है, जिससे भाषा के सभी बहु० बनते हैं, साथ ही निश्चयवाचक भी (द. एहँ ह सम एहँ सम् एकर्, एहँ सबह्) फलतः हम सम् तोंह सम् इनसे आदरसूचक सर्वनामों जहाँ अपने आप को कोई आघात नहीं पहुँचता।

भोजपुरी में प्राचीन सर्वनाम लुप्त नहीं हुए। इससे एक दुरूह प्रणाली दृष्टिगोचर होती है

(निम्न) मैं (उच्च) हम् (निम्न और उच्च) तूँ तैं

(") हम्नीका (") हम्रन् (निम्न) तोहनीका (उच्च) तोहरन्

जिनमें जुड़ जाते हैं अपने बहु० अपनन् और रउवां अथवा रौरा (रामराज) बहु० रवन् अथवा रउरन्।

बंगाली में जिसमें मुइ ग्रामीण हो गया है और तुइ असभ्यता-सूचक (केवल छोटे या स्थिति में निम्न व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हो सकता है) मोप्रति सामान्य रूप आमि या तुमि है उसमें एक नवीन बहु० की आवश्यकता पड़ जाती है आम्रा तोम्रा (बंगाल आम्रा-सब् आम्रा-सकल आदि द्वारा पुष्ट)। इसके अतिरिक्त एक नम्रतासूचक रूप है आपनि (जिसने सर्वनामों का प्रत्यय ग्रहण कर लिया है) जिसका बहु० रूप बनता है आपनारा। इसी प्रकार प्रथम पुरुष में बहु० ता (हा) रा के समीप का नम्रतासूचक एक रूप है एक० तिनि बहु० तों (हा) रा जब उसका व्यक्तियों से संबंध होता है तो समीनवर्ती निश्चयवाचक में एक० में ए रहता है, आदरसूचक इनि (दोनों का बहु० इहारा आदरसूचक एनारा) दूरस्थ निश्चयवाचक में भी रहता है, आदरसूचक उनि (दोनों का बहु० उहारा आदरसूचक ओनारा)। उड़िया में भी सगुण प्रणाली है।

नेपाली में हम् का प्रयोग आदरसूचक एक० के लिए होता है और साथ ही बहु

के लिये उससे एक नये बहु० की रचना होती है हामि हम जो हम् के तुल्य है। मध्यम पुरुष में तें प्रचलित है तिमि (बहु० में क्रिया-सहित) रूप एक० में *आप् जोड़कर आदरसूचक रूप बनाया जाता है जिससे तपाईं बनता है जिसका अर्थ 'तु-स्वयं' मालूम होता है किन्तु होना चाहिए 'तुम श्रीमन्' के समान उसका बहु० तपाईंहरु बनाया गया है।

अन्त में कुछ प्रायौगिक रूपों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है जिनका प्रयोग बात करने वाले के सहित या रहित 'हम' का अन्तर बताने के लिए होता है। यह भेद 'यह स्वयं' अर्थ के द्योतक शब्द से भी मिलता है गुजराती और राजस्थानी में आप् लखीमपुरी में आपना स्वयंवाची है इसी प्रकार सिंधी में विशेषण पाहा जो "हमारा ('तुम' और 'हम' दोनों में)" और मराठी में आपुला जो आम्-चा "हमारा (तुम बिना) के विपरीत है।

निश्चयवाचक और आवृत्तिमूलक

विशेषण-सर्वनामों की रचना और रूप रचना में एकसूत्रता का अभाव मिलता है। संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा से प्रयुक्त प्राचीन विकरणों से तो हम परिचित ही हैं और इन विकरणों में से कुछ कर्ता के विकरण का शेष रूप-रचना के संबंध से विरोध बनाये रखते हैं। किन्तु कुछ ऐसे विकरण भी हैं जो संस्कृत में अज्ञात हैं और अस्पष्ट व्युत्पत्ति के हैं दूसरी ओर प्राचीन रूप-रचना से प्रायः नाममात्र रूप रचना घुलती-मिलती देखी जाती है जो निस्सन्देह प्रश्नवाचकों और विशेषतः संबंधवाचकों के जो सामान्यतः विपरीत पड़ते हैं प्रभावान्तर्गत है।

प्राकृत विकरण सो तस्य (अपभ्रंश 'से') आज तक विविध बोलियों में प्रसारित है

गवरबती से तस (अस्य तेन्) बहु० थमि तस् (ते+इम तस्य+तेषाम्?)
बैगलि से तसों (सेयो) बहु० ते ते स
पशई ऊ-स्[म] उ-सी(स) बहु० अस्[म]
कलाश सं तासे ताम बहु तेह् ताम सैंडासे
खोवार ह्-स हू-ता/ओ बहु० हते-न् हत-तम्
दह की बोलप सौ स्त्री० सा तम् बहु० ते तन्
कश० सुह स्त्री० सोंह् स तस् [और तमि(म्)] बहु० तिम् स्त्री० तिम तिमन् अचेतन तिह तम्[ह] तम् (तम ?)

ब्रज सो तासु, तिस् ता पताहु॰ ते (और सो) तिन्
नेपाली सो तस् बहु॰ ती और तिनि सो प्रयोगों में
कुमायूँनी (पुरुष)सो और तौ (वस्तु)ते तै ते बहु॰ ते (और सो तौ) तन्
अवधी स (और तौन्) ते बहु॰ ते तेन्(ह)
(तुलसीदास सो ता तासु, ताहि तेहि बहु ते और तिन्ह तिन्ह ब्रज रूपों का मिश्रण)।

इनमें से कुछ भाषाओं में एकीकरण के क्रम का सूत्रपात देखा ही जाता है इनमें कर्ता॰ बहु एकवचन में मिल जाता है

प॰	सो तिन्	
सिंधी	सो (स्त्री॰ सा) ताह	बहु॰ स तिन्ह
शौरसेनी	से तेस्	बहु॰ से तन्
		बहु॰ से

अन्यत्र विकृत विकरण है जो कर्ता॰ एकवचन को प्रभावित करता है और फलत सज्ञाओं का समीकरण दृष्टिगोचर होता है शौरसेनी में ते से की अपेक्षा कम प्रचलित है बहु तिये मराठी ता (जिसमें अन्त्य स्वर प्राचीन ही बना रहता है) गु॰ ते विकृत ते बहु॰ तेस् मारवाड़ी तिको जो सो के समीप है अन्त में अँगरेजी जिप्सी भाषा क लि बहु॰ ले जो लेन् (तस्य) से निकलता है।

उपर्युक्त उदाहरणों म मध्यवर्ती और कश्मीरी विकरण इम का प्रयोग प्रदर्शित करती हैं। इन भाषाओं में स सर्वप्रथम में स्वय एक निश्चयवाचक है जिसमें विकरणों का समुदायीकरण संस्कृत के लगभग वैसे ही समुदायीकरण का स्मरण दिलाता है इसी से लगभग पूर्णत उत्पन्न होता है

एक॰ कोइ अम कर्ता॰ एन् बहु एमे अमु
अयम् अन्य एन बहु॰ इमे एषाम् (अ एक वचन में)

मध्यकालीन भारतीय भाषा में जीवित रहता है प्राकृत इमेयास्मे (-स्प-) अप॰ इमेरिम (एरिम क अनुकरण पर) की भाँति व्युत्पत्तियों की रचना की दृष्टि से विकरण इम् जो सिंहली में और क॰ मिम् स्त्री॰ मिम बहु॰ चेतन (अचतन मिह) जो मिह का है, और जो एक॰ विकृत॰ मिमिम् बहु मिमि(प्रा॰ इमस्स इमेण) में भी दृष्टिगोचर होता है कश्मीरी में ही उसका उपर्युक्त बहु॰ तिम् स्त्री॰ तिम के और संबंधवाचक मिम् स्त्री॰ मिम के साथ सर्वत्र स्थापित हो जाता है।

प्रसुग में एक ही लिंग क आपस में मिल जाने से परिचित होना आवश्यक है मु मु-मिसे बहु॰ मु (अमुका ?) मिर्सिन्।

यहाँ पर सकेतित विकरण अमु कश्मीरी दूषित सर्वनाम में भी मिलता है सप्र॰

अमिस्, बहु० कर्ता० अम्, स्त्री० अम विकृत० अमन्, तुल० सं० अमुष्य बहु० अमी केवल प्राकृत में एक ही विकरण के आधार पर निर्मित कर्ता एक० का प्रयास किया गया है, किन्तु ऐसा बहुत कम मिलता है। तो भी बोवार कर्म० एक० हुमु, बहु० हुमिद् (कर्ता० एक हुम) वैगेलि विकृत० बहु अमी जो एक० ई से संबद्ध है शौरसेनी 'मि' जो केवल बहु० है अन्त में सम्भवतः कभी अमुना अमूनी जो इमा इमी का बहु० है।

अत्यन्त प्रचलित अपरिवर्तनीय विकरण एक ओर तो है ए और इ दूसरी ओर ओ- उ पहले से समीपत्व प्रकट होता है दूसरे से दूरी (कश्मीरी में तीन कोटियाँ हैं यिह हुह् युह्)।

(१) प्रथम समुदाय सं एत प्रा० एअ से निकलता है जिसके विकृत० पर संभवतः विकरण कि- का प्रभाव पड़ा है, तुल० साथ ही संबंधवाचक (विकरण इ- संबं० की नहीं थी सं अयम् इयम् अस्य)।

करण का पूर्ण सामान्यीकरण गु० में हो गया है ए, बहु ए-ओ जिसमें ओ संबो० का एक प्राचीन चिह्न है (श्री दवे के अनुसार, श्री टर्नर की व्यक्तिगत सूचना) बंगाली में एक० और बहु० ए विकृत एक० एहा बहु एहाँ। उसका संज्ञा-रूप होता है

शौरसेनी में	ए एस्- एस्	बहु इस इमें
लहंदा में	ए(ह) ई इस् इह ई	ए(ह) ई(ह) इन्ह
पंजाबी में	एह इह् एस्, इस्, इह्	एह इह इन्ह एह
व्रज में	यह या इस्	ये इन्(ह)
सिंधी में	हु-ए, हु इ हिन्[अ]	हे ही हिन्(अन्)[ए]
	ही[उ] ही[अ]	

यही विकरण सिंधा ओ स्त्री एस् विकृत एक० एस् बहु० एर एन् के साक्षात् एक० के अतिरिक्त निस्सन्देह अन्य रूपों में भी पाया जाता है। नेपाली यो येस् यस्, बहु (इन्) इन् में एक मुख्य कारक व्याप्तियुक्त रूप धारण कर लेता है तुल० पर्माई यो (विकृत० मी-)।

सिंहली एँ बहु० एवुहु एवुन् संज्ञाओं की भाँति संज्ञा-रूप होता है। वैगेलि ई अव्यय है।

(२) सिंहली	ऊ वहु	बहु० ओवुहु ओन्
लहंदा	ओ ऊ(ह) उस् उह् ऊँ	ओह् ऊ(ह्) उन्ह्

पंजाबी	ओह् उह अस् उस् चें	ओह् उह उन्ह्
ब्रज	वो गुह वह वा वाहि विस्	वे व तिन्-उन्(ह)
सिंधी	हो हु हुआ हुन्[अ]	हो हु होए हुन(अन्)[ए]
नेपाली	उ उस्	उन् उन्
बंगाली	ओ उह, ओहा	पु०ब० उहँ उनि ओ

प्रथम उद्ध कर० पु० एक० हुह बहु० हुम् विकृत० हुमिस् बहु हुमन् गर्बी मोह (तुल० बंगाली में जोर देने के लिये ओ-ह?) और विशेषत यूरोपीय जिप्सी-भाषा ओव् स्त्री० ओह, बहु० ओ-ले भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसी श्रेणी में अप० कर्ता० कर्म बहु० ओह, और पुरी उहु स्त्री० इहि रखे जाने चाहिए, यह बात नहीं।

दोनों तालिकाओं की समानता की ओर संकेत किया जा सकता है (राजस्थानी में भी यही बात है, दे एल० एस० आई० IX, II पृ० ९) विविध प्रमाणों की समावना की झलक मिलती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय की कुंजी उप लब्ध नहीं है। यह स्वीकार करने का प्रलोभन होता है कि भारतीय-ईरानी विकरण अव जिसका वैदिक भाषा में केवल एक विचित्र चिन्ह अवशिष्ट रह गया है बना रहा है (इस बोली में ऐसा तो नहीं हुआ कि वह आवम् द्वारा निकाल दिया गया हो?) शेष में उसका अमु के साथ मिश्रण हो सकता है अथवा स्वर-मध्यग व् प्रकट होकर लुप्त हो जाता है (विकरण अमु के बने रहने के कारण वे पीछे)। यह भी बराबर संभव है कि ये सब रूप ईरानी से आये हों पु० फ़ा० और अवेस्ती अव फ़ारसी ओ।

विकरण ब जो संबन्ध० अस्य और करण० प्रा एण एहि चीन अस्ति में निहित हो या कर्ता० में स्थित हो जाता है, किन्तु यकायक उसमें परिवर्तन उपस्थित हो जाता है अथवा वह मु आ की ओर लगभग पंजाबी आह निस्सन्देह तोरवाली आ [विभिन्न रूप में कर्ता एक० और बहु० यह देखा जा सकता है वीर्मल निस्सन्देह आ (अव) ए(एत-) के कारण है और अपभ्रंश आज द्वारा प्रमाणित है] की भाँति अव्यय है अथवा उसकी व्याप्ति हो जाती है और एक ऐसा सर्वनाम उपलब्ध होता है जो संज्ञाओं की भाँति रूप धारण करता है म० हा ही हे विकृत० पु एक० या हाँ बहु० याँ ह्याँ संभवत ग्रीक जिप्सी भाषा -अव् स्त्री० -ऐ अथवा अन्त में उसकी झलक कुछ अनियमित उदाहरणों में मिलती है कमाय आसि तुल० ईमि अत विकृत० तर (तुल० गेड् तर:?) के विपरीत।

रूप को छोड़ कर, इस विकरण का अर्थ भली भाँति निश्चित नहीं हो पाया

गुजराती में पंजाबी में जिप्सी-भाषा में उससे पास की वस्तु का द्योतन होता है इसके विपरीत सिंधी में ओ स्त्री ए अनु की भाँति होना चाहिए।

क्या इस अंतिम में कोई दूसरा प्राचीन विकरण छिपा है? सच तो यह है कि विकरण अन भारतीय-ईरानी में बहुत कम है, और भारतवर्ष में केवल मुश्किल से करण० में मिलता है प्रा अपेण विकरण एन जो वास्तव में भारतीय प्रतीत होता है संस्कृत में कर्ता कभी नहीं है प्रत्ययांश होने के कारण मध्यकालीन भारतीय भाषा में वह विशेषत अन्त्य स्वर-विहीन है कर्म वह ने। प्राकृत में कर्ता० के अतिरिक्त अन्य कारकों में विकरण इव है क्या यही कर्ता मे इने (सौरसैनिटिएर्न के अनुसार ग्मि) ग्रामीण कर में स्त्री० माँह (पु मिह) विकृत नोमि(ए) वह नौम् नाम विकृत० नीमन् और सिंधी मे (अ)नु स्त्री० (अ)ने वह अनि(इ) के रूप में होना चाहिए? यह एक और पुरानापन होगा।

अन्त में एक -स्- युक्त विकरण है जिसे भारोपीय माना जा सकता है यद्यपि समुदायगत सं इसके ओस्कस आयरलैंडिश अस्स केवल इटैलो-केल्टिक में जीवित रहने चाहिए (ब्रगमन ग्रुंड्रिस III' पृ० १४०) वैसकि अकि टीराही सा पाई एस्[म] प्रयुग एस्ले कलाश बहु० एके (मध्यवर्ती -स् का ल की भाँति व्यवहार की संभावना के अन्तर्गत)। क्या यह वही है जो वै ओलिम की दीर्घ श्रेणी सहित संस्कृत मे आरात् आरे है जिससे पाली आरका और सिंहली अर हैं। हर हालत में उसके साथ सिंधी रो स्त्री० रि, जो बोली के रूप येरी का संक्षिप्त रूप होना चाहिए, को संबद्ध करना उचित न होगा तुल० पश्तो अक्रो भी।

एक ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त सर्वनामों में से बहुतों में और अन्य में भी शब्द-व्युत्पत्ति-विचार-हीन महाप्राण पाया जाता है। जैसे हैं म० हा कोंकण हाहो कोवार ह इस कर्म हमु, वह हमित् हस कर्म० हुवे हुवो, जो वह हुवेद् नूरी वह यह स्वरापात विहीन पश्चात् अहक अव्यय ह निपात सिंहली हे अथवा ऐ।

एक वैयाकरण ने अपभ्रंश में कर्ता० एक पु० अहो की ओर संकेत किया है जहाँ जितना यह रूप मिलता है उसकी व्युत्पत्ति प्रा अव्यय अह से होती है जिसम पिशेल स अप का प्रतिनिधित्व पाते हैं। इस प्रतिपादन से कम-से-कम आदि में और कव पुइ की भाँति कर्ता० म ह का कार्य भली भाँति जाना जा सकता है। पं एह आदि अधिक परेशानी की चीजें हैं सबसे अधिक सरल तो उसका सिंधी हे के साथ साम्य स्थापित करना है। अप० एहो भी है जो प्रा एसो सं एष के तुल्य समझा जाता है एक बार तो इससे स्वर मध्यग म् के अनियमित व्यवहार की समस्या अधिक उप

स्थित हो जाती है। यह सोचा जा सकता है कि एक (अ)इ ए जैसी रचना यह साथ ही है के समीप हो। वास्तव में इन सब रूपों की कुंजी अभिव्यंजक इ में है तुल० छत्तीस० ह-अर् आदि दे० अन्यत्र।

सर्वनामों में भी निपात सबद्ध हो जाने की संभावना होना मामूली बात है। भारतवर्ष में यह 'ही' का अर्थ प्रकट करने वाला निपात है तुल० हि ही बं० -इ, म० -च् सिन्धी -अ। अस्कुन पृथक् से विभक्ति इ क- के साथ अथवा सर्वनाम 'की' के साथ सम्बद्ध है तुल० सर्व अथवा सूर्व कर्ता (बोगेरि स्त्री)। सिहली में व्याप्ति-युक्त -क- है जो उसी प्रकार का होना चाहिए (यहाँ 'एक' का मानना ठीक नहीं विशेषतः जब बहु० भी है)।

सर्वनामगत विकरण का द्वन्द्वत्व हो जाना तो प्रायः काफी मिलता है खोवार में इस का बहु० हलेय् है जिसमें त दो बार आया प्रतीत होता है और बहु० इमि-त् हेम का में तो तीन विकरण होने चाहिए, अथवा कम-से-कम निपात से पूर्व दो पसई

अ-स्[म] कद० तिम जमी तेमे प्रशुन मुमि आदि के साथ कहीं उसका बहु० अमुमि जो साक्षात् एक० 'का' बहु० *के जिसके पूर्व विहत० के और बहु-सम्बन्ध जिप्सी भाषाओं के रूप आते हैं से बना प्रतीत होता है।

स्पष्ट रूपों की ओर फिर से आने पर, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्त्ता का विकरण और विहृत० (प्राचीन सबध०) का विरोध सर्वनामों के सभी प्रकारों में आ गया मिलता है यूरोपीय जिप्सी-भाषा पु० एक० योष् अष् पूर्ति पनुवि -स् मनुस् प्रमुन सु मिसे कश० यह तिमिस् खोवार हैय हनु मर्यई मा मी बैगलि ई विहत बहु० अर्मा।

अन्त में परिवर्ती समुदाय में प्रत्ययांश-सबंधी विहृत० का बना रहना भी ध्यान देने योग्य है कश -न् (अह न्) बहु० न् (एषाम् ? तुल० एक० त्साह, बहु० त्सोह्[म]

कभी त्सा)। कहीं -स् बहु० -ने सिधी -स् (अह ई) बहु० न्[ए] (अह. -ऊ) गर्वी एक० -न् अस्कुन (अ)स् बहु० सोत् पूर्ति -स् बहु० सन्।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

भारोपीय क्षेत्र में भारतवर्ष ही एक ऐसा स्थान है जहाँ प्राचीन संबंधवाचक संस्कृत य आज भी बना है। ईरानी में इजाफत में केवल उसका चिन्ह ही अधिक मिलता है और इजाफत का कार्य नितान्त भिन्न है भारतवर्ष की आर्य भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में संबंधवाचक के अभाव से यह बात और भी प्रमुख हो जाती है। इस सर्वनाम

की दृढ़ता निस्सन्देह बनी रही है क्योंकि वह उस कठोर प्रणाली में है जिसकी रचना सर्वनामजात विशेषणों और संबंधवाचक नित्यसम्बन्धी प्रश्नवाचक (और अनिश्चय वाचक) क्रियाविशेषणों द्वारा होती है। उदाहरणार्थ हिंदी में

जो सो * जो तुम० कोइ तुज अब कौन् कौन्।
जसा वैसा कैसा।
जितना इतना कितना।
जद् तद् कद् (कभी)।

केवल बाह्य समुदाय की भाषाओं में संबंधवाचक लुप्त हो गया है कश्मीरी को छोड़कर, उत्तर-पश्चिम के समुदाय में उसके स्थान पर प्रश्नवाचक का प्रयोग होता है (ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशुन के एक नवीन भेद से सहायता प्राप्त होती है कस् देस् और मवर्‌दती के केमुचे कर) अथवा फ़ारसी के 'कि' का जो निश्चित रूप से समुच्चयबोधक होना चाहिए अथवा अन्ततः केवल वाक्यांशों के सान्निध्य से संपुष्ट हो जाना चाहिए।

पशाई में (एल० एस० आई० VIII, II, पृ० ९४ किन्तु श्री ग्रियर्सन उसे दूसरे प्रकार से रखते हैं) निश्चयवाचक से काम चला लिया जाता है सु[अ] तुज ऊन्स्[अ] (किन्तु सिराजी और रम्बानी 'जो' पोगुली यों)।

यूरोप की जिप्सी-भाषा में ग्रीक कीपौर्ड की एक नकल का प्रयोग होता है और फ़िलिस्तीन के एक शब्द और एक सेमेटिक-रचना की नकल का।

सिंहली में संबंधवाचक पूर्वसर्ग के बदले में अनुकूल कृदन्त है रचना जो बहुत दिनों से भारत से लुप्त हो गया है तो भी एक संबंधवाचक निपात यम् शेष है जो सदैव प्रश्नवाचक निपात (द व्युत्पत्ति?) अथवा संभाव्य (मम् सं० भाम) द्वारा पूर्ण होता है।

संबंधवाचकों की रूप-रचना नित्यसंबंधी हि० सो राज० यो आदि के साथ-साथ कुछ कठिन समस्याएँ प्रस्तुत करती है। केवल मराठी में वह पूर्ण है शेष में वह नामजात रूप रचना में मिल जाती है।

उसमें और साथ ही सिंधी पंजाबी और हिन्दी में कर्ता० एक० 'जो' बहु० 'ज' के रूप प्राचीन अप्रचलित प्रतीत होते हैं किन्तु जब कि वे केवल पु ए० यो ये से निकलते हैं उनके लिंग में मराठी के बाद केवल सिंधी में राजस्थान की विभिन्न जैपुरी में (पु० यो स्त्री या) अन्त में संभवतः सान्निध्य-प्राप्त कश्मीरी में युस्[उ] स्त्री० योस्य (पुर० युह् स्त्री० स) परिवर्तन होता है मारवाड़ी में व्याप्ति प्राप्त जिका स्त्री०

त्मिका में परिवर्तित होता है किन्तु 'को' 'ज्यो' में परिवर्तित नहीं होता और स्वयं परिवर्तन भी केवल एक० में होता है बहु० में तो केवल मराठी में लिंग की दृष्टि से अस्थिर रूप है।

अवधी (किन्तु तुलसीदास और जायसी ने 'जो' का प्रयोग किया है) बंगाली उड़िया और विशेषतः गुजराती में (गुजराती और उड़िया में उपसर्ग या प्रत्ययों द्वारा बहु० में परिवर्तित) सुस्पष्ट नहीं है नेपाल और कुमायूं में 'जे' का प्रयोग निर्जीव वस्तुओं के लिये होता है 'जो' केवल पु० और स्त्री० है। क्या यहां नपुं० के सामान्यीकरण हो जाने के कारण है कि मराठी में केवल एसा मिलता है 'जें' ? अथवा उसमें एक सम्बद्ध निपात है जैसे हि० 'ही' है ?

राजस्थान में संबंधवाचक का निश्चयवाचक की भांति प्रयोग देखिए, विशेषतः व्युत्पन्न क्रियाविशेषणों में मारवाड़ी जिको जिण् सूं जरि तरि की तरह (तुल० म० जरी जैपुरी जिसी जद् जयें तुल० हि० जभि) । क्या यह शुद्ध लुप्त-समुच्चय बोधक में दुहरे वाक्यांश का आ जाना है ?

प्रश्नवाचक

ऐसे रूपों की अत्यधिक विभिन्नता है जो लगभग सभी परंपरागत विकरण क- कि- क्रमशः फ्रेंच "qui" और "quoi" में प्रकट होते हैं।

"qui"—साधारण रूप में बहुत कम मिलता है सिंधी 'को' स्त्री० का' सिंहा नेपाली 'को' कतीक् कश० कु-स्^उ को-मान ? 'को' के समीप 'को' यह प्रकट करता है कि यह व्याप्ति-प्राप्त रूपों से ऐसा होता है अपेक्षाकृत सं० प्रा० 'को से गुज० संभवतः सिंहली कवद्। सं० कीदृश से निकलते हैं सिंधी केहो गु० कयो दो प्राचीन किसिउ और संभवतः यूरोपीय जिप्सी-भाषा 'सो' संभवतः प्राकृत केरिस से साम्य रखते हुए हैं सिंधी केहरो केह्, पं० केहरा।

कश० कवन् (पा० कोपन कि पन दे० ऐंडर्सन कृत 'पाली रीडर' की अनुक्रमणिका) से साम्य रखने वाला एक समुदाय है राज पं० कौण् हि० अवधी कौन् गु० म० कोण् मराठा काण् ने० कुन् बंगाली कोन् जो 'के' के समीप है जिप्सी-भाषा कोन् कलाश कूर ?

पमाई बैगेलि 'के' अस्कुन कोर, बिहुत०को दूसरी ओर मैथिली बंगाली 'के' समस्या प्रस्तुत करते हैं सीराही 'काम' अफ़गानी है।

"quoi"—सं० किम् प्रत्यक्षतः इसमें प्रतिबिंबित हुआ प्रतीत होता है—मैथिली

की बंगाली उड़िया कि पं० की मर्वी तीराही कि बिना पे-क् सिंहली किम्-द हिं० क्या (विकृत० काहे) प० किथा (विकृत० किन् कहे) सिंधी छा कव क्याइ (संप्र० कय्) कश्मीर कीव उसके व्याप्ति-प्राप्त रूप प्रतीत होते हैं।

विकरण क- भी बराबर काम आता है निस्सन्देह विकृत कारकों पर आश्रित होकर पु० हिं० कहा और मैगेधि कस् तो स्वयं विकृत है अवधी में काइ है छत्तीसगढ़ी में का नपुं० यह अप० काहे जैपुरी काँई, मराठी काम् (विकृत कसा कासमा) सम्भवतः कवी काइ, म्हवा मेवाती के नूरी 'के' मे फिर मिलता है। अन्य रूप भी हैं, जो कम स्पष्ट है।

हिं क्या बं० कि आदि जो प्रश्नवाचक वाक्यांशो मे काम आते हैं (ने० 'कि' उन्हीं का अनुसरण करता है) मुर को छोड़कर सामान्य वाक्यांशों मे कोई विशेषता ग्रहण नही करते उनसे केवल cat-ce que वाला काम निकलता है। बंगाली प्रकार 'न कि' हिं० कि नाहीं पर—वे अव्यय।

संस्कृत में च चित् अथवा (अ)पि के साथ आने वाला अनिश्चित प्रश्नवाचक के रूप में आता है। उससे उदाहरणार्थ है पाली कोचि नपु किचि अशोक० में इसी प्रकार केचि केच है और इसके अतिरिक्त तात्कम्य लोप रूप केछ किछि है जिससे स कश्च का जीवित रहना प्रमाणित होता है। प्राकृत में 'कोचि' का प्रमाण मिलता है।

को(चि) अथवा कोचि से निकलते है हिं पं० राज हिं कोई, उड़िया केह और स्वर-संधि के फलस्वरूप मु० सिंधी शिना को कसी को (मु कह) पशई तीराही मैगेधि कि। समान रचना क्रम से किन्तु आधुनिक म कोणी पु हिं कोऊ, बिहारी केऊ, बंगाली केहो कश्च नपु म काँहीं मु कोइ, मार० की सिंधी किं।

चिछि का बगाली किछु, उड़िया किछि हिं कुछ(उ) में दीर्घीकरण हो गया है सिंहली किसि सविरल है।

सर्वनामजात विशेषण

सामान्यतः संस्कृत के सर्वनामजात विशेषण जो भारतीय ईरानी मे दृष्टिगोचर होते हैं लुप्त हो गये हैं उनके जो अत्यन्त दुर्लभ रूप अवशिष्ट रह गये हैं वे उनकी एक भी विशेषता प्रकट नही करते संज्ञा-रूप विशेषणों का संज्ञा-रूप है। हिं० सदृ, जैसा।

सर्वनामों से व्युत्पन्न समुदायो मे एक साथ संबंधवाचक निश्चयवाचक और प्रश्नवाचक रूप मिलते हैं जैसा तैसा कैसा।

सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व उसका हुआ है जो परिमाण प्रकट करता है जो संस्कृत कियत्- पा० कित्तक-, प्रा० केत्तिअ (जिसमें 'के' निश्चयवाचकों के ए के अनुकरण से बने होने चाहिए, तुल० पा० ए-त्तिस एत्तक) से निकला है। कती में कत् का अर्थ होता है "कौन कौन" ? किन्तु वैयक्ति म प्राचीन अर्थ-सहित केति है तीराही म कतेचि है तुल० ले-तिद् कतिसि मदकुल मे चीत् है गवरबती में कत। विभिन्न पर प्रत्ययों सहित तोरवाली कतक प्रयुग केरम् मिला कचीक कतक मया कमुक् कर० कृत्र्[उ]

सी० कीथ[उ] यूरोप की जिप्सी भाषा केति नूरी कित्तुरुवं सिंधी कतिरो अन्को म० किंतुका(पु० म जेती) प० हि० कितना ब० कत(स० कति से प्रभावित ? हर हालत में प्रा० त्तक- के बारे में सोचा भी नहीं जायगा) उड़िया 'केते' मिलते हैं।

क्या कलाश किमोन् ने फ़ारसी से विपत्ता प्रकट करने वाला पर प्रत्यय -मान् उधार लिया है ?

मराठी केवढा *कीयद्-वृक्ष प्रकार पर अथवा कहना चाहिए प्रभावित हुए म- महात्मन्म के समान प्राकृत *के-वड्डम पर आधारित प्रतीत होता है।

सिंहली की जो कियन्त में व्याप्ति-युक्त हो जाता है कति पर आधारित प्रतीत होता है कोच्चर अस्पष्ट है को पमाण सांनिध्य प्राप्त विद्वत्तापूर्ण शब्द है।

'किस प्रकार का' प्रकट करने के लिए हि० कैसा म० कसा के समुदाय *कादृश प्रकार प्रदर्शित करते हैं तुल० वैदिक ईदृक्ष यादृष् ताइश तादृश् ।

कीदृश के व्युत्पन्न रूपों में दे० पीछ पु० बं० के-मन् ब० के-मत् के-मन् हाल की रचनाएँ हैं। अन्य भी हैं जो कम स्पष्ट है।

निजवाचक

यद्यपि मुख्य यह केवल मध्यावस्थी की बात है तो भी संस्कृत आत्मन् के जीवित रहने की ओर संकेत करना उचित होगा जो ऋग्वेद में भारतीय ईरानी तनु के साथ-साथ मिलता है और तुरन्त बाद ही उसका स्थान ग्रहण कर लेता है स्व और स्वयम् का उसम कोई संबंध नहीं रहता (सम्भवतः मध्यकालीन भारतीय भाषा में ॥ और सायम् के समीपवर्ती हाल के कारण)।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में आत्मन् के व्युत्पन्न रूप दो प्रकार के हैं (दे० अन्यत्र) अप्पा अत्ता। पहले से निकलते हैं प आप् (विहत० आपम्) उड़िया आपे पु० बं० आपा बंगाली आपमर् मध्ये ने० आफु, विहत० जिप्सी भाषा पम् और म्युन्नस मु० पोने मैसेमि पेह मर्मी पुफा ओकप पा और पेरा। विहत के विकरण

से उपलब्ध होते हैं बं० आपनि सिंधी पागु, कश० पन प्रयुग पने गुरी पगजि और विशेषण हिं० आपुना पं० आपुणा गु आपुणो ('हमारा' सहित) ने० आफ्नु।

हस्व वाले विकरण से आते हैं एक ओर सिंहली तमा (अथवा यह पा० तुम है?) दूसरी ओर तीरवाली तम् पशाई तामिक और विशेषण सिना तोमु, गर्वी मैमेलि अस्कुन तमु कोवार तन् फ़ारसी से लिया गया होना चाहिए।

आदरसूचक सर्वनामों की भाँति इन शब्दों के प्रयोग के संबंध में दे अन्यत्र।

सर्वनाम एक ऐसा व्याकरण-संबंधी समुदाय है जो मुख्यतः अर्थ-विचार और अभिव्यंजना-संबंधी तोड़-फोड़ से फलतः पुनःसंस्कार से प्रभावित है। इस प्रकार रूपों का बाहुल्य स्पष्ट हो जाता है। किन्तु व्युत्पत्ति द्वारा वे सब मूलतः संस्कृत प्रदर्शित होते हैं और यदि कुछ उपयुक्त बना लिये गये रूप हैं तो वे मूल उत्पत्ति के नहीं हैं जैसा कि उदाहरणार्थ रोमन में देखा जाता है। प्रारंभिक विशेषताएँ निश्चयवाचक स् अथवा द् संबंधवाचक य् प्रश्नवाचक क- बराबर बनी रहती हैं और अर्थ द्वारा समुदाय में रखे गये शब्द रूप द्वारा स्पष्ट बनायी गयी प्रणाली में भी समुदायगत बने रहते हैं जिसके कारण जैसा कि देखा जाता है कुछ वाक्यांशों की स्पष्टता और साथ ही नियमबद्धता है।

रूप-रचना का प्राचीन अत्रचलित रूप बना रहता है हिंदी-पंजाबी-कहूवा-नेपाली समुदाय में -स् युक्त विकृत० और विशेषतः 'को' प्रकार का कर्ता० जो उदाहरणार्थ हिन्दी के विशेष्य प्रकारों बाप् और घोड़ा के विरोध में है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीनता है लिंग का सामान्य अभाव जो समस्त पुरुषवाचक सर्वनामों के समानान्तर रखे जाने के कारण है।

तृतीय खण्ड

क्रिया

पुरुषवाची रूप

भारोपीय क्रिया में एक ओर तो पुरुष के लिंग के नहीं द्योतक प्रत्ययों से ग्रहण किये गये रूप हैं दूसरी ओर ऐसे नामजात रूप हैं जो लिंग और साथ ही वचन का पुरुष का नहीं द्योतन करते हैं और जिनकी विशेषता है ऐसे विकरणों से सबद्ध होना जो वास्तव में क्रियार्थक हैं और जिनमें उसी प्रकार वर्णों और रचनाओं से प्रभावित होने की संभावना रहती है जिस प्रकार पुरुषवाची रूपों में। यहां केवल पुरुषवाची रूपों का प्रश्न है।

वैदिक स्थिति

वैदिक क्रिया अवेस्ती क्रिया के अधिक निकट है। उनमें विकरणों की रचना समान रूप से होती है (अवेस्ती प्रेरणार्थक धातु में -य् का प्रयोग वास्तव में भारतीय है) दूसरे रूपों का निर्माण भी समान है और उनमें रीतियां हैं (वर्तमान में स्वर उ अ० मुमुरसे- स० मुमुक्षु पूर्ण में उ और इ अ० उरुरुध्वा स० ररोध अ० चिकोइतरेरेस स० चिकितु आयम भी वैसा ही है किन्तु वह अवेस्ता की भांति न तो दुर्लभ है न पु० फ़ारसी की भांति निरंतर बना रहने वाला)। अन्त्य प्रत्ययों में समान विशेषताएं हैं (आज्ञार्थ १ एक० कर्तृ० -नु मध्य -आम् और -थाम् २ एक० मध्य० -स्व १ एक० सामान्य अतीत मध्य विकरणयुक्त -इ, प्रारंभिक मध्य रूपों के बहु० के अन्तर्गत मध्यम पुरुष के -ध्व् का प्रयोग वामध्वे अ० वेरेध्वे इसी प्रकार १ बहु० मौन मध्य० -महि के निकट अ० मैध्य आदि रूप सं० -महे अ० -मैदे) जहां तक भिन्नताओं से संबंध है वे कोई गंभीर नहीं हैं और परिवर्तन-विरोधी प्रवृत्ति पर आधारित हैं १ द्वि० -व जो अ० -वाही से भिन्न है एक साधारण पुनर्विभाजन का परिणाम है इसी पुनर्विभाजन का परिणाम है १ एक० -आ का संभावनार्थमूलक क्रिया-रूप तक सीमित रहना (यथा अ० बाधहा की भांति किन्तु अ पूर्वदृष्टता के विपरीत केवल निश्चयार्थ क्रिया-रूप पुनरुप्ति अधिक मिलता है) उसके पूर्ण लुप्त हो जाने का पूर्वाभास (उसके केवल इनगिने कम उदाहरण मिलते ही हैं)। २ एक० आज्ञार्थ गृहाण बधान और वैदिक प्रत्यय -न-म -म-म का वास्तव में भारतीय निपात संभवत भारोपीय में दृष्टिगोचर होता है (हित्ती बहु० १ -वे-नि २ -ते-नि ?) प्रत्येक स्थिति में तत्वों

पुरुषवाची रूप

भारोपीय क्रिया में एक ओर तो पुरुष के लिंग के नहीं द्योतक प्रत्ययों से ग्रहण किये गये रूप हैं दूसरी ओर ऐसे नामजात रूप हैं जो लिंग और साथ ही वचन का पुरुष का नहीं द्योतन करते हैं और जिनकी विशेषता है ऐसे विकरणों से सबद्ध होना जो वास्तव में क्रियार्थक हैं और जिनमें उसी प्रकार वर्गों और रचनाओं से प्रभावित होने की संभावना रहती है जिस प्रकार पुरुषवाची रूपों में। यहाँ केवल पुरुषवाची रूपों का प्रश्न है।

वैदिक स्थिति

वैदिक क्रिया अवेस्ती क्रिया के अधिक निकट है। उनमें विकरणों की रचना समान रूप से होती है (अकेली प्रेरणार्थक धातु में -य् का प्रयोग वास्तव में भारतीय है) दूसरे रूपों का निर्माण भी समान है और उनमें रीतियाँ हैं (वर्तमान में स्वर उ अ० मुमुरुत्से- सं० गुमुरुत्स् पूर्ण में उ और इ अ० -उरूरओ॰व सं० वरोध अ० विकोइत्ररुरुसे, सं० चिकित्सु आगम भी वैसा ही है किन्तु वह अवेस्ता की भाँति न तो दुर्लभ है न पु फ़ारसी की भाँति निरंतर बना रहने वाला)। अन्त्य प्रत्ययों में समान विशेषताएँ हैं (आज्ञार्थ १ एक कर्तृ० -नु, मध्य० -आम् और -वाम्, २ एक० मध्य० -स्व १ एक० सामान्य अतीत मध्य० विकरणयुक्त -इ, प्रारंभिक मध्य० रूपों के बहु० के अन्तर्गत मध्यम पुरुष के -ध्व् का प्रयोग भायध्वे अ० वैरθवे इसी प्रकार १ बहु० मौन मध्य० महि के निकट, अ० मैθइ, आदि रूप सं० -महे अ० -मैदे) जहाँ तक भिन्न तामों से संबंध है, वे कोई गंभीर नहीं हैं और परिवर्तन-विरोधी प्रवृत्ति पर आधारित हैं १ द्वि० -व यो अ० -वाही से भिन्न है एक साधारण पुनर्विभाजन का परिणाम है इसी पुनर्विभाजन का परिणाम है १ एक० -आ का संशयार्थसूचक क्रिया-रूप तक सीमित रहना (यथा अ० ब्रवा की भाँति किन्तु अ० पूर्वदूर्वसा से विपरीत केवल निश्चयार्थ क्रिया-रूप पृष्ठभूमि अधिक मिलता है) उसके पूर्ण लुप्त हो जाने का पूर्वाभास (उसके केवल लगभग दस उदाहरण मिलते ही हैं)। २ एक० आज्ञार्थ गृहाण समान और वैदिक प्रत्ययों -त-न -थ-न का वास्तव में भारतीय निपात संभवतः भारोपीय में दृष्टिगोचर होता है (हित्ती बहु० १ -व-नि २ -तै-नि ?) प्रत्येक स्थिति में दसवीं

पर्यों दीर्घ स्वर-संयुक्त धातुओं के पूर्ण० के एकवचन १ ३ भारोपीय से आये हैं (मेइए, 'रेव्यू द एत० आर्मेनिएन' १९३० पृ० १८१) और ईरानी की विशेषता उसे अलग करने में है -अ (बिंद चक) युक्त पूर्ण० के मध्यम बहु का प्रत्यय जिसका स्थान ईरानी में आदि प्रत्यय ग्रहण कर लेता है निश्चित रूप से एक प्राचीन अप्रचलित प्रयोग है इसी प्रकार आज्ञार्थ विस्तात् सैंटिम और ग्रीक द्वारा प्रमाणित है २ एक० मध्य अविवा:, संभावक प्रकार जानीया के केल्टिक में प्रतिरूप मिलते हैं। उसके समीपी आशीर्वादात्मक का जन्म द्वि० रूपों अथवा र् युक्त प्रत्ययों (अवर्म० वर्त० दैरे जो अ० सोइरे सरेरे) की भांति है पूर्ण चकिरे जो आहूरे की भांति है, किंतु अमृभुरिरे अघसृक्षम् जो अचोद्(अ)दर्शम् की भांति है, किन्तु चचकिरन् सामान्य अतीत अदृश्रन् अपूर्ण० अशेरत बहु० जैसा पूर्व अवसृक्षत आज्ञार्थ वृहुरुण पूर्ण० तक आदरार्थ का विस्तार ऐसी नवीन बातें हैं जिनका आगे के लिये कोई महत्त्व नहीं है।

अन्त में जोड़िए, उन्हें बिलग संबंध प्रत्ययों के प्रयोग से है, जो अवेस्ता की भाषा की भांति वेद में नपु० बहु० के अंतर्गत कर्ता एक० क्रिया-सहित के रूप में मिलता है। किन्तु यह प्रयोग जो भाषा में नियमित रूप से मिलता है, ऋग्वेद में अपवाद-स्वरूप ही है।

विकरण

विकरण में बहुत विविधता है व्युत्पत्ति से बने भाववाचक की दृष्टि से देशी वैयाकरण वर्तमान० के दस भेद स्वीकार करते हैं इसके अतिरिक्त सामान्य अतीत मूल और स भविष्यत् हैं और हर एक प्रकार के कई-कई भेद हैं भविष्य० और पूर्ण । कुछ विशेष भेदों का प्रकार-विषयक पर प्रत्ययों द्वारा प्रस्फुटीकरण हुआ है सामान्यार्थ और आज्ञार्थ (शून्य) संभावार्थसूचक (गुण मूल तथा रूपमात्र -अ) आदरार्थ पर प्रत्यय -या -ई -ए विकरणयुक्त में। अन्त में दो वाच्य हैं कर्तृ और मध्य।

वर्तमानकालिक विकरण

इनकी संख्या बहुत है कुछ (तीन) सामान्य अतीत के समान हैं अधिकतर वर्तमान० में विशेष व्युत्पन्न रूपों से हैं। इसी स ऐसा है कि क्रिया का समस्त संभव विकरण प्राप्त होने पर भी उनका प्रयोग नहीं होता बड़ी कठिनाई से ऋग्वेद की धातुओं के पाँचवें भाग से अधिक में वर्तमान मिलता है।

वर्तमानकालिक विकरण और शून्य पर-प्रत्यय-युक्त सामान्य अतीत

अविकरणयुक्त रूप

इस रूप की रचना में न केवल पर प्रत्यय का अभाव मिलता है वरन् उसमें धातु का स्वर-संबंधी परिवर्तन क्रम और स्वराघात का स्थानान्तरीकरण कम-से-कम वर्तमान में मिलता है ए-ति यू-अन्ति अ० अएइति येइन्ति ध्वनि-संबंधी अथवा अन्य परिस्थितियों के फलस्वरूप सामान्य अतीत परिवर्तन क्रम कम स्पष्ट है उदाहरणार्थ एक० १ अगम् २ ३ अगन् बहु० १ अगन्म ३ अग्मन् एक० १ अभूवम् ३ अभूत् बहु० ३ अभूवन्।

भारोपीय में अन्य स्वरूपों की अपेक्षा वेद में यह वर्ग अधिक अच्छे रूप में मिलता है उसमें लगभग ११० वर्तमान० १०० सामान्य अतीत हैं (जिनमें से ८० ऋग्वेद में हैं) जब कि दोनों समुदायों में मिला कर अवेस्ता में मुश्किल से ८० धातुओं से अधिक है।

भारतवर्ष में कुछ विकरण ध्वन्यात्मक हैं उदाहरणार्थ वर्तमान० में ब्रवी-ति ब्रुव्-अन्ति ये रूप बहुत कम मिलते हैं अमिति तवीति स्वपिति श्वसित् मात्रार्थ स्तनिहि। किन्तु यह प्रकार बना रहता है स्वयं अथर्व० में मिलता है रोदिति जो लै० क्यों रुदीअर के मुकाबले आश्चर्यजनक है जहां तक स्वपिति से संबंध है तुल० अथर्व० भविष्य० स्वपिष्यति जो स्वप्न के विपरीत है ग्र० आशार्थ २ एक० स्वप मेइए, बी० एस० एल XXXII पृ० १९८ के अनुसार लै० कैपिओ कैपिट प्रकार का बच शिष्ट रूप होना चाहिए।

सामान्य अतीत में अग्रभम् अग्रभीत् बनाया गया है जबम् जबदीत् की भाँति किन्तु रूप अलग-अलग हो गये हैं अग्रभीत् -इप् युक्त सामान्य अतीत के साथ चला जाता है दे० मेइए, बी० एस० एल XXXIV पृ० १२८।

स्वराघात के संतुलन रहित, सामान्य विकरणयुक्त रूप

वर्तमान० यह बहुत मिलता है प्रचलित रूप में युग है बो-न्ति। सामान्य अतीत में धातु शून्य श्रेणी में है बुधन्त। एक ही धातु में वा विकरणों का मा-श्रुतिस्थ और विराम दोनों जो ग्रीक में बहुत हैं अवेस्ती की भाँति संस्कृत में [illegible] हैं उदाहरणार्थ रोहति अरुहत् शोचतु अशुचत् वर्दति [illegible] एक फर किन्तु अतनत् का तनोति से विरोध है, अविदत् का [illegible] ही अमुचन का मुञ्चति से उस समय तक जब तक वर्तमान० [illegible] है [illegible] बहु है मुञ्चन्ति। इस समय अपूर्ण० और सामान्य अतीत [illegible] में अनेक रचनाएँ मिलती हैं।

समस्त भारतीय भाषाओं में विकरणयुक्त क्रिया-रूप [illegible]

में ही प्रचुर मात्रा में ये अविकरणयुक्त रूपों को संबद्ध कर लेते हैं, जिनमें परिवर्तन-क्रम के कारण एक गंभीर दुरूहता उत्पन्न हो जाती है—न केवल स्वर-संबंधी चमत्कार द्वारा *किन्तु व्यंजनों के संपर्क में आने के कारण उत्पन्न ध्वनि-संबंधी परिणामों द्वारा भी* तुल० ताष्टि अतष्ट प्रथम एक० अय आदि।

संस्कृत में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीन वर्ग लुङति प्रकार है, जो संभवार्थसूचक और सामान्य अतीत के भावार्थ पर आधारित है इस मूल के कारण उसके निर्दिष्ट क्रम की गणना की जाती है चाहे स्वयं क्षणिक कार्य द्वारा क्रिया द्योतित हो (रुवति सुवति अ० इर्वर्तवति) चाहे वह कुछ समय तक रहने वाले भाव के द्योतक रूप के विरोध में हो (पतति पिपति)। प्राचीन काल में यह वर्ग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है लगभग ८५ क्रियाएँ वेद में पचास अवेस्ता में।

इ और उ के द्वित्व वाले रूप से सामान्यतः कुछ सामान्य अतीत उपलब्ध होते हैं (अनू-चुवत् सिस्वपत्) जो फिर प्रेरणार्थक धातु से सम्बद्ध हो जाते हैं (बोधयति स्वापयति तुल अ० वोंवन् और ग्री० पेफ्रनिन् प्रकार) एक भिन्न रूप में यह विरोध अविकरणयुक्त में मिलता है अवोचत् वरते। वर्तमान० के मुकाबले टिब्टो की समृद्ध ग्रीक भाषा और मिम्नो समुदाय आदि से भिन्न ईरानी में मुश्किल से केवल आधे दर्जन दूसरे विकरणयुक्त रूप हैं और कुछ अपवाद-स्वरूप रूपों को जैसे बिभृनते तुल० अ० जैग्नुवांसो अथवा अस्पष्ट रूपों को छोड़ कर, स्वयं संस्कृत में यदि वे प्राचीन हैं पिबति तुल० पु आयरिश इबिव तिष्ठति अ हिस्तैति और ग्री सिस्टो से भिन्न क्रम में *सिसिव* वे० पीडे।

अन्य सब क्रम मुख्य हैं चाहे वे वर्तमान में हों अथवा सामान्य अतीत में।

द्वित्व-युक्त वर्तमान

अविकरणयुक्त :

यह क्रम जिससे महत्त्व क्रम निकला प्रतीत होता है भारतीय-ईरानी में भली भाँति स्थापित हुआ मिलता है यद्यपि भले ही उसकी संख्या बहुत न हो वेद में ५ धातुओं से कुछ कम अवेस्ता में ९०। उसका एक काफी निश्चित अर्थ है इ को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप विशेषतः निजन्त हैं (इयर्ति सिसर्ति) अथवा समर्थक हैं (सिषक्ति वर्ते० सहित को सबसे करना० सहित से भिन्न है जो अ को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप हैं वे विशेषतः अतिशयार्थक प्रतीत होते हैं (*बभस्ति बर्वति*) किन्तु ददाति दधाति सकर्मक हैं और बिभर्ति का विरोध भरति से है, जो साथ ही स्वच्छन्द रूप में पूर्व-क्रिया के साथ आता है जिघ्नते अ० जैग्नुवांसो के अनुरूप है तुल ग्री० पेप्रधोन्

और इस बात के संकेत प्राप्त होते हैं कि *विवक्ति दधाति के समीप रहा है। अस्तु वेद में इन रूपों का मूल्य बहुत निश्चित नहीं है उनका प्रधान प्रयोग सामान्य अतीत संबंधी धातुओं को वर्तमान॰ रूप प्रदान करना है तुल॰ भंयात् अंदात्।

कुछ की उत्पत्ति पूर्ण॰ के बाद हुई बिभेति (ऋ॰ भयते बिभाय जागर्ति जागार)।

अतिसपार्थक

यह भी द्वित्व-युक्त काफी मात्रा में रहता है, किन्तु द्वित्व-युक्त धातु के स्वनंत को इस रूप में दुहराता है मानों वह एक हो और यदि धातु में स्वनंत नहीं रहता तो वह दीर्घ रहता है वर्वर्ति बहु॰ वरवृतति मर्मृजन्ति वर्वर्मि तर्तरीति चाकशीति पापतीति।

यह वर्ग भारोपीय है किन्तु केवल भारतीय ईरानी में उसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं तथा अकेले वेद में उसका विकसित प्रयोग पाया जाता है (अवेस्ता में ११ के मुकाबले ९० धातुएँ)। नये रूपों की उत्पत्ति नं नमीति जो मध्य॰ नम्नते के विपरीत है, वरीवर्ति जो वर्वर्ति के निकट है, जैसे द्वयक्षरात्मक प्रकार के व्यंजनात्मक मूल के विस्तार में मिलती है। इसके अतिरिक्त वेद के समय से उसमें कुछ विकरणयुक्त कर्मवाच्य मिलते हैं जैसे मर्मृज्यते पेरिह्यते।

अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय-युक्त विकरण

स्पष्ट रूप में केवल भारतीय-ईरानी में और प्रचुर मात्रा में केवल वैदिक में सुरक्षित अन्य महत्त्वपूर्ण वर्ग। उसके विभिन्न प्रकार हैं

एक धातु रिच् का ३ एक॰ रिणक्ति (अ॰ इरिनख्ति) बहु॰ रिञ्च्-अन्ति

एक द्वयक्षरात्मक धातु अर्थात् *ग्रभ् का गृभ्णाति (अ॰ गृर्‌ब्‌ण्‌णाइति) बहु॰ गृभ्ण्-अन्ति

एक व्याप्ति-युक्त उ युक्त धातु का अर्थात् *वेस्- (तुल॰ कै॰ उमोलुमो ग्री॰ 'इल्लमो) वृणोति तुल॰ अ॰ आसार्प वृर्‌णुइद्।

किन्तु शीघ्र ही इस प्रकार की स्पष्टता लुप्त हो जाती है पहला प्रकार यथेष्ट रूप में दुर्लभ है (वेद में ३० से कम अवेस्ता में ८)। अन्तिम वर्ग जिसमें -ना-/-नी -नो-/-नु का पर प्रत्यय वाला रूप था संस्कृत में विकसित होते हुए पाये जाते हैं उससे पानाति (जो भारतीय ईरानी ही था) धनुनोति जिनका ऋ॰ में बहुत कम प्रमाण मिलता है बाद में विकसित होते हैं, मिनाति जो मिनोति के समीप है, अश्नोति अथर्व॰ अश्नोति अनुनासिकत्वायुक्त धातुओं में पर-प्रत्यय -ना-/-उ जैसा प्रतीत होता है तनोति जो सामान्य अतीत से भिन्न है वनोति जो वनति के समीप है, मनुते जो मन्यते

के समीप है स्वयं जिससे कृणोति से निकले करोति सामान्य अतीत सत्यार्थसूचक के साथ सम्बद्ध रहता है। इन विस्तारों के कारण ही दोनों वर्गों के प्रमाण वेद की क्रमशः तीस और चालीस क्रियाओं में मिलते हैं (अवेस्ता में प्रत्येक की २५)। इन क्रियाओं का प्रयोग जहाँ तक उन्हें निर्धारित किया जा सकता है निश्चित है और वह अन्य भाषाओं के प्रयोग से काफी साम्य रखता है यही कारण है कि भारोपीय के समय से उनका प्रयोग एक ही अर्थ में सामान्य अतीत के रूप में वर्तमान की तरह होता है और उस समय वे वस्थायी मूल्य ग्रहण कर लेते हैं क्रिनाति क्रेषुम । ऋ० पृणाति अप्राद् जानाति तुल० अव० ... कृणोमि अकर् स्तृणोति अस्तर् वर्तमान के लिये यह मनोनीत प्रकार ही है जिसमें विकरणयुक्त रूप नहीं होते।

अनुनासिकता-युक्त क्रियाओं ने भारतीय-ईरानी के समय से कुछ मध्यवर्ती प्रत्यय वाले विकरण रूप प्रदान किये हैं जैसे सिन्वति (अ० हिनुवैति) विन्वति अ० अपूर्व० विन्वत् जो वर्तमान ... के समीप है ऋ० में कुल मिला कर दस हैं, अवेस्ता में छ अथर्व० में वस्तुतः जिन्व् और कृन्व् है। इसके अतिरिक्त -ना से निकला पर प्रत्यय -न- सहित ऋ० पृणति जो पृणाति के समीप है, मृणति जो मृणीहि से भिन्न है अथर्व० गृणत ऋ० गृणीत के लिये और अथर्व० गृण ऋ० गृणीहि के लिये। यह अब भी केवल एक प्रलोभन है।

किन्तु यह हो सकता है कि विकरणीकरण अधिकाधिक जैसा कि शुरू में ही सोचा जाता है बोधति प्रकार ने पूर्ण क्रम के विकास के लिये हो जो व्युत्पन्न वर्तमान के साथ सम्बद्ध हो जाता है और जिसका अब उल्लेख करना आवश्यक है।

व्युत्पन्न विकरण

पर-प्रत्यय -य-

सम्पूर्ण भारोपीय की भाँति इस पर प्रत्यय का संस्कृत में बहुत अधिक विस्तार पाया जाता है। उससे मूल क्रियाएँ, कर्मवाच्य संज्ञाओं और क्रियाओं के व्युत्पन्न रूप प्राप्त होते हैं।

संस्कृत (और भारतीय-ईरानी) की दृष्टि से जो मूल क्रियाएँ हैं उनके विभिन्न मूल हैं ऐसे हैं पश्यते पश्यति (गाथा स्पस्या) नश्यति (अ० नस्यइति) जो संज्ञाओं से निकलते हैं तुल० ग्री० पोद् (स्त्री० पदनी) -स्पश् (स्पट) मैनम् मन्यते हर्यति कुप्यति तु० तक० मिनितुं आर्मी हेरिएस्ट, लै० कूपिओ अवेस्ता जिसमें पर प्रत्यय का मूल की दृष्टि से एक विशेष अर्थ था कर्मवाच्य इसी क्रम के साथ सम्बद्ध हो जाता है वे एक शारीरिक या मानसिक परिस्थिति का द्योतन करते हैं।

किन्तु संस्कृत में जिस प्रकार अकर्मक क्रियाएँ हैं (पूयति धुप्यति) उसी प्रकार कर्तृवाच्य क्रियाएँ भी (इष्यति)। साथ ही उनमें अन्य कारणों से कुछ वर्तमान० है जो सामान्य अतीत की भाँति आती है मुह्यति मुहत् गृध्यति अगृधत् आदि और उनमें केवल स्वराघात द्वारा अन्तर उपस्थित होता है जो संस्कृत के लिये उचित है तो भी सामान्य रूप मुच्यते के निकट मुच्यते मिलता है।

धातु सामान्यतः शून्य श्रेणी में है इस दृष्टि से संस्कृत अवेस्ती की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है अवेस्ती म स्त्रोस्यइति स्वीकृत है (तुल० स० क्रोशति)। जब मूल स्वर अ है तो यह अ सुरक्षित रखा गया है ताकि धातु को अभिव्यक्करव प्राप्त हो सके (पश्यति अस्यति वह्यति ह्यति किन्तु म्रियते)। वायति जैसी दीर्घ स्वर वाली क्रियाओं की गणना करना भी आवश्यक है और सामान्य अतीत के एक हृस्व रूप पर आधारित गृभायति प्रकार की भी (कुल मिला कर ३०)।

तो एक ऐसे वर्ग से काम पड़ता है जिसका अर्थ स्पष्टतः निश्चित नहीं है जिसमें पर-प्रत्यय अपने आप यान्त्रिक ढंग से आ जाता है और जो सजीवता का चिन्ह है शुरू से ही उसमें कुछ क्रियाएँ हैं जिना गणना के ८० कर्मवाच्य (अवेस्ता में कुल १००)।

उसमें कुछ नामधातु क्रियाएँ जोड़ लेना भी आवश्यक है जो स्वयं संस्कृत के मध्य निर्मित हुई प्रतीत होती हैं पर प्रत्यय -य सहित स्वराघात कभी-कभी प्रेरणार्थक की भाँति मूल पर रहता है मिथस्-यति (अ बर्ऐम्यति) तुल अधिकरणयुक्त मिथस्ति व ससवार्थसूचक विशेषामि और ऋ० अभिष्यक् अपस्यति वृषण्यति और वृषायति कवीयति जनीयति पृतनायति। जब संज्ञा विकरणयुक्त होती है तो स्वर का प्रायः दीर्घीकरण हो जाता है अमित्रयति देवयति मृगयते ऋतयति किन्तु ऋतायति अथर्व० अभिमायति यज्ञायति। क्या पृथक्त्व की दृष्टि से इस दीर्घीकरण (ऋग्वेद में पूर्ववर्ती स्वर लगभग सर्वत्र हृस्व होता है) का कोई क्यात्मक कारण है ? हर हालत में विभिन्न समुदाय यह प्रदर्शित करते हैं कि अपनी सजीवता के कारण इस रूप ने सादृश्यमूलक विस्तार स्वीकार किये हैं अध्वरीयति पृत्नीयति जो अध्वर पृत्न से हैं मत्सस्यति मध से मामकस्यति मानव से रथर्यति रथ से। वास्तव में इन नामधातुओं का विकास संस्कृत की अपनी विशेषता है (अवेस्ता के २० के मुकाबले १०) वेद में उनका बहुत बार प्रयोग हुआ है केवल एक बार आने वालों की संख्या सर्वत्र उदारतापूर्वक की गयी रचनाओं की प्रतीक है।

पर-प्रत्यय -अय :

रूप द्वारा पिछले पर-प्रत्ययों के लगभग समीप पर-प्रत्यय-सहित निर्मित प्रेरणार्थक

और पुनरावृत्तिमूलक हैं अर्थात् *-एय (ग्री० फ़ोर्बेओ फ्रोरेओ सै० मोनेओ सोपिओ), सिद्धान्ततः पहले वालों में दीर्घ श्रेणी होती है दूसरों में शून्य श्रेणी द्योतयत रोचयत् वृतयन्त दयमत और समान परिवर्तन क्रम द्वारा पातयति पतयति। (स्वापयति के सोपिओ का साम्य भी देखने योग्य है)। ऋग्वेद में तो १०० प्रेरणार्थक ५० पुनरावृत्तिमूलक हैं ही (अवेस्ता में सब ८ के लगभग)। दीर्घ -आ युक्त धातुओं के व्याप्ति-युक्त -प् जो विशुद्ध संस्कृत का है का उल्लेख करना आवश्यक है स्वापयति स्नापयति (स्नाति) इस रचना को जिसका मूल अज्ञात है (तुल० वाट्मेस 'इंडियन सिबिलिस्क्स' II पृ० २४ बी० कोप 'ले फ़ार्मेशियां ... आँ पृ इ संस्कृत' पृ० ६७) काफ़ी सफलता प्राप्त हुई।

इच्छार्थक (सन्नन्त) और भविष्य०

ये दो रचनाएँ विकरणयुक्त ही हैं जो भारोपीय मूल द्वारा बद्ध हैं किन्तु संस्कृत के इतिहास में विभिन्न और असमान रूप में आती हैं।

भारोपीय *-से-/-सो का इच्छार्थक मूल्य कुछ शब्दों में प्रतिबिम्बित होता ही है अपूसन्त जो आर्पोति से भिन्न है, तुल० ईप्सति ओपमाव., तुल० भृणोति हासते का मध्य० प्रयाग भी देखा जाता है, तुल० जहाति या मोसाते तुल० मुर्गति और मुज्यति। पर प्रत्यय ने उसके वास्तविक मूल्य को केवल द्वित्व वाले रूपों में सुरक्षित रखा है जो वेद में भारतीय ईरानी से आये हैं जिगीषति (और जिज्यासति) अ० संख्यार्थ सूचक जिर्जिधिइति इयक्ष्य घुमूषमाण अ० सुलुषिअन्गो पिपक्षति सक से तुल० अ० असिक्ष्यों। वेद में वे लगभग ६० हैं (अवेस्ता में लगभग एक दर्जन हैं) इसके अतिरिक्त सादृश्यमूलक रचनाएँ जैसे ऋ० तितिक्षामि जो तितसते के निकट है पिपीषन्द् जो पिपासति के समीप है अथर्व० पिपतिषति (*पित्स् पत् से बहुत दूर नहीं था जैसे पिप्स् व० दिक्षे दम् से) की रचना इस रूप की सजीवता की परिचायक है।

भारतीय ईरानी में इच्छार्थक पर प्रत्यय के जिस रूप ने अधिक विस्तार प्राप्त किया है वह -स्य है जिससे भविष्य० बनाने का काम लिया गया है। यह ग्रीक और इटैलो-केल्टिक में *-सि लिथुआनियन में -सी वाला रूप है। किन्तु भारतीय-ईरानी रचना स्वतंत्र है इटैलो-केल्टिक में संख्यार्थसूचक का चिह्न सुरक्षित है जो अन्तवर्ती है, और केल्टिक में द्वित्व वाले रूप का प्रयोग होता है जो संस्कृत इच्छार्थक वर्तमान के पूर्णतः समान है अन्त में लिथुआनियन के विस्तार में भेद मिलते हैं।

एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट रूप से सामने आती है वह यह है कि ऋग्वेद में इस रूप की मरतता की दृष्टि से वैदिक भाषा भारतीय ईरानी के कितने निकट है ऋग्वेद में

भविष्य० के केवल १५ विकरण मिलते हैं अथर्ववेद में बीस से अधिक नये मिलते हैं, काफ़ी हैं साथ ही यदि इस बात को भी ध्यान में रखा जाय कि ऋचा के विषय का संबंध भविष्य से बहुत कम होता है। इनमें से जिनका संबंध प्राचीन ईरानी से है, गाथा में वे दो हैं, इधर के अवेस्ता में सात। पुनोगमन केवल तीन हो जाता है ऋ० में संघयार्थ सूचक करिष्या( ) मिलता ही है और एक उदाहरण अतीत काल का जिससे वर्तमान सम्भाव्य की रचना होती है अभरिष्यत्।

स-अविष्यत्-युक्त सामान्य अतीत

ऊपर संकेतित रचनाओं में सामान्य अतीत वर्तमान के बल पर अपने प्रत्ययों द्वारा न कि अपने विकरण द्वारा अपने को निश्चित कर लेता है तो भी भारोपीय में सामान्य अतीत में व्याप्ति-युक्त -स् और -इष् का प्रयोग हुआ है किन्तु ऐसे रूपों की संख्या बहुत कम है जिनके कई भाषाओं में साम्य है -स् युक्त सामान्य अतीत के लिये सं० अदिक्षि का साम्य अ० दाइस् से ग्री० ऐडेक्सा लै० डीक्सी से है सं० २ एक० अवाद् संघयार्थसूचक वक्षत् (इ) का साम्य अ०-वर्ज़्- लै० उएक्सी से है अस्तु, यदि संस्कृत अस्पिपि और अ० संघयार्थ० स्तैबहूत् एक ही सिद्धान्त का अनुसरण कर बने हैं, तो केवल इतना निश्चित हो जाता है कि रूप भारतीय ईरानी है। इसी प्रकार संघयार्थ० में और कुछ प्रत्ययों से पूर्व -इष् का प्रयोग संस्कृत लैटिन और हित्ती में सादृश्यमूलक है (मेइए, बी० एस० एल० XXXIV पृ० १२७) किन्तु ये प्रकार फिर नहीं मिलते।

विभिन्न भाषाओं में प्रयोग-साम्य ध्यान आकृष्ट करने वाला है किन्तु उनमें से प्रत्येक की रचनाओं की इधर की विशेषता को विभिन्न प्रकार से प्रमाणित किया जा चुका है। ऋग्वेद के समय से ही संस्कृत में उनका आना केवल अत्यन्त अभिव्यंजकतापूर्ण है उसमें वे कम-से-कम उतने ही हैं जितने मूल सामान्य अतीत (-स् सामान्य अतीत ६० इष् युक्त ७० धातुओं के लिये अविकरणयुक्त मूल सामान्य अतीत ८८ विकरण युक्त १८ धातुओं के लिये) अवेस्ता में -स् युक्त सामान्य अतीत केवल लगभग ४० हैं, -इष् युक्त तीन। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में -सिष् युक्त या रूप मिलते हैं अयासिषम् गासिषति और -स युक्त सामान्य अतीत आठ।

पूर्ण

पूर्ण की एक अलग ही केवल प्राचीन प्रणाली है, जिसमें विशेष और जैसा कि देखा जा चुका है "कर्तृवाच्य" रूप वाले प्राचीन अप्रचलित प्रत्ययों की खास बात है १ और ३ एक० -अ (क्रमशः भारोपीय -अ और -ए ग्री० ओइडा तथा ओइडे), २ बहु०

-म मध्यम प्रत्यय स्वरों के इस साम्य में परिवर्तन क्रम को पूरा महत्त्व प्राप्त होता है एक० १ चकर, ३ चकार (भारोपीय मूल का परिवर्तन-क्रम कुरीलोविच 'अिम्योफोनी इंडो० रोमानकोस्की' पृ० १०१ किंतु यहाँ व्यंजन से पूर्व स्वगत १ और ३ विशेष उपमितियों तथा उनसे आगे प्रथम पुरुष के अनुकरण पर उत्तम पुरुष का वैकल्पिक सामान्यीकरण) बहु० २ चक।

एकवचन के प्रथम पुरुष में पपौ (और संभवतः जहौ) के निकट कुछ -आ युक्त धातुएँ जिनमें अस्थ स्वर स्वर-संधि के कारण है पपौ प्रकार में जो भारोपीय के संबंध में कहे गये के अनुसार है रूप को विशेषता-संपन्न बनाने का काम था (इन धातुओं में उत्तम पुरुष के वैदिक उदाहरण नहीं मिलते)।

पूर्ण० की एक अन्तिम विशेषता है प्रथम० बहु० -उ जो प्राचीन ० -ऋ से निकलता है वास्तु अ० चेकितुः का प्रत्यय।

मध्य० रचनाओं और क्रियार्थ भेदों द्वारा यह प्रणाली पूर्ण हो जाती है नवीनताएँ पुरानी ईरानी में ही बहुत कम हैं (आशार्थ में विशेषतः नहीं है) जिसमें सामान्यतः वैदिक की अपेक्षा पूर्ण० कम प्रचलित प्रतीत होता है ऋग्वेद के २४० के मुकाबले लगभग ५० भले ही धातुओं की दो-तिहाई संख्या का प्रयोग हुआ हो। रूपों का यह विकास अर्थ की दुर्बलता से साम्य रखता है अन्तिम रूप में वह एक नवीन अतीत काल के रूप में आता है जो क्रिया-रूप का निर्माण करते समय एक साथ अनुकरण की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है।

क्रियार्थ-भेद

ऊपर उल्लिखित विकरणों के सभी वर्ग निश्चयार्थ कहे जाने वाले जो तथ्यात्मकता प्रकट करते हैं रूपों की भाँति मिलते हैं। उनमें आज्ञार्थ और जोड़े जा सकते हैं जो एक निश्चित रूप प्रकट करते हैं और जिनके विकरण की कोई खास विशेषता नहीं होती। इसके विपरीत एक संभावना (रूप के विस्तार के लिये आगे देखिए) उन विषय पर प्रत्ययों के दो वर्गों द्वारा अभिव्यक्त की गयी है जो भारतीय-ईरानी में आये हैं

सत्यार्थसूचक में -अ (१ एक० भराणि जो 'भरा' की अपेक्षा अधिक आता है में एक भारतीय ईरानी निपात रहता है गाथा प्रायः उपयुक्त किन्तु उसका प्रयोग संस्कृत में बहुत अधिक है)

आदरार्थ (संभावक) में -या -ई अविकरणयुक्त क्रियाओं में रूप में -ए बराबर विकरणयुक्त स्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है

अयम्(१) स्याम् पशाति पठेत् (१ एक० भरेयम् जो अ० भरयम् से भिन्न

है, एक प्राचीन रूप हो सकता है तुल० ओइए. मुक्त पीक आदरार्थ जिसमें 'इ' पुनरावृत्ति प्रकट करती है)।

वेद में समयार्थ० आदरार्थ (संभावक) की अपेक्षा तिगुने या चौगुने बार आता है। किन्तु वास्तविक दुर्बलता के रूप में यह देखा जा सकता है कि गौण रूप क्रियार्थ भेद से संबंधित मूल्य वाले आदेशार्थ को प्राय: छिन्न-युक्त कर देते हैं, तथा गौण रूपों का आदरार्थ की अपेक्षा निश्चयार्थ से भेद अधिक अस्पष्ट है। दूसरी ओर मध्य० स भविष्यत् संबंधी सामान्य अतीत (२ १ एक०) फिर अनु० मूल सामान्य अतीत (१ एक०) में विधेयात्मक कहे जाने वाले रूपों का संक्रमित कर आदरार्थ अपनी सजीवता का परिचय देता ही है (दे० एम्० एस० एल० XXIII, पृ० १२०)।

रूपों का प्रयोग

वाच्य

मध्य प्रत्यय कर्त्ता द्वारा किया गया कर्म प्रकट करते हैं पैम मारोमैम में। उनसे ऐसी क्रियाओं का अस्तित्व प्राप्त होता है जिनमें केवल मध्य वाच्य होता है जैसे आस्त पी० ऐस्ताइ, २ एक० धेसे तुल० ग्री० केइटाइ मरत लै० मोरिअर। और जिन क्रियाओं में कर्तृवाच्य होता है मध्य का विशेष मूल्य साम्य रखता है जिघीते बजम् उपो नयस्व वृषणा। उसके विविध भेद उत्पन्न होते हैं दोग्धि का अर्थ होता है 'वह गाय का दूध निकालता है' (गां गामम् विदोग्धयाम्) दुहे का है "स्त्री अपना दूध देती है"। दूसरी ओर मध्य कर्तृवाच्य से विरोध अन्य स्थलों पर मिलता है जहाँ कर्तृवाच्य मध्य छिन्नक धातु-सबकी की भाँति प्रतीत होता है वर्धति अथवा वर्धयति वर्धते। उससे मूल क्रियाओं के मध्य का प्राचीन काल में कर्मवाच्य की भाँति अधिक प्रयोग मिलता है सतमे। किन्तु ऋग्वेद में तो वैसे ही कर्मवाच्य को प्रकट करने के लिये -य युक्त अनुतान विकरणों के मध्य का काफी प्रयोग होता है ह्न्यते का उदाहरणार्थ स्पष्ट विरोध हन्ति से है, सृज्यते का सृजति स दुह्यते का दुहे से।

इन विरोधों से यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक नहीं है कि वेद में एक मध्य क्रिया रूप हो जिसमें एक उपलब्ध विकरण के लिये प्रत्ययों के समुदाय कर्तृवाच्य के समुदायों से विरोध करें उदाहरणार्थ विमत है जो हन्ति में मध्य का काम देता है। दोनों प्रकार के विकरण अपने को पूर्ण बनाते हैं, न कि साम्य रखते हैं मध्य कर्मभाव के सामान्य अतीत भविष्य और अनु० पूर्ण० का साम्य हो सकता है अभिजत अमाद् भ्रियन्ते भरिष्यति ममार। इसी प्रकार प्रत्ययों के लिए है आज्ञार्थ में तपस्व तपन्तु

के विपरीत है कर्तृवाच्य तपति की भाँति भजस्व का अर्थ भजति की भाँति होना चाहिए, न कि भजते की भाँति। सामान्यतः गौण वर्ग में मध्य प्रत्यय अधिक पसन्द किये गये हैं शोचति शोचन्त शुशुचीत शोशुचन्त अजीजि मर्जयति मर्जयन्त, वायते के विपरीत अनिष्ट का भिन्न अर्थ है। पूर्ण॰ में प्रथम॰ बहु॰ वावृधु की रचना वावृधे की भाँति होती है विपर्यस्त रूप में गौण असपत् वेंते जो प्राचीन है के निकट है।

यहाँ तुरंत इस बात की ओर संकेत कर देना चाहिए कि कृदन्त स्वच्छंद रूप में मध्य है ददान- अ॰ दध्धान- ददाति का कृदन्त है यजमान का अर्थ यज्ञ कराने वाला साथ ही विश्वासी भी है।

इन समस्त प्रयोगों की दृष्टि से वैदिक भाषा भारोपीय और भारतीय-ईरानी से साम्य रखती है। यह कम सच नहीं है कि मध्य की प्रवृत्ति कर्तृवाच्य के विरोध के लिये अपना विस्तार करने की ओर है उसका सबसे अधिक स्पष्ट प्रमाण पूर्ण॰ और असम्पन्न भूत के विविध प्रत्ययों की उत्पत्ति में है।

मूल और गौण प्रत्यय

जिन क्रियाओं में पूर्ण से बाहर के दो विकरण हैं उनमें वर्तमान और सामान्य अतीत का विरोध सिद्धान्ततः प्रत्ययों के प्रयोग द्वारा व्यक्त होता है। निश्चयार्थ में अकेले वर्तमान में प्राथमिक के साथ-ही-साथ गौण प्रत्यय मिलते हैं। रूपों का यह विभाजन अर्थ के विभाजन से साम्य रखता है वर्तमान प्रस्तुत क्षण में होने वाले कार्य का वर्णन करता है अथवा समयातीत कार्य का उसका अतीत काल अपूर्ण अतीत से संबंध रखता है सामान्य अतीत वर्णन करने का समय नहीं है किन्तु प्रमाण प्रस्तुत करने के समय का है और अतीत की बात को केवल उल्लिखित विषय से संबंधित हाल के अतीत की ओर संकेत करता है।

फलतः गौण प्रत्यय वाला रूप अपूर्ण या सामान्य अतीत से मुक्त हो जाता है जिसके बाद वह प्राथमिक रूप का विरोध करता भी है नहीं भी करता अयजत् जो भजति के समीप है अपूर्ण है अग्रभम् और अगृभम् जो गृभ्णामि अगृभ्णात् के अतिरिक्त अन्य विकरणों के आधार पर निर्मित सामान्य अतीत के हैं गमन्ति संभवार्थसूचक सामान्य अतीत है जिसका गच्छाम् वर्तमान है। क्योंकि सभी संभव रूप कभी नहीं मिल पाते वे स्वभावानुकूल समुदायों में मिलते हैं अतएव वर्तमान रूपों से भिन्न मूल सामान्य अतीत अविद् विभेति अगन् गच्छति असरत् सिसरति गुण वाले वर्तमान से भिन्न विकरणयुक्त सामान्य अतीत अवृधत् वर्धते अरुहत् (और अरुक्षत्) रोहति।

किन्तु इस सिद्धान्त का आदर्श रूप केवल सांख्यिक प्रमाणों में ही मिलता है प्रयोग से प्रकट होता है कि समस्ति समनुवर्तित के बावजूद (तुल० म० दृषंद्वर्धनमोता) दमति तुल० म० दम का संबंध वर्तमान से अधिक है विभर्ति और भरति के समीप वर्तमान भाँति प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा एक प्रयोग है तुल० फेरो फर्द वे० मेइए, बी० एस० एल० XXXII, पृ० १९७। इसी प्रकार वार्धे वा २७ १ वर्धरीति (म० द्वारा दर्दृर्धवृर्धा रूप में) सामान्य अतीत की अपेक्षा अपूर्ण अभिन्न है।

इसके अतिरिक्त स्वयं वर्तमान में गौण प्रत्ययों वाले रूप में जब कि वह आगम द्वारा उपलब्ध नहीं होता सदैव अतीत काल का अर्थ नहीं निकलता ऋ० ७ १२ २१ में उदाहरणार्थ एक ही प्रयोग में वर्तमान और गौण रूप पास-पास मिलते हैं

न दुष्टुतीं मर्त्यो विन्दते वसु
न स्रेधन्तम् रयिर् नशत्

इन गौण वर्तमान रूपों को अथवा मूल सामान्य अतीत को आदेशार्थ नाम दिया जाता है जिनमें अतीत काल के भाव के निकट वर्तमान निदर्शनार्थ का भाव निहित है (ऐसे १/३ ८०० के लगभग उदाहरण ऋग्वेद में हैं) वे निपात हि नकारात्मक न को ग्रहण कर सकते हैं दूसरी ओर उनमें अनिश्चित क्रियार्थ भेद का भाव भी हो सकता है आज्ञार्थ का भाव भी रह सकता है (निषेधात्मक नकारात्मक मा इस रूप का अकेला एक सही प्रयोग है जो संस्कृत में सुरक्षित रहा है) सामान्यतः अर्थ संदर्भ पर निर्भर रहता है। ये बातें जो अवेस्ता द्वारा प्रमाणित हैं, एक प्राचीन स्थिति की अवशिष्ट मात्र हैं जब कि अर्थ और रूप का भेद अभी निश्चित नहीं हुआ था।

दूसरी ओर संशयार्थसूचक आज्ञासूचक और विवेचनसूचक क्रियार्थ भेद में प्राथमिक और गौण प्रत्यय स्वीकृत होते हैं, यह आज्ञार्थ के विपरीत है, जिसमें केवल गौण प्रत्यय रहते हैं यही बात अवेस्ता में है। ऐसा प्रतीत होता है कि अवेस्ता में मूल प्रत्ययों का कर्तृवाच्य वाला साधारण भविष्यत् के भाव से साम्य है (अथवा वर्तमान के अंतर्गत वाक्यांशों पर निर्भर संबंध० में वर्तमान के भाव से) गौणों का अनिश्चितता या इच्छा के भाव से। संस्कृत में इसी प्रवृत्ति की झलक मिलती है किन्तु अर्थ कम प्रधान रहता है वर्तमान और विकरणयुक्त सामान्य अतीत से ति बहुत अधिक मिलता है (-अ के बल पर वर्तमान -असि की भाँति और -आ के बल पर -आनि संशयार्थसूचक की भाँति) तथा इसके अतिरिक्त उसकी सामान्य गति दृष्टिगोचर होती है। फलतः चीजें इस प्रकार सामने आती हैं मानों संशयार्थसूचक आदेशार्थ था—वस्तु, दुर्बल प्रत्ययीकरण वाला एक अनिश्चित भाव वाला वर्तमान—जिसमें निर्धारित मूल

स्वर-प्रकृति वाले तथा पर प्रत्यय -अ की विभिन्न विशेषता-युक्त कर्तृवाच्य और मध्य दो प्रकार के प्रत्ययों की संभावना रहती है उसी के फलस्वरूप उसकी विकरणयुक्त वर्तमान के साथ गड़बड़ हो जाती है, और वास्तव में यदि पूर्ण वर्ग के नहीं तो उनमें से अनेक (करति अगमत् प्रकार) के मूल में यही बात रही है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हित्ती में संभवार्थसूचक और विकरणयुक्त वर्तमान बराबर नहीं है, और स्लाव तथा जर्मनिक में वर्तमान (स्लाव में पूर्ण पूर्णकारी) भविष्य का बोध कराता है और कोई संभवार्थसूचक तुलनीय नहीं है लै० एरिट, फरेट से अथवा ग्री० ऐवोमाइ बोध कराने के लिये नहीं है (मेइए, 'बार एँ स्लाव् XII पृ० १५७)।

अस्तु, दो रीतियों में अति प्राचीन पाठों में मुख्य अनिश्चित भाव के प्रति वर्तमान की झलक मिलती है यह भाव क्लैसीकल भाषा में बना रहता है और आधुनिक वर्तमान तक चला आता है।

पूर्ण

सिद्धान्ततः पूर्ण का वर्तमान (अपने 'अपूर्ण' कहे जाने वाले अतीत काल सहित और भविष्यत् सहित जहाँ वह जितने भाषा में हो) और सामान्य अतीत से विरोध है यह विरोध विकरण की स्वतंत्र रचना द्वारा (अस्ति आस अस्यति आंस कृणोति चकार, भिनत्ति बिभेद गच्छति जगाम आह आंशु अश्म है) उनके विशेष प्रत्ययों द्वारा (जिनमें सिद्धान्ततः वाच्य संभावित नहीं है ममले जुपष्यम् बिभाय चुचोप) तथा उसके प्रयोग द्वारा होता है क्योंकि पूर्ण प्रथमतः प्राप्त स्थिति अथवा वास्तविक फल का बोध कराता है किन्तु विवरण या प्रभाव नहीं।

वास्तव में यह परिभाषा अपवाद-स्वरूप हो गये प्राचीन अप्रचलित प्रयोगों पर आधारित है और जिसकी प्राचीनता अन्य भाषाओं के साथ तुलना म उभर आती है फल को प्रकट करते हुए, पूर्ण म उसी से पूव की घटनाओ की याद दिलायी वास्तव में ऋग्वेद में पूर्ण का सामान्य प्रयोग अतीत काल का प्रयोग है जो उत्तम पुरुष में वैसे ही बहुत कम मिलता था तत्पश्चात् व्यक्तिगत अनुभव का बोध विशेषतः सामान्य अतीत द्वारा हुआ और जो दूसरी ओर अपूर्ण स भेद केवल एक अधिक गंभीर सूक्ष्म भेद द्वारा स्थापित करता है।

तब से पूर्ण अनेक रूपो में वर्तमान से भिन्न रूप में भिन्न भिन्न होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। वह अपने वर्तमान के वास्तविक अर्थ से पृथक होते समय एसा करता है। कुछ अपूर्ण और द्वित्व-युक्त सामान्य अतीत पूर्व से कुछ अतीत काल की भाँति प्रकट होते हैं किन्तु भेद-रूप जो संख्या में कम हैं द्वित्व युक्त वर्तमान के या अनिश्चयार्थ

(मुचत्) के क्रियार्थ भेद-रूप के साथ जुड़ जाते हैं। अपभ्रंश रूप में विभाग के आधार पर अविभेत् (और कृदन्त विभ्यत्) बनता है जिससे वर्तमान विर्मेति निकलता है भँग से भनेदम् भाकन से २ ३ एक० भाकम् जागार से २ एक० अजागः (और कृदन्त जाग्रत्) जिससे फिर बहुत बाद को जागति जागर्ति।

किन्तु ये नवीन रचनाएँ, किसी अन्य रूप में अतीत कालों की रचना और साथ ही मध्य प्रत्ययों के जो शुरू से ही बहुत मिलते हैं ग्रहण करने की भाँति युग की मौलिकता मिटा डालती है वास्तव में यह देखा जाता है कि यह वैदिक भाषा में भी अपने मुख्य के एक अंश की रक्षा करते हुए, केवल अलौकीकृत संस्कृत में एक उदात्त रूप की भाँति व्यक्त होता है प्राचीनतम मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के समय से यह प्रणाली निष्प्राण हो जाती है जिससे केवल एक या दो चिन्ह शेष रह जाते हैं।

वस्तु वैदिक क्रिया में विभिन्न युगों के अंश विद्यमान मिलते हैं इसके अतिरिक्त उसमें रूप एक क्रम में नहीं हैं केवल धातु है न कि उसकी रूप रचना जिससे उपलब्ध क्रिया की एकता स्थापित होती है और धातु के अर्थ पर एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से रूप भावों का चुना जाना निर्भर रहता है, तत्पश्चात् धातु द्वारा स्वयं अपने से वाचित एक निरंतर या निर्दिष्ट कार्य का। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वैदिक क्रिया जितनी व्याकरण के लिये सामग्री प्रस्तुत करती है उतनी ही कोश के लिये।

क्रिया का परवर्ती इतिहास उसकी दरिद्रता का अथवा एक प्रकार से भार-मुक्ति का और रूपों के समानान्तर ह्रास की प्रवृत्ति का क्रमशः क्रिया-रूप की स्थापना का इतिहास है।

संस्कृत में परवर्ती विकास

परिस्थिति तो अथर्ववेद में ही बदल जाती है। १ एक० संशयार्थ -आ का प्रत्यय निश्चित रूप से नहीं रह जाता और उसके स्थान पर -आनि का प्रयोग होने लगता है निश्चयार्थ १ बहु० -मसि -म के सामने जिस पर वह ऋग्वेद में बहुत दिनों तक छायी रहा पिछड़ जाता है। विपर्यस्त रूप में मध्य संशयार्थसूचक पूर्ण हो जाता है -ऐ जिसका ऋ में केवल एक उदाहरण मिलता है और -सै तो उसमें है ही नहीं सामान्य हो जाते हैं। दूसरी ओर भविष्यत् का विस्तार हो जाता है।

आदेशार्थ रूपों में दस में से नौ का क्रियार्थ भेद-संबंधी भाव है, जो ऋग्वेद में पाये भी नहीं हैं और भकारात्मक मा रूपों के एक-तिहाई के साथ पड़ने के स्थान पर, ४।५ के साथ पड़ता है यहाँ तक कहना पड़ता है, यदि कोई यह सोचे कि अथर्ववेद में बहुत-से अंश ऋग्वेद के हैं तो क्रियार्थ-भेद-हीन आदेशार्थ लुप्त हुआ मिलता है।

पूर्ण बहुत कम मिलता है और गद्यात्मक भागों में तो बिल्कुल नहीं है सामान्य अतीव विरल हो जाता है स-भविष्यत्-संबंधी सामान्य अतीत में अपूर्ण के प्रत्यय आ जाते हैं (एक० २ अदास्यसी राय् से अभायुसी वसु स मैयी भी से १ अनैषीत् निम् से)। यह वास्तव में वह अपूर्ण है जो भूतकाल की भाँति विकसित होता है साथ ही रहस्यवादी ऋचाओं में विकसित होता है तथा दूसरी ओर अपना विस्तार करते समय नाममात्र दीसी -उ- युक्त क्रियामूलक के अनुकूल पड़ती है।

अन्त में कुछ नवीन रूप प्रकट हो जाते हैं, जैसे करोति जिसमें प्राचीन आदेशार्थ करति और कृणोति निहित हैं और एक वर्ग प्रकट हो जाता है प्रेरणार्थक का यौगिक पूर्ण गमयाम् चकार।

ब्राह्मण ग्रन्थों में रूप-रचना को सरल बनाने की ओर गति और भी तीव्र हो जाती है। ऐतरेय में पुरुषवाचक रूपों में आधे से अधिक वर्तमान निश्चयार्थ से प्राप्त होते हैं भविष्यत् का विस्तार होता ही जाता है और वह अस्थायी निर्धारण के समीप प्रयुक्त एक यौगिक रूप से बल प्राप्त करता है शतपथ ब्रा स्वर्गं हर्तृ भवितौ।

वर्तमानकालिक विकरणों में से -य ही एक उत्पादन-शक्ति-संपन्न है अथर्ववेद के समय से इच्छार्थक भी बराबर गति को प्राप्त होते हैं इसके विपरीत यङ्लुगन्त रूप कम होते जाते हैं और मध्य तक सीमित रह जाते हैं अभिव्यञ्जक रूप में और उस रूप

में जिसका मुख्य अपने को कृत्रिम व्याकरणीय कार्य में परिणत कर देता है अन्तर देखा जा सकता है।

भूतकाल में से अपूर्ण निश्चित रूप से प्रमुखता धारण कर लेता है सामान्य अतीत साक्षात् उक्ति तक सीमित रह जाता है जहाँ तक पूर्ण से संबंध है, जिसका प्राचीनतम ब्राह्मण-ग्रन्थों में कम प्रयोग हुआ था ऐतरेय के दो भागों में और शतपथ में उसका फिर से प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने लगता है और वह परवर्ती साहित्य में बना रहता है किन्तु अधिक प्राचीन पाठों से संबंधित प्रमाण और उनका अर्थ-विचार-संबंधी अभाव (वह अपूर्ण के अर्थ से अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता) यही प्रकट करता है कि वह केवल साहित्यिक प्रयोग के रूप में ही अधिक रह गया था।

इनके अतिरिक्त वर्तमान में स्वयं अतीत को प्रकट करने की संभावना पायी जाती है इस शर्त पर कि उसके साथ कुछ ऐसे निपात सम्बद्ध हों जिनमें अपने में कोई अस्थायी अर्थ न हो अर्थात् ह, स्म इसके अतिरिक्त वेद में अतीत के अर्थ में स्म पुरा का प्रयोग हुआ है।

क्रियार्थ भविष्य-संबंधी अभिव्यंजना सामान्य अतीत में लगभग और पूर्ण में बिल्कुल नहीं है वर्तमान में संभावनार्थमूलक बहुत कम मिलता है किन्तु संभावक की स्पष्ट प्रगति होती है उदाहरणार्थ यदि यन्न यदा और यदि (जिसका वेद में अभाव मिलता है) द्वारा युक्त हुए वाक्यांशों में ऐसा मिलता है। अतीत के अर्थ में सामान्य का विकास होता है।

भव्य का सामान्य प्रयोग होने लगता है। इससे भाव उससे केवल कर्ता से संबंधित कार्य प्रकट होता है। उसके कारण अर्थ-संबंधी विभाजन फिर सामने आता है नमति नमते मुनक्ति मुङ्क्ते भुनक्ति भुङ्क्ते हुआ जो वेद में सामान्यतः मध्य में प्रयुक्त हुआ है इस वाक्य में केवल यह निश्चित करने में जिसे अधिक बाधा है कि ध्वनि कर्ता के लिए और उसकी तरफ है। पाणिनि ने यजति या यजि का काम प्रकट करता है में और यजते जिसका प्रयोग उसके लिए होता है जो यजि करता है में भेद किया है। मध्य स्वयं (सर्वप्रथम उदाहरण अथर्ववेद में मिलते हैं) स्वेच्छा से प्रतिबिंबित भाव धारण करता है।

प्रभावपूर्ण और सामान्य होने के साथ ही क्रियामूलक नाम संज्ञाओं से बराबर अधिक स्वतंत्र हो गया प्रतीत होता है नामधातु संख्या में कम हो जाते हैं। बाद में उनका अत्यधिक विस्तार हो जाता है, किन्तु उस समय जब कि संस्कृत मृत भाषा हो चुकी है और जब कि धातुओं पर आधारित क्रियामूलक रूपों की रचना अनन्त हो जाती है।

महाकाव्यों के बाद क्रिया और भी क्षीण हो जाती है, इस बार रूपों के वास्तविक ह्रास द्वारा और उनके प्रयोग की अस्पष्टता द्वारा।

मध्य में विकरणयुक्त रूप अधिक प्रमुख हो जाते हैं भविष्यत् के मध्य प्रत्यय कर्तृवाच्यों में अधिक पसन्द नहीं किये जाते। इसके अतिरिक्त नवीन क्रियाएँ अधिक सामान्य रूप म कर्तृवाच्य में हैं।

सामान्य रीति से मध्य विशेषत पद्य में मिलता है यह एक प्रमुख रूप है -स्व युक्त आत्मार्थ अतिरिक्त और परिष्कृत रुचि का है। इसके अतिरिक्त कुछ छंद-संबंधी बातें बीच मे आ जाती हैं महा० १ ७६ १४

रमते वानवास् तत्र, न स रमेत् यवात्मवान

किन्तु यह स्वयंसिद्ध है कि छंद-संबंधी विचार की प्रमुखता से व्याकरण-संबंधी दुर्बलता संकेतित होती है।

संशयार्थसूचक जो सूत्र-ग्रन्थों में बहुत कम मिलता है महाकाव्यों में मृत हो जाता है। उसमें केवल -आनि युक्त १ एक० का रूप बच रहता है जो आज्ञार्थ में मिल जाता है और आज्ञार्थ के कुछ स्फुट रूप बच रहते हैं जैसे ३ एक भुवातु और महावस्तु में भव्याति मध्यकालीन भारतीय भाषा में सारनाथ में अशोक० हुवाति यदि यह संशयार्थसूचक है तो निस्सन्देह अन्तिम है जो उद्धृत किया जा सकता है अथवा यह 'होना' क्रिया है।

आज्ञार्थ से अलग जो एक क्रियार्थ भेद बच रहता है वह आदरार्थ (संभावक) है। आशीर्वादात्मक जो उससे निकलता है अविकरणयुक्त आदरार्थ (संभावक) सामान्य अतीत के रूप के अन्तर्गत सामान्य रूप धारण कर लेता है (भूयात्, भूयासम् जो भवेत् से भिन्न है क्रियात् जो बिभृयात् से भिन्न है पचीष्ट जो पचेत से भिन्न है) उसका प्रार्थना वाला विशेष अर्थ लुप्त हो जाता है और वह किसी भी संभावक के तुल्य हो जाता है इसके अतिरिक्त आगे वह सर्वोत्तम साहित्य मे सुरक्षित रहेगा। इसके विप रीत संभावक बना रहता है और केवल बाद में प्रचलित गद्य (वेताल) में लुप्त हो जाता है उसके विविध अर्थ हो जाते हैं और अनुमान इच्छा कम संभावना भी व्यक्त होती है जिससे स्वयं उसका निश्चयार्थ के साथ परिवर्तन होने की संभावना हो जाती है। किन्तु महत्त्व की रक्षा करने में उसकी विविधता मिट जाती है यह केवल वर्तमान में मिलता है। जहाँ तक संभाव्य से संबंध है वह महाभारत के बाद बहुत कम मिलता है।

इसी प्रकार काल भी परिणत हो जाते हैं, यद्यपि क्लैसीकल संस्कृत में अब भी

वर्तमान (अपूर्ण और भविष्यत सहित) के निकट सामान्य अतीत और पूर्ण की प्रणाली प्राप्त की।

पूर्ण का समस्त विशेष मूल्य लुप्त हो जाता है और वैसा ही हो जाता है जैसा कोई अतीत काल हो केवल एक बात यह है कि व्याकरण के नियम के व्यवहार द्वारा जिसके अन्तर्गत सामान्य अतीत तक सीमित व्यक्तिगत अनुभव-संबंधी बातों से वह पृथक हो जाता है, टीकाकार उसका कथोपकथन में प्रयोग नहीं करते। वह एक ऐसा उदात्त रूप है जो केवल परंपरा द्वारा सुरक्षित रहता है। वह केवल कथावाच्य में अधिक जीवित रहता है और जितने रूप में वह उसमें विद्यमान रहता है, उतना ही -आं चकार युक्त यौगिक रूपों बाद को (पाणिनि ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया) बाद अन्ततः (महाकाव्यों से पृथक) वमूव की प्रगति में क्षीणता उसका अनुमान करती है मूल्य सहित सब्द तो जरा कम महत्वपूर्ण है।

इसी प्रकार सामान्य अतीत का प्राचीन मूल्य केवल कुछ ग्रन्थकारों में मिलता है ब्राह्मणों के मध्य में उसको निकट अतीत के स्वयं एक सूक्ष्म भेद की तरह बढ़ा दिया जाता है काव्य में वह कथोपकथन में प्रयुक्त होता है। किन्तु उनमें कुछ क्रमिक रूप हैं और साधारण सामान्य अतीत निर्वेध रहित अतीत व्यक्त करता है। इस शीर्षक का एक काफ़ी सम्पन्न वर्ग है कम-से-कम वह जिसका संबंध स-भविष्यत् रूपों से है (-इप् से अधिक -स् इसके विपरीत -सिप् शक्तिहीन है)। सूत्र-ग्रन्थों और महाकाव्यों में इन्हें ही विकासप्राप्त होता है जटिल अथवा जिनमें भ्रम की संभावना थी उन मूल सामान्य अतीत के रूपों के स्थान पर वर्तमान रूपों का प्रयोग करते हुए, उनकी बढ़ती हुई संख्या सामान्य अतीत और वर्तमान के निरन्तर विरोध का प्रतीक है वैयाकरणों ने -स् युक्त सामान्य अतीत को सामान्य अतीत का साधारण रूप माना है।

दूसरी ओर अपूर्ण व्याकरण के नियमों के रहते हुए भी महाकाव्यों तक में प्रचलित अतीत काल का काम देता है तत्पश्चात् उसका परिष्करण होता है, निस्संदेह ध्वनि संबंधी दृष्टि से सामान्य अतीत की अपेक्षा और शैलीगत मूल्य की दृष्टि से पूर्ण की अपेक्षा कम विशेषता लिये हुए।

भविष्यत् रूप जिसका विकास होता है के लिये वर्तमान है और इसके अतिरिक्त वर्तमान की उसके साथ प्रतिद्वन्द्विता रहती है पहले उस समय जब कि निकट भविष्य की तरह व्यवहृत होता है, तत्पश्चात् अन्य प्रयोगों में।

यह वर्तमानकालिक प्रणाली है जिसका प्रमुख क्रिया पर छाया रहता है और वह भी एक साथ रूपों और प्रयोगों द्वारा। अकेले वर्तमान में क्रियार्थ भेद मिलते हैं आज्ञार्थ और आदरार्थ (संभावक)। इसके अतिरिक्त व्युत्पन्न रूप भी वर्तमान से

संबंधित है, उसमें जैसा कि देखा जा चुका है, भविष्यत् और विशेषतः कर्मवाच्य, जो एक न्यूनतम रूप का विशेषीकरण है और जो बहुत व्यापकत्व ग्रहण कर लेता है, को उसके साथ जोड़ देना आवश्यक है। यह कर्तृवाच्य के सभी सकर्मक रूपों और साथ ही उनसे बाहर के रूपों (भास्यते प्रकार के अकर्तृक गम्यते और आज्ञार्थ गम्यताम्) के मुकाबले में उत्पन्न होता है। सामान्यतः क्रिया वर्तमान के अन्तर्गत रखी जाती है, व्याकरण संबंधी अध्ययन के इतिहास के प्रारंभ में धातु द्वारा विश्लेषण के युग से पूर्व क्रिया वर्तमान के प्रथम पुरुष एक॰ द्वारा द्योतित होती है, यास्क ने लिखा है कृण्वति-कर्मणा यवतिर् गतिकर्मा ... भाष्यते ह्रस्वो ह्रसते।

महाकाव्यों से अलग वर्तमान का एक नवीन प्रयोग होने लगता है और एक ओर वह हाल की बातों की अभिव्यक्ति, अथवा (वर्णन करते समय) स्वयं अतीत की अभिव्यक्ति करता है, दूसरी ओर भविष्यत् की, केवल उसी समय नहीं जब कि उसका संबंध निकट की घटनाओं से होता है, किन्तु सामान्यतः संबंधवाचक वाक्यांशों में, वह प्रश्न में उत्साहार्थ में संशयार्थ में अनिश्चितता और निषेधार्थ प्रकट करने के लिए आदरार्थ (सम्भावक) में आ सकता है, अन्त में वे क्रियार्थ भेद हैं जिनका 'यथा' और 'येन' के साथ अत्यधिक प्रचार होता है।

रूप की दृष्टि से भी वर्तमान क्रिया पर छाया हुआ मिलता है, सभी क्रियाएँ वर्तमान में आने की प्रवृत्ति प्रकट करती हैं, और ऐसा करने के लिये वे अन्य विकरणों से संबंध स्थापित करती हैं। प्राचीन काल में ही सामान्य अतीत के आधार पर अगमत्, करति और दुवति प्रकार की रचना हो गयी थी, वेद में ही पूर्व से बराबर बिभेति, जागर्ति प्राप्त होते हैं, महा॰ वचनन्ति अपना द्वित्व पूर्ण रूप से ग्रहण करता है, उपनिषदों में वेदते और बिदति का प्रयास किया गया मिलता है जिसे सफलता प्राप्त होती है। विपर्यस्त रूप में वर्तमान अन्य रूपों पर आधारित रहता है, जिससे महाकाव्यों में -सीदतु, संभु है, वह आज्ञार्थ पर छा जाता है जब कि -न और कभी-कभी -न-महे मौण प्रत्ययों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। संयोग से इनका कम प्रचार हुआ, किन्तु जो निस्सन्देह व्याकरण-संबंधी परंपरा से विहीन रहने के कारण अधिक फायदे में रहे होंगे।

किन्तु जब वह प्राथमिक स्थान ग्रहण करता है तो नियमबद्धता की दृष्टि से वर्तमान क्षीण हो जाता है।

वैदिक भाषा में वह विविध विकरणों के आधार पर निर्मित होता है। इनमें से अविकरणयुक्त का लुप्त होना प्रारंभ हो जाता है, मूल विकरण केवल परंपरा के कारण बने रहते हैं, अनिति के अनुकरण पर अनिमि अथवा कुम के अनुकरण पर कुमि, इसी प्रकार भूमि की भाँति कुछ आंशिक रूप में समानता रखने वाले सब रूप अस्थायी हैं

नये रूपों में से अधिकतर जिनकी उनके साथ प्रतिद्वन्द्विता है विकरणयुक्त हैं इस प्रकार महाभारत में है शास्ति से अपूर्ण पुं० अशासत आज्ञार्थ शासन्तु अपूर्ण अहनम् और अघन के आधार पर बनते हैं अहनत् और अघ्नम् उपनिषदों में स्तुते के लिये स्तुवत मिलता है, और प्राचीन रोदिति और ब्राह्मण-ग्रन्थों में रुदति के भिन्न सूत्रों में रोदति है। अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय वाली क्रियाओं में रुणद्धि तो वैदिक ही है उपनिषदों में मुञ्चति मुञ्जति जानति महाकाव्यों में गृह्णति अगृह्णन्त और मिलते हैं किन्तु इस अन्तिम क्रिया का अत्यन्त सामान्य रूप है ब्राह्मण० प्रेरणार्थक ग्रभयति भविष्यत् भन्त्स्यति महाकाव्य भविष्यत ग्रहिष्यति क्रियार्थक संज्ञा ग्रहितुम् और धन्तुम् बौद्ध भाषा में जिनति प्रीणति आदि और मिलते हैं। इसी प्रकार अतिशयार्थक में ब्राह्मण० लेलायति सूत्र० चासुजति, महाकाव्य० वाम्यमति चक्रमति तथा कुछ अन्य किन्तु अतिशयार्थक का पूरा वर्ग क्षीणावस्था में मिलता है।

विकरणयुक्त में -अ- -य- -अय- युक्त रचनाएँ निर्माण-शक्ति रखती हैं किन्तु प्रयोग की दृष्टि से उनमें गड़बड़ दिखायी देती है जैसे कारयति करोति के तुल्य है। जहाँ तक इच्छार्थक के वर्ग से संबंध है सूत्रों के बाद उनमें क्षीणता आ जाती है, उन्हीं में उसके अनियमित रूप ह्रास के चिन्ह प्रकट करते हैं जैसे इयत्-मेत सूत्र० इयसते वैदिक (छां०उ० का जिगप्-स्यामि शतपथ ब्राह्मण जिघत्सामि के स्थान पर है ही) वास्तव में यह अन्वय में अज्ञात इच्छति + क्रियार्थक संज्ञा समुदाय है जो प्राचीन इच्छार्थक का स्थान ग्रहण कर लेता है (इसी प्रकार पाली में गन्तुं सोतु इच्छामि आदि)।

इस प्रकार क्रिया सामान्यतः वर्तमान को मज़बूती से पकड़े हुए है जो स्वयं रूपों की विविधता को देखता है, वह चाहे विकरणों से संबंधित हो, चाहे क्रियार्थ भेदों से। इसी प्रकार भविष्यत् का क्रिया-रूप वर्तमान काल की भाँति होता है इससे प्राचीन व्यक्ति वाचक रूपों के निकट एक भिन्न योग प्रकट हो जाता है इत्वासिम प्रकार का किन्तु न तो रूप की दृष्टि से और न प्रयोग की दृष्टि से ही यह प्रकार सामान्य प्रयोग बन जाने के लिये काफ़ी दृढ़तापूर्वक अपने को मज़बूत कर पाता है। जहाँ तक अतीत काल जिसकी प्रतिद्वन्द्विता उसके प्रचुर प्रयोग के रहने पर भी उसकी दुर्बलता को दिखाती है से संबंध है, यह अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होता जाता है चाहे एसा स्वयं रूप सहित वर्तमान द्वारा हो जो इसी बीच में इस निपात से अलग हो जाता है, चाहे -त युक्त क्रिया मूलक विशेषणों द्वारा हो जिनके साथ कभी-कभी क्रिया 'होना' अथवा उत्तम और मध्यम पुरुषों में पुरुषवाचक सर्वनाम रहता है कृदन्त कर्त्ता से साम्य रखता है जब उससे व्यक्त होता है तो कायदे से कर्त्ता करण द्वारा प्रकट किया जाता है क्योंकि कृदन्त तो नपुं० होता है। -तवन्त् युक्त कृदन्त का क्रियामूलक प्रयोग अधिक संयमित है। उसमें

एक नवीन चिह्न के अंश मिलते हैं जो बाद में भविष्यत् की भाँति -य- और -तव्य-युक्त कर्मवाच्यसूचक विशेषण के प्रयोग की वृद्धि से आवर्त का काम देता है।

निष्कर्ष स्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि हमें एक ऐसी प्रणाली मिलती है जिसमें वर्तमान अतीत काल का विरोध स्पष्ट दिखायी पड़ता है इससे परवर्ती स्थिति की पीठिका तैयार होती है जिसमें अतीत काल का स्थान ग्रहण करने वाले कृदन्तों का विरोध वर्तमान द्वारा होता है।

अन्य समुदाय भी है प्रेरणार्थकों का वर्ग व्युत्पन्न वर्तमान में से ये ही अकेले हैं जो बच रहते हैं प्राचीन काल से द्वित्व-युक्त सामान्य अतीत अतीत काल में परिगणित किया जाता है। अन्त में -त युक्त मध्य सामान्य अतीत की -यते युक्त वर्तमान के साथ निकटता से कर्मवाच्य के निर्माण का पुनरुत्व प्राप्त होता है, कर्मवाच्य जो वास्तव में -त युक्त क्रियामूलक द्वारा तथा -तव्य -य- युक्त क्रियामूलक विशेष्य द्वारा पूर्ण होता है किन्तु क्योंकि यह प्रणाली स्पष्ट नहीं होती उसका ध्वनि-संबंधी विकास लगभग पूर्णतः अपरिवर्तनीय रह जाता है इसी प्रकार वर्गीकरण ग्रन्थकारों का व्याकरण प्राचीन संप्रदायों से अधिक लाभान्वित होता है अपेक्षाकृत भाषा के संबंध में उनकी अपनी व्यक्तिगत भावनाओं से। ऐसा संस्कृत में नहीं है, यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में और आधुनिक भारतीय भाषाओं में ही है कि एक नवीन प्रणाली का निर्माण देखा जाता है, अथवा उचित रूप में भारतीय-आर्य भाषा में बनी प्रथम प्रणाली के निर्माण का।

पाली में क्रियामूलक रचनाएँ बहुत बनी रहती हैं और कुछ नवीन विकरण उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु यह वास्तव में पुनःसंघटन की प्रवृत्ति के कारण है। जहाँ तक उस समय की प्रणाली से संबंध है वह सरल हो जाती है उसमें वर्तमान भविष्यत् (अथवा संभाव्य) और अपूर्ण तथा अनिश्चित भूतकाल से संबद्ध अतीत काल है। क्रियार्थ भेदों में संभावनार्थमूलक नहीं मिलता उसके कुछ चिह्न आज्ञार्थ और आदरार्थ के रूपों में मिलते हैं।

वर्तमान

धातुओं की प्रणाली में केवल धातु कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य का विरोध प्रत्ययों में दृष्टिगोचर नहीं होता वरन विकरणों में होता है। फलतः कर्मवाच्यों में और -य-युक्त क्रियाओं में जो स्वयं संस्कृत में स्वेच्छापूर्वक वास्तविक या भावना-संबंधी स्थिति को प्रकट करती हैं कोई अंतर नहीं है। फलतः पाली में है नच्चति (वै० नृत्यति) पस्सति (ऋ० पश्यति और अध्याय ९ में पस्सते) कुप्पति (महाकाव्य कुप्यति और कुप्यते) और साथ ही मञ्ञति (मन्यते) युज्जति दूसरी ओर वुच्चति (उच्यते) दीयति पच्चति (पच्यते) लब्भति (लभ्यते), हञ्ञति (हन्यते) करियति (क्रियते के लिये *कार्यते)।

व्युत्पन्न क्रियाओं में पर प्रत्यय का दीर्घ रूप प्रचलित मिलता है दुस्सति (दुष्यते) के निकट प्रेरणार्थक दस्सेति (दर्शयति) का कर्मवाच्य में है दस्सियति इसी प्रकार भाजियति (भाज्यते) मारियति पुच्छियति उसमें एक भारोपीय और वैदिक छन्दात्मक नियम मिलता है जिसके प्रमाण विशेषतः गाथाओं पर ग्रन्थन के आधार पर मिलते हैं (गेगर, 'इन्ट्रोडक्शन' पृ० २४४ आर्नल्ड, 'वैदिक मीटर' पृ० ८९)।

किन्तु पर प्रत्यय का यह रूप जिसका लाभ मूल की स्पष्टता की रक्षा करने में है व्युत्पन्न क्रियाओं में कोई विशेष बात नहीं है। यह साधारण क्रियाओं में पाया जाता है, और उसी नियम के अनुसार उसका विभाजन हो जाता है एक ओर पुच्छियति (पृच्छ्यते) पुच्छीयति दूसरी ओर भिज्जति (भिद्यते) युज्जति (युज्यते)। छन्दात्मक परिवर्तन-क्रम के कारण भी हीरति (ह्रियते) के निकट हरीयति के बीच स्वर की गणना

की जाती है अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो सादृश्यमूलक पतीयति है जो पतति से सम्बद्ध पातेति का कर्मवाच्य है तुल० अशोक द(ट)पति ह(न)यति के निकट, एक ओर कारियति मील(ल)यियति और दूसरी ओर गनीयति। वैयाकरणों के आधार पर परीक्षा करने से दीर्घ स्वर वाला रूप सर्वत्र वैध हो जाता है।

विकरणयुक्त रूप के सामान्यीकरण से उत्पन्न एक प्रधान लाभ यह भी हुआ कि मूल निश्चित हो गया। विकरणयुक्त रूप का संस्कृत में सूत्रपात हो ही चुका था। सुत्तनिपात में प्रयोग हुआ है हन्ति का किन्तु उसका आदरार्थ (संभावक) है हनेम्य जो हनसि के अनुकूल है। संहिताओं के पश्चात् प्राचीन संशयार्थसूचक वर्तमान हो जाता है इसी प्रकार संस्कृत महाकाव्यों की भाँति पाली में पाया जाता है रोदति रुदति आसति ब्राह्मण-ग्रन्थों के आसते (आस्ते) के अनुकूल है, लेढ़ति महाकाव्य के लिहति (लेढि) के पाली में सामान्य अतीत के आधार पर निर्मित वसति और मिलता है और अन्य की अपेक्षा अच्छे रूप में मिलता है। द्वित्व-युक्त वाली क्रियाओं में ददामि में ददाम निहित रहता है, जिससे आज्ञार्थ दद आदरार्थ (ददे) जो दज्जा के निकट है था से ऋग्वेद में अवधते निःसृत होता ही है जिससे फिर महाकाव्य० दधति और पा० दहति जो दहाति से अधिक प्रचलित है आदरार्थ विदहे सद्दहेय्यु अशोक० १ वह्नु उपदहेयु मिलते हैं जहाँ तक जगति से संबंध है वह सूत्रों के जायति से साम्य रखता है। -नाति युक्त क्रियाओं में प्रायः -न युक्त आज्ञार्थ रहता है पापुण जिन सुण गण्हाथ के निकट गण्हथ, अशोक० गहिनेयु मिलता है स्वयं निश्चयार्थ में जानाति से भिन्न जानति बहु० जानरे मिलता है।

प्रेरणार्थक के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ग (धातु के आधार पर निर्मित छेदेति कारयति अथवा वर्तमान पर आधारित नच्चेति रुगति बुज्झापेति) और साथ ही नामधातु के महत्त्वपूर्ण वर्ग में एक ही पर प्रत्यय के दो ध्वनि-संबंधी रूप मिलते हैं वादयति और वादेति और मूल स्वर की लयात्मक विभिन्नता सहित समयन्ति किन्तु पचामेति और विपर्यस्त रूप में दापेति किन्तु समापेति। वे अशोक में भी बराबर मिलते हैं गिरनार में हैं पूजयति व(ढ)वयति आ(ज्)ञपयामि अन्य अभिलेखों में हैं पूजेति व(ड)ढेति अनपेमि। यह अन्तिम रूप ध्यान देने योग्य है क्योंकि वह उत्तम पुरुष का अन्य (-अयसि -अयति की भाँति व्यवहृत -अयामि) के साथ सारूप्य स्थापित होने का प्रमाण है जिसका प्रभाव होता है -ए युक्त मूल का निर्धारित होना।

उसके द्वारा व्युत्पन्न रूप में मूल क्रियाओं के साथ सम्बद्ध हो जाते है, जिनमें अन्य दृष्टिकोणों से परिवर्तन कर्मों को दबाकर प्राचीन अविकरणयुक्त उनमें अपने मूल जोड़ देते हैं एति एन्ति एहि सेति (शेते) सन्ति उनका नेति नेमि (नयति) का

एक छोटा-सा वर्ग बन जाता है जो एमि एहि म क्रम प्राप्त करते हुए देहि के अनुकरण पर बन देमि को अपनी ओर आकृष्ट करता है जेमि (जा जिनाति के निकट है) आदरार्थ जेय्यं (जयेय्यं)।

इस -ए युक्त क्रियाओं के सदृश कुछ ओ- युक्त क्रियाएँ हैं और प्रथमतः होति होन्ति होमि जो भव भवेय्य और भवि० हेस्सति हेहिति जिससे सामान्य अतीत अहेसुं है के निकट हैं तत्पश्चात् करोमि करोन्ति तथा -नु युक्त प्राचीन क्रियाएँ सुणोमि सुणोम आदरार्थ सुणोहि सक्कोमि सक्कोति सक्कोम सक्कोन्ति (उसका सक्कति कर्मवाच्य है सं० शक्यते) पप्पोमि पप्पोन्ति अशोक० आदरार्थ पापोवा (पा० पप्पुय्य) क्रियार्थक संज्ञा पापोतवे।

यह सामान्यीकरण मध्यवर्ती प्रत्यय-युक्त धात्वांश का समर्थन करता है -ना-युक्त वर्ग इस प्रकार स्थापित करता है जानामि जानाम जानाहि यह कुछ -नो युक्त प्राचीन क्रियाओं को आत्मसात् कर लेता है सुणामि सुनाम पापुणामि जिसका प्रयोग अशोक ने किया है गहिणति और उसमें नवीन रूप मिला लेता है मा से मिनाति मन् से मुनाति जायति के समीप जिनाति क्रियार्थक संज्ञा जेतु, जेति के निकट जिनाति संभोति से भिन्न संभुणाति।

क्रिया 'होना' सब रूपों में मूल स्वर को बनाये रहती है अत्थि अहु आदरार्थ एक० १ अस्सं जो सियं के निकट है २ और ३ अस्स जो ३ सिय आदि के निकट है।

अन्ततः ध्यान दीजिए दम्मि कुम्मि की ओर जो सं० महाकाव्य दधि कुर्मि द्वारा प्रमाणित होते हैं जिनमें एकवचन सामान्य प्रणाली के विपरीत बहु० के अनुकरण पर पुनर्निर्मित होता है।

इन सब सुधारों का परिणाम एक निश्चित प्राचीन विकरणयुक्त की अपेक्षा अधिक निश्चित वाली क्रियाओं का अत्यधिक मात्रा में हो जाना है।

भविष्यत्

कुछ ऐसी क्रियाएँ रह जाती हैं जिनमें पर प्रत्यय धातु से संबद्ध होता है और जिसका अन्त तालव्य में होता है मोक्खति (मोक्ष्यति) वक्खति (वक्ष्यति) मोक्खं (मोक्ष्यामि) कण्ठ्य में होता है सक्खति (शक्यति) अथवा दन्त्य में होता है छेच्छति (छेत्स्यति) वच्छति (वत्स्यति)। इन रूपों ने उन क्रियाओं के लिए मार्गदर्श का काम दिया प्रतीत होता है जिनमें धातु के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है अशोक० कर् से कच्छति पा० हञ्छामि हन् से हञ्छति। किन्तु ये स्पष्ट नहीं थे दक्खति और दच्छिति जो सं० द्रक्ष्यति का प्रतिनिधित्व करते हैं, कुछ वर्तमान रूपों की अपन अतीत

काल के प्रति विपरीतता की भाँति सामान्य अतीत अवभिक्ख (अहासीद्) के मुकाबले में आते हैं और वास्तव में वे वर्तमान का भाव ग्रहण कर लेते हैं स्पष्ट पर प्रत्यय सहित भविष्यत् के कारण बताये जाते हैं, वक्खिस्सति और इसी प्रकार सक्खिस्सति, फलतः संबंध गच्छति गच्छिस्सति के तुल्य है।

स्वर के बाद पर प्रत्यय स्पष्ट रहता है दा से दस्सति पा से पास्सति और पिस्सति (पिबिस्सति के साथ मिश्रण द्वारा) मु से सोस्सति इ से एस्सति जि से जेस्सति हेस्सति सीधा भविष्यति से आया हुआ है किन्तु वर्तमान के आधार पर पुन निर्मित होता है अनुभोस्सति अशोक होस्सति। इसी प्रकार -ए युक्त क्रियाओं में सं० -अय- कथेस्सति को संस्कृत कथयिष्यति से निकलता है पाली की दृष्टि से कथेति और विशेषतः अतीत काल कथेसि का सामान्य भविष्यत् है (इस अन्तिम काल के साथ अधिक विशेष सम्बन्ध इनमें भली भाँति दृष्टिगोचर होता है गहेस्सति अग्गहेसि को वर्तमान गण्हाति सं० गृह्णाति के विपरीत है)।

व्यंजनों के बाद अत्यधिक प्रचलित रचना-धातु (धमिस्सति) और विशेषतः वर्तमानकालिक विकरण से सम्बद्ध -इस्सति है पचिस्सति पुच्छिस्सति गण्हिस्सति चङ्कमिस्सति प्रेरणार्थक बन्धयिस्सति यह सामान्य भविष्यत् है जो भाष्यों में दोनों का प्रतिपादित करने का काम करता है जैसे जिनिस्सति मुञ्चिस्सामि प्रतिपादित करते हैं जेस्सति मोस्सं।

यहाँ मध्यकालीन भारतीय भाषा में उनके बने रहने और आधुनिक भाषाओं में उनके साम्य मिलने के अन्य कारणों में किन्तु जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती दीर्घ मूल की क्रियाओं में पर प्रत्यय द्वारा विशेष रूप ग्रहण किए जाने की ओर संकेत किया जा सकता है (पीछे दे०) अशोक होहन्ति जो होसन्ति के निकट है, दाहन्ति धौलि एहथ जो J (?) एसथ के निकट है पाली काहसि (जिसमें दीर्घ स्वर सामान्य अतीत से आया है?) हाहसि इसके अतिरिक्त स्वयं इन क्रियाओं में विकरणयुक्त स्वर प्रायः -इ हो जाता है पा० पदाहिमि विहाहिसि हाहिति एहिसि एहिति होहिति काहिसि काहिति उसी से स्वयं करिहिति इसी प्रकार दक्खिसि -ति -न्ति अशोक ने रूपनाथ और मैसूर में व(ढ़)धिसिति का प्रयोग किया है और कालसी में वधियिसति का; यहाँ सामान्य अतीत के प्रभाव की झलक मिलती है।

संस्कृत की भाँति भविष्यत् के आधार पर बना है अयथार्थ अभविस्स १ बहु० अभविस्सामु।

अतीत काल

सामान्य अतीत और अपूर्ण पर एक साथ आधारित केवल एक अतीत है। उसमें वैदिक की अपेक्षा आगम अधिक आवश्यक नहीं है। कथुकाव्य में यह बना रहता है १ अगम २ ३ अगमा बहु० अगमाम -अम्ह अगमथ -त्थ, अगमुं एक० १ अदं, २ अदा अदा ३ अदा बहु० १ अदम्ह २ अदत्थ ३ अदू अदुं (दि० अम्यय)। अन्य रूप एक प्रकार से अपूर्ण के हैं बहु० १ अकरम्हसे २ अमञ्ञत्थ ३ एक० ३ आसेय अभा सब अमञ्ञरं, अवोचं और अचर। अप्रचलित प्राचीन रूप अहां (अप्राक) जिससे अह् जो जातक ३ ३८०' में उसी छन्द में मिलता है जिसमें अद्दस अदा जो अकार के निकट है, और अकासि।

अधिक सामान्य विशेषता सामान्य अतीत की ह है उसके पहले चिन्-ध्वनि हो या न हो एक० ३ अस्सोसि अशोक० नि(क)खमि जिसम अगमि १ अस्सोस्थि अगमिं (जैसा अ० में अवीम् है ही तै० सं० अग्रमीम्) बहु० ३ अस्सोसुं, अगमिसुं, अगमिंसु। स्पर्श में अन्त हुई मूल वाली कुछ क्रियाओं में सामान्य अतीत भविष्यत् क निकट पहुँच जाता है अछच्छि (अछैत्सीत्) अद्दक्खि (अद्राक्षीत्) जिससे अदक्खि (पश्-) अवकोछि (क्रुध्) पावेच्छि (विश्) अविपच्छिस्स और अगाच्छिंस के बीच उत्तम० एक० में अत्यन्त संकोचमय दृष्टिगोचर होता है। किन्तु अतीत काल का अभिकांश भाग वर्तमान के आधार पर निर्मित हुआ है

एक० १ अगच्छिसं अपुच्छिसं परिसेहिसं अगमिस्सिस्स मुञ्चि अमुञ्चि ३ आगमि और आनेसि इच्छि अपिवि हुनि बहु० ३ गच्छिसु, अथवा अगन्छु, अशोक० इच्छिसु, अलोचयिसु, हुसु।

मध्य में एक० २ पुच्छित्थो ३ पुच्छित्थ अशोक० नि(क)खमि(तु)था, बहु० १ अकरम्हस में सामान्य अतीत के विकरण है एक० २ अमञ्ञथ ३ आपथ अधारुक० हुथा (पा० अहोसि) बहु० ३ आमञ्ञरु, अगच्छरे का संबंध अपूर्ण से है।

जहां तक पूर्ण से संबंध है उसमें केवल कुछ अपवादरूप रह जाते हैं ३ एक० आह बहु० आहु तथा इस अंतिम के समीप आहंसु बना भी किया है (साथ ही अहासंसु) दूसरी ओर विदु (—) है जो वेदि (अवेदीत्) में बहुवचन का काम देता है।

निष्पन्नार्थ के प्रत्यय : मध्य, भविष्यत्

जैसा कि देखा जा चुका है पाली में कुछ मध्य प्रत्यय बच रहते हैं। ये उन प्रत्ययों के बचे हुए रूप हैं जो प्रधानतः पद्य बद्ध पाठों में आते हैं यह अधिकांशतः एक ऐसी मिश्रण-संबंधी प्रणाली द्वारा होता है जो आगे दीर्घ स्वर का व्यवहार करने वाली थी

अथवा इस सुर का कोई भाषा-विज्ञान-संबंधी महत्त्व नहीं है, क्योंकि साहित्यिक मध्य-कालीन भारतीय भाषा में सभी अन्त्य स्वरों में दो मात्रा-काल हो सकते हैं, जो कहना चाहिए वास्तव में सब ह्रस्व थे। तो इससे आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि मध्य प्रत्ययों का कोई विशेष महत्त्व न हो। कुछ उदाहरणों में जैसे एक० २ पुच्छिस्सो (जो कहना चाहिए ठीक-ठीक रूप से वाचा कर्तृवाच्य है -आ + -अ > -०थ) ३ पुच्छिस्सों उनमें सदृश रूपों में अन्तर मिलता है इसके विपरीत २-१ (अ)पुच्छि (अ)पुच्छिसि अस्पष्ट है।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे मध्य के महत्त्व का पूर्ण लोप हाल की चीज हो गिरनार में अशोक ने लिखा है कुरु करोति किन्तु मंगलं करोते (स्पष्टतः अपनी वास्तविक रुचि के अनुकूल) क्या यह वैपरीत्य केवल किसी संयोग के कारण है ? इसी प्रकार गिरनार में जहाँ म(य्)थे है वहाँ अन्य संस्करणों में म(य्)अति है किन्तु उसमें मूल निश्चयार्थ के कुछ ही रूप हैं म(य्)थे का संभावनार्थसूचक है म(य्)मा तथा कर्मवाच्य में आर(भ्)यरे, भविष्यत आर(भ्)मिसरे, से भिन्न सामान्य अतीत आर(भ्)मिसु है।

इससे उत्तर मध्यकालीन भारतीय भाषा के -र युक्त प्रत्ययों के समुदाय के विषय में एक प्रश्न उठता है। यह मध्य रूपों का है क्योंकि सं० -उ में भारतीय दृष्टिकोण से • म नहीं रहता अथवा रे संस्कृत में बहुत कम और पाली में बहुत प्रचलित है वर्तमान में कमरे, जायरे (वादन्ति द्वारा स्पष्ट किया गया) चीयरे जो चीयन्ति और पीयन्ति के निकट है, हम्मरे जो हम्मन्ते के निकट है, मिय्यरे जो मरन्ति के निकट है अशोक में अर(भ्)मिसरे है जो भविष्यत् अधिक है। अपवाद रूप में यह रूप अतीत काल अवज्झरे में मिलता है और दूसरी ओर है अभम्भरं यहाँ एक प्रकार से जो वैदिक -रन् का अवशिष्ट रूप है जैसी कि गायगर की इच्छा है, क्या रे अन्त्य १ बहु० सामान्य गौण के अनुकूल नहीं हो जाता ?

१ एक० और २ बहु के मध्य प्रत्ययों सं० -त पा० -थ (अभासथ अभम्भथ) एक जटिल समस्या प्रस्तुत करते हैं और महत्त्वपूर्ण भी क्योंकि उनका सम्बन्ध अत्यधिक व्यवहृत प्रत्ययों से है।

जिनका संबंध मध्यम० बहु० से है उनके लिये यह अनुमान करना आवश्यक है कि प्राथमिक प्रत्ययों का प्राचीन -थ कर्तृवाच्य के गौण प्रत्ययों की ओर झुक गया है, संभवतः आज्ञार्थ कमथ की मध्यस्थता के कारण और फिर आदरार्थ समेथ (अशोक० वर्तमान पातुमाथ आदरार्थ पटिवेदेथ) के कारण और उसके द्वारा मध्य में प्रत्यय -ध्व के कठिन होने के कारण (कभी-कभी उसका प्रतिनिधित्व -व्हो द्वारा होता है जिससे

*-मुद्-अ का अनुमान होता है)। अस्तु, संक्षेप में यह मध्य पर कर्तृवाच्य की प्रमुखता का एक विशिष्ट उदाहरण हो जाता है।

प्रथम पुरुष एक० तो और भी भली भाँति स्पष्ट नहीं होता अमासथ अशोक० आदरार्थ पटिपजेय ⟶पटिपजेय निश्चयार्थ अशोक० हुआ किन्तु मनपाठ में हुता। २ बहुवचन के प्रत्यय का विशुद्ध यांत्रिक सादृश्य अपने में अपर्याप्त कारण प्रतीत होता है। संस्कृत में -था' मध्यम पुरुष है जिसका ठीक-ठीक पाली मे -थो हो जाता है (मध्यवर्ती *-थ' का सुर -अ' के साथ मिलता है तुल० भवो आसयो)। २-३ एक० के गौण प्रत्ययों की प्रायः मिलने वाली निकटता को स्मरण करते हुए (पुष्पत्व है अस्सोसि ई और इद्) क्या यह सोचना आवश्यक है कि *-थाँ -थो द्वारा (आदरार्थ कमपो सुत० थो कमिस्ससि द्वारा स्पष्ट होता है अतीत काल समभ्भिसथो) स्थान-च्युत होने से पूर्व प्रथम पुरुष की ओर झुक गया है ?

इसके अतिरिक्त अतीत काल में मध्यम० बहु० अस्सुत्थ आगमित्थ है, जो सं० अश्रौष्ट, अबोधिष्ट से भिन्न है। तथा मध्य के प्रथम० में पुल्लित्थ सुमित्थ प्रकार प्रचुर रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है। वत्थ अप्रत्याशित है।

जिनका संबंध बहु० के मध्यम पुरुष से है उनमें फिर भी एक युक्ति-संगत सादृश्य मिलता है -म्ह भली भाँति -स्म और -म्म का बराबर प्रतिनिधित्व करता है उससे कुछ प्राथमिक रूपों का अस्तित्व प्राप्त हुआ है, विशेषतः क्रिया 'होना' का भूतकालिक कृदन्तों के साथ संबद्ध होना पाया जाता है उदाहरणार्थ आगत् अस्म *आगत् अम्ह्।

प्रथम एक० में मूर्धन्य जिसकी आशा की जाती है एक बार अशोक टोपरा में प्रमाणित होता है (निद्धमिठ पढ़ने में निकमिट्ठ?) अन्यत्र वढिसा आदि। धातुका के अभिलेख में कमयिष है, फलतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ स्थान परिवर्तन इधर हाल का है। बहु -अ प्रथम एक० की रचना पर निर्भर रहता है।

यदि -म्ह वर्तमान द्वारा स्पष्ट हो जाता है तो यह और भी अधिक प्रमुख रूप में देखा जाता है कि किस प्रकार स्वयं वर्तमान में १ बहु० समम्हे (दूसरी ओर मध्यम बहु० रमध्वे पर आधारित) निर्मित होता है दोनों दुर्लभ प्रत्ययों को कहना ठीक होगा समामसे और समाम्हसे तुल० अस्मसे अम्हसे की भाँति ही।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य पर कर्तृवाच्य-रूपों का प्रभाव रहा हो और साथ ही गौण रूपों पर प्राथमिक रूपों का।

इस दूसरी बात के कारण भविष्यत् की कुछ विशेषताओं की गणना की जा सकती है सोस्सामि और सुस्सं (भृ) बच्छामि और वच्छं (वस्-) अशोक गिरनार लिखा पयिसं अन्यत्र लेखापेसामि द्रष्ट० वर्षं (पा कार्सं) काससी कक्षामि। वाकरनागेल

ने यह बताया है कि अशोक० मा पलि(स्)भ(स्)सथि(स्)सं जो भेषु से है भवि-ष्यत् और आदेशार्थ है। यह देखा जा चुका है कि सामान्य अतीत इस्सं और -इसम् में कितनी अनिश्चितता है।

विपर्यस्त रूप में उत्तम० बहु० का कर्तृवाच्य के साथ योग से बना प्रत्यय गौण रूप के विस्तार द्वारा अपने को स्पष्ट करता है -मो -म के युक्त रूप में सामान्य परि-णाम आदरार्थ के लिये नवीन रचना -मु प्राप्त करने के लिये इसके विपरीत -थ का मध्यम पुरुष के -थ के साथ सुर मिल गया था इसके अतिरिक्त उसमें प्रथम बहु० के प्रत्ययों को छोड़कर अन्य सभी प्रत्ययों के साथ संक्षिप्ति द्वारा रखे जाने का काम था।

इस प्रकार उत्तर मध्यकालीन भारतीय भाषा में क्रिया के व्याकरण-संबंधी वर्गों की संख्या घटाने के प्रयास के कारण विकरणों और प्रत्ययों की प्रचुरता मिलने लगती है। अपने प्रयोग के आधार पर समुदाय में वे सरल होने की प्रवृत्ति प्रकट तो करते हैं किन्तु नयी-नयी रचनाओं की ओर भी जिनका कारण कभी-कभी समझ में नहीं आता। यह भी पाया जाता है कि सरल किये जाने का प्रयास उन क्रियार्थ भेदों के इतिहास में उपलब्ध दुरूहताओं की सीमा पर पहुँच जाता है जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में शेष रह जाते हैं, अर्थात् आज्ञार्थ और आदरार्थ।

आज्ञार्थ

-थ के मध्यम० बहु कर्तृवाच्य और २ बहु मध्य -ध्वो के संबंध में तो बताया ही जा चुका है। मध्यम० एक० में अविकरणयुक्तों का प्रत्यय अपने को बनाये रखता है और विस्तृत करता है ब्रूहि देहि, अस्साहि किन्तु जीव के निकट जीवाहि भी वच्छ के निकट उमाच्छाहि, सुणाहि और सुण के निकट सुणोहि (वैदिक शृणुहि स शृणु) करोहि, तुम्हाहि। इसके अतिरिक्त -स्सु बहुत प्रचलित है यह संस्कृत में सामान्यतः मिलने वाले -स्व का स्थानापन्न है व्यवहार चाहे तो ध्वनि-संबंधी रूप में विचारणीय हो सकता है चाहे -तु -स्सु युक्त प्रथम पुरुषों के प्रभाव के रूप में हो सकता है पुच्छस्सु, मुच्चस्सु, लहस्सु साथ ही मिलता है १ बहु० पस्सो जो पापुनस्याम द्वारा निर्धारित है। आदरार्थ के स्वयं अन्वय के लिये इसके बाद देखिए।

आदरार्थ

अन्य गौण रचनाओं की भाँति मध्यम० और प्रथम एक० के प्रत्ययों में अन्त्य व्यंजनों के लोप के बाद गड़बड़ हो जाती है रक्खा जो प्रथम पुरुष से सम्बद्ध रहा जाता है मध्यम में भी व्यवहृत हुआ है। उससे प्राचीन संशयार्थसूचक के साथ योग होता है (जिसके कुछ स्फुट उदाहरण बच रहे हैं, जैसे गच्छासि अभाप वास्तव में मध्यम

पुरुष में है) जिससे फिर एक० के लिये एक तिङ प्राप्त होता है १ दज्जं १ दज्जामि ३ दज्जा। इसी प्रकार विकरणयुक्तों में २ ३ कम जो कमेय कमेयु (अशोक० में प्राप्त रूपों का प्रकार) के प्रभावान्तर्गत कमेयों म व्याप्ति को प्राप्त होता है, तत्पश्चात् पाली में [संभवतः दज्जं दज्जू का (जो दीर्घ धात्वांशों का) सादिक भरण प्राप्त करने के लिये] *कमेय्यां रूप के अन्तर्गत दृढ़ हो जाता है, अंत मे जो २ कमेय्यासि प्रमाण करता है जिससे है १ कमेय्यामि और कमेय्यासि और इसी प्रकार बहु० म १ कमेय्याम २ कमेय्याथ जो कमेथ के निकट है और जिसे -एसि युक्त क्रियाओं के विशेषतः प्रेरणार्थक के, वर्तमान रूपों के साथ सुर मिलाने में असुविधा हुई।

यह प्रणाली सामान्यीकरण के एक वर्ग से निकलती है किन्तु अशोक की कृपा से यह ज्ञात हो जाता है कि इतिहास अधिक दुरूह रहा है और उसमें अपरिपक्व प्रायोगिक रूप दृष्टिगोचर होते हैं उसमें कुछ रूप ये १ एक० -एहं जो -ए(म)हं है पाली में कुछ रूप कमेय्याहं प्रकार हैं जो उसी सिद्धान्त पर निर्मित होते हैं बहु० में कमेम्यो यह इसी प्रकार मध्य मे करेय्याहं। प्रथम० बहु० में अशोक में आलभयेवु है जो -येयु का ध्वनि-संबंधी रूपान्तर है, और साथ ही नीक्खमावु है जो अब भी संभावनार्थसूचक के साथ मिश्रण का प्रभाव है। गिरनार में और भी मध्य हैं सुसुसेर जो प्राचीन है और सुनाय जो संभावनार्थसूचक है अथवा आज्ञार्थ।

पाली क्रिया परस्पर विरोधी बातों का प्रमाण है एक तो प्रणाली के सरलीकरण की ओर, और जो परंपरागत दुरूहताओं का अंत प्राप्त नहीं कर पाती विशेषतः सामान्यीकरण के लिये प्रभाव से कुछ नवीन रूप आ जाते हैं दूसरी साहित्यिक भूल है, जो प्राचीनता-प्रिय है तथा यह कह देना आवश्यक है कि हम यह बता सकने में असमर्थ हैं कि अनेक रूप जो स्वयं नवीन हैं, कहाँ तक संस्कृत व्याकरण के अनुकूल नहीं हैं।

प्राकृतों की विशेषता अतीत काल का ह्रास है। जैन प्राकृत से बाहर केवल आसि मिलता है जैन प्राकृत में आसि अब्भाव। अमू और होत्था तथा कुछ अन्य रूप मिलते हैं जैसे (अ)कासि वयासि बहु मे कुछ धातुओं के साथ प्रयुक्त होते हैं विपर्यस्त रूप में पाये जाते हैं, उदाहरणार्थ प्रथम० मे और साथ ही एकवचन के उत्तम० में कॉसु आहु ३ एक० तथा बहु० के निकट मिलते हैं जैसे पाली मे आहंसु जो १ और ३ एक० मं समान है। इत्थों युक्त प्रत्यय (प्रेरणार्थक में -पत्थ) मध्यम और प्रथम पुरुष में मिलते हैं। इसी प्रकार पिशेल का कथन है कि भच्छे वच्छे (-भिच् और -मिच् से) का प्रयोग आदरार्थ की भांति हुआ है।

तो अब केवल वर्तमान (आज्ञार्थ और आदरार्थ सहित) और भविष्यत् का सबंध और शेष रह जाता है इसमें यह प्रणाली पाली की प्रणाली के निकट बनी रहती है।

वर्तमान के विकरणों की रचना एकाधिक है किन्तु क्योंकि उसके क्रियार्थ-भेद महत्त्वपूर्ण नहीं रहे इसलिए, उन्हें छोड़कर जिनका संबंध प्रेरणार्थक और कर्मवाच्य से रहा उनके संबंध में कहना निरर्थक है।

प्रत्यायक का निर्माण -ए (स०-अय) से युक्त होता है हासेइ किन्तु विशेषतः -वे से युक्त (स -पय) और यह निस्सदिह धातुओं से निकलता है ठावेइ (स्थाप-यति) की भांति हसावेइ, बाणावेइ (वर्तमान के विकरण पर निर्मित) और साथ ही आणवेइ, ठवेइ।

कर्मवाच्य का सामान्य भाग है ईअ हो सकता है-इज्ज -य(य्)य स निकला हो वर्तमान के विकरणों के साथ उदारतापूर्वक जोड़े गये हैं करिज्जइ सुणिज्जइ (सु) पुच्छिज्जइ (पृच्छ-) और इसी प्रकार दिज्जइ (दीयते) पिज्जइ। कुछ सबल रूप हैं दिस्सइ दीसइ (दृश्यते) मुच्चइ (मुच्यते) गम्मइ (गम्यते) इस बात का भेद करना कठिन है कि कौन से सामान्य थ और किन्हें ग्रन्थकारों ने संस्कृत के अनुसरण पर बना लिया था।

वर्तमान की रूप-रचना में कुछ ध्वनि-संबंधी नवीनताएँ हैं २ बहु उट्ठ १ एक वट्टामि जो वट्टामि (वैयाकरणों का ज्ञात धर्मनिरपेक्ष प्राकृत के लिए न कि पाठों में) के निकट है। किन्तु इसके अतिरिक्त बहुवचन के उत्तम० मे विशेषतः पद्य में -म जैसे पाली में (और नियमं प्रतिज्ञाम) और -मु पाया जाता है (और साथ ही एक०

में -म्हि। तुल० क्रिया 'होना' १ एक० म्हि १ बहु० म्ह म्हो और जैन में मि मा) किन्तु प्रचलित रूप है मा अथवा -मु, जिसका मूल्य रूप है तथा स्वभावतः वास्तविकता के अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त विकरणयुक्त स्वर का प्राय स्थान ग्रहण कर लिया जाता है इ द्वारा आसिमा अन्तिमो हुमिमो लिहिमो इसी प्रकार एकवचन में किन्तु कभी-कभी आनिमि यह सन्देहास्पद है कि द्वयक्षरात्मक धातुओं के मस्कृत क्रिया-रूपों में से एक शेष रहा हो अथीमि तो पाली से है जिसका स्थान भूमि ने ग्रहण कर लिया है यह दृष्टिगोचर नहीं होता कि किस प्रकार इ युक्त सामान्य अतीत अथवा इनि युक्त भविष्यत् रूप हुए इस बात को स्पष्ट करने के लिये कि यह बात प्रथम पुरुष तक ही सीमित रखी जाय तो ध्वनि-संबंधी क्रम की व्याख्या आवश्यक होगी।

जहाँ तक मध्य प्रत्ययों से संबंध है वे हैं (प्रथम० बहु० -न्ते और -इरे में) किन्तु स्वयं वैयाकरणों में ही निश्चित पूर्ण नहीं है और जो कुछ निश्चित रूप से ज्ञात है वह यह है कि ये कुछ भाषा-विज्ञान-संबंधी महत्त्व से हीन रूप हैं।

आज्ञार्थ २ एक० में तीन प्रत्यय हैं जो पाली के प्रत्ययों से साम्य रखते हैं रक्ख भनाहि रक्खमु। जिसका संबंध अन्तिम से है वह क्या वर्तमान (रक्खसि) के रूप के अनुकूल बनाया गया पाली -स्सु है? अथवा इसके विपरीत क्या वह यहाँ मूल प्रत्यय नहीं है एक ओर -न्तु के अनुकरण पर -मु तथा दूसरी ओर -मि -ति? यहाँ यह पूछने का लोभ हो सकता है कि यह कहीं पाली-स्सु -मु के पुनर्सरलीकरण के प्रयास के रूप में तो नहीं है।

आदरार्थ में कभी-कभी यह प्रत्यय मिल जाता है करेज्जासु जो करेज्जासि आदि के साथ चलने वाले करेंजासि के निकट है। प्राकृत वास्तव में एक ओर तो कुय्यै आदि का प्रयोग छोड़ देती है दूसरी ओर लिया उसका कुज्जा (कुर्यात्) और उसके अनुकरण पर देज्जा होज्जा जिसमें योग द्वारा जीवेज्जा कुप्पेज्जा आदि।

किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उत्तम० का अनुनासिक प्राय नहीं मिलता जिससे कि एक० के उत्तम और प्रथम पुरुष समान हैं इसके अतिरिक्त इस विचित्र रूप में प्रथम बहु० का भाव है भवयु के लिये भव आयच्छय के लिये आगच्छज्जा। यहाँ तक कि आदरार्थ वास्तव में बहुत क्रिया-रूप ग्रहण नहीं करता।

इसके विपरीत भविष्यत् के रूप प्रचुर और अत्यन्त विविध हैं। वे सब-के-सब यहाँ रखे जाते हैं जो पाली के हैं -इहिसि -इहि(इ)इ, जिनमें नहीं है प्रकार के विस्तार का उल्लेख करना यथेष्ट होगा क्रमशः मिलते हैं भमिस्सं (विशेषतः कर्मीय कल्प) भमिस्सामि (जैन कुम्भन) गच्छं (जैन) और गच्छिहिमि। वैयाकरण गच्छिहित्था प्रकार के २ बहु० रूप का जो सामान्य अतीत से आया प्रतीत

निस्सन्देह क्रियामूलक विशेष्य अथवा कृदन्तों से निःसृत दो प्रथा गौण रचनाओं के संबंध में हो सकता है न कि संस्कृत के आगम वाले रूपों के जारी रहने के संबंध में। अशोक में क्रिया "होना" में ये रूप केवल मुश्किल से मिलते हैं पाली में आगम का प्रयोग अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूपों में ही हुआ (अथा अथमा) किन्तु अ-धार्मिक साहित्य में से यह लुप्त हो जाता है आधुनिक भारतीय भाषाओं में अकेली आसि सहायक-क्रिया चिन्ह के रूप में रह जाती है।

मध्य भारतीय प्रणाली रूपों के दो समुदायों के विरोध पर आधारित है एक तो वास्तव में क्रियामूलक समुदाय है जो वर्तमान निश्चयार्थ को जारी रखता है और कुछ हद तक प्राकृत भविष्यत् और आज्ञार्थ को एक समुदाय में नामधातु रूप मिलते हैं जो न्यूनाधिक आदि रूपों के साथ संबद्ध हो जाते हैं या उनमें मिल जाते हैं ये रूप कर्तृ वाची संज्ञा के हैं, उदाह॰ सिंहली में किन्तु प्रधानतः वर्तमानकालिक कृदन्तों भविष्यत् भूत के। इन भूतकालिक कृदन्तों के विकरण निश्चयार्थ के वर्तमान के साथ समान हैं या नहीं इसके आधार पर ही क्रियाओं के एक या दो विकरण होते हैं वर्तमान की रचना सिद्धान्ततः कर्तृवाच्य होने के कारण और भूतकालिक कृदन्त की कर्मवाच्य होने के कारण पृथक होने की दृष्टि से क्रिया का दुहरा कार्य है, जैसा ही जब कि दोनों रूपों के लिये विकरण भिन्न होते हैं।

विकरण

स भविष्यत् जहाँ कहीं भी यह मिलता है, और आज्ञार्थ के वर्तमान के विकरण के आधार पर निर्मित होने के कारण की रचना पर विचार करना यथेष्ट होगा।

मध्य-भारतीय की दृष्टि से मूल विकरण विभिन्न प्रकार के हैं यह जैसे शब्द व्युत्पत्ति का विशुद्ध कार्य है वैसे ही उन वर्गों के भेद करने का जिनसे उदाहरणार्थ निकलते हैं हिं॰ भा (भाति) खा (खादति) हो-(भवति) सो-(स्वपिति) कूद (कूर्दति) पूछ् (पृच्छति) कर् (करोति) उठ्-(उत्तिष्ठति) गण् (गणयति) पी (पिबति) जाग् (जागर्ति) छिन् (छिनत्ति) जान् (जानाति) सुन् (शृणोति) नाच् (नृत्यति) उपज् (उत्पद्यते) सम-(सम्पद्यते) आदि ह्रास की नामधातुओं की गणना किये बिना।

कुछ भाषाओं द्वारा भूतकालिक कृदन्तों से लिये गये एेसे विकरणों की ओर संकेत करना सुविधाजनक होगा जिनकी संस्कृत में संज्ञाओं की भाँति गणना की जा सकती है जिनसे दो रचनाओं की तुल्यता है, न केवल कुछ सकर्मक में जैसे हिं॰ बैठ् और बैठ (उपविशति उपविष्ट) किन्तु भूरी के संबंध में मग् योरप जिप्सी भाषा मग् गु॰ भाग्-(भग्न) जो पीछ जिप्सी भाषा का (?) गु॰ भागए से भिन्न है, प्रा॰ मुक्क- मुक्

तृदस्त से निकलते हैं पं० मुक्क्- संभवतः कती, क्योंकि मुक्- (बरकुस मुचे के निकट, मुच्यते से) किन्तु गु० जिप्सी भाषा मुक्-, म० मुक्-(सिंधी मुञ्चु सं० मुञ्च से के निकट) भी। इसी प्रकार पं० लद्द् से भिन्न गु० लाध् लाभ् वेल्श जिप्सी भाषा लद् 'पाना' का अर्थ प्रकट होता है अर्थ का विरोध अन्त में वैसा ही है जैसा कि लभ्यते कर्मवाच्य से निकले म० लाभ् और नामधातु गु० लाभ् में है। तो भी व्यञ्जनों के कुछ विकरण कर्मवाच्य के विकरणों से पृथक् नहीं देखे जाते उदाहरणार्थ प्रा० लग्गी लग्ग सं० लग्यते लग्न से निकले हैं।

विकरणों के स्वर से नियमित परिवर्तन क्रम उपलब्ध होते हैं यह उस समय जब कि प्राचीन सामान्य वर्तमान के निकट कर्मवाच्य के विकरणों अथवा प्रेरणार्थक के विकरणों का सह-अस्तित्व रहता है। व्यंजनों के विशेषतः प्रेरणार्थक में, परिवर्तन-क्रम के भी उदाहरण उसमें देखे जा सकते हैं। किन्तु ये परिवर्तन क्रम सामान्य नहीं हैं और कर्मवाच्य और हेतुक बनाने के लिये अधिक अनुकूल और अधिक प्रयुक्त पर-प्रत्यय हैं।

कर्मवाच्य

एक ही क्रिया से सीधे दो विकरण निकल सकते हैं एक वर्तमान सामान्य कर्तृवाच्य या प्रेरणार्थक को दूसरे कर्मवाच्य को बताते हुए।

उदाहरणार्थ सिंधी में है

जाम् (जायते)	जा (जायति)
छिज्ज् (छिद्यते)	छिन् (प्रा० छिन्दै)
बुझ् (बध्यते)	बन्ध् (प्रा० बन्धै)
रझ् (रध्यते)	रन्ध् (रन्धयति)
लभ्-(लभ्यते)	लह् (लभते)
टुट् (त्रुट्यते)	टोड् (त्रोटयति)

अन्यत्र भी ये ही युग्म मिलते हैं उदाहरणार्थ लहंदा बज्झ् बन्न्ह, सिंधा रज्झ् रन्। अन्य हैं उदाहरणार्थ सिंधा दवें वेंघ् (वह) नपाली लाग् लाद (लभ्-), लहंदा गु० तप् क० ता- गु० हिं० ताप् ताव् (तप्-) लहंदा विस्स् वस्स् जो वृष्-य वर्ष के प्राचीन परिवर्तन क्रम पर आधारित है।

इन धातुस्वमूलक युग्मों से जो सिन्धी में काफी पाये जाते हैं (उदाह० टुट से टुम्) अथवा इन परिवर्तन-क्रमों ने पीछ समुदायों के लिये नियम गुण-रहित मूल अकर्मक और फलतः कर्मवाच्य प्रकट करता है, आदर्श का काम किया है

हिं० कचुना काचुना (कर्षयति) के अनुकरण पर।
विचुना बेचुना (प्रा० देक्खी) के अनुकरण पर।
फटुना फाटुना (स्फाटयति) के अनुकरण पर।
बन्धुना बान्धुना के अनुकरण पर।

क्रियाओं के युग्म नियमित क्रम-माला से नहीं बनते और किसी भी भाषा में उनका परिवर्तन क्रम निरन्तर नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त उनका कोई स्पष्ट अर्थ-विचार संबंधी मूल्य नहीं है।

कुछ भाषाओं में कर्मवाच्य के रूपमात्रों के प्रयोग द्वारा सामान्य परिवर्तन क्रम मिलते हैं, प्रा इज्जै अथवा ईऐ मूल जिसके बिना संस्कृत का स्वर-संबंधी विकार बना रह सकता है जैसे साथ जुड़ कर मारवाड़ी करीज् कबीज् सिंधी डीज् मारिज् मार से जो मर् का प्रेरणार्थक है जिससे अकर्तृक में हुलिज् और साथ ही कृदन्त के आधार पर निर्मित धिज् धिना वरिजे- तपिजे (कर्मवाच्य के मूल तप् के आधार पर) कहूंदा पढ़ीए, मरीसा नेपाली गरीए, कही-दैन पु० म० करिजे देखिजे देइब जाइबे पु० गु० कहीये दीजै तुलसीदास पुछियत् [च] पुछियहि करिअ और करीजै पु० बं० करिए, करिज्जै और किज्जै। इसके कुछ प्राचीन अप्रचलित प्रयोग रह जाते हैं जैसे म० पाहिजे म बंगाली पाइए, आसामी करिळ, आइल, पं कि जानिये गु० जोइये। इन रूपों का सरलतापूर्वक अन्यक्तसूचक भाव है तुलसीदास सुनिअ कथा। इससे है नम्र आसामे हिन्दी के (देखिये) उत्तरी बंगाली के (राजेक) कश्मीरी के गुपिचि जो केवल कर्मवाच्य में वर्तमान हैं जैसे चाहिये कुल बीरभूमि की बंगाली में बचाव की भावना भी लागुने द्वारा दिये न।

प्रेरणार्थक क कर्मवाच्य सं० -प्यते से भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं पं० कि जापे कि जानिये (किं ज्ञाप्यते) प्राचीन है किन्तु प सीप् जोसी (सिप्) ये है सादृश्यमूलक है और इसी प्रकार सिंधी धप् जा-प् [पा(प्)प्ते] जो जप् से भिन्न है पु० म० थे-प् जो थे इम् के निकट है झाए । इन रचनाओं के आधार पर और प्रचलित धपिज् हारपिज् प्रकार का अनुसरण करते हुए पुनर्निर्माण किया गया है (दोरेरे, बी एस० ओ एस० IV पृ० ५९)।

अंत में एक दीर्घ स्वर वाला प्रकार है। गुजराती में नियमित रूप से व्यंजन के बाद -आ है रूपा और स्वर के बाद -वा गया जोवा तुल० अप आवड़ (मायते) तुलसीदास कहावड इसी प्रकार बंगाली में है बाला बुझा (मु बुझा-) (किन्तु हि बुझ्)। यह अन्तिम क्रिया पाली में विज्ञायति के रूप में है (जिसका प्रेरणार्थक रूप है विज्ञापति) किन्तु इसमें कुछ ज्ञात नहीं होता क्योंकि पाली क्रिया का संस्कृत पूर्वरूप

नहीं मिलता तथा दूसरी ओर-आयति युक्त संस्कृत व्युत्पन्नों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। प्रेरणार्थक रूपों के साथ अनुरूपता ध्यान आकृष्ट करती है, विशेषत यदि कोई कर्मवाच्य की भाँति निर्मित "घसितलाली" मराठी के निकट जाय तुकाराम बाहिर्ं ऐसे कर्-अयु-एल । इन रचनाओं की कुंजी प्रेरणार्थक और मध्यीसूचक की तुल्यता होनी चाहिए जहाँ तक रूप से संभव है सादृश्यों का पूर्वत्व यदि कोई हो तो मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रदर्शित होना चाहिए।

पर प्रत्ययों में भाषाएँ सामान्यत उन परिवर्तन रूपों को चुनती हैं जो प्रेरणार्थक के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, अथवा यह का या सहित निर्मित अभिव्यंजनाओं मे निहित मुहावरे के साथ पहली अभिव्यंजना प्रसिद्ध की याद दिलाती है अन्य दो ईरानी की।

प्रेरणार्थक

अत्यधिक सामान्य गौण रचनाएँ प्रेरणार्थक की हैं।

संस्कृत में दो प्रकार के प्रेरणार्थक (और नामधातु) थे

(१) परिवर्तनीय मूल वाला प्रेरणार्थक का मूल स्वर गुण से निकला हुआ होने से अर्थात् संस्कृत स्वर प्रणाली की दृष्टि से एक अतिरिक्त अ होता है इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्टताएँ होती हैं पर प्रत्यय -अय-।

(२) -आ युक्त धातुओं में पर प्रत्यय -प् का योग दा-पयति मा-पयति इस पर-प्रत्यय का विस्तार अन्य धातुओं तक हो जाता है, सूत्र० के समय से अधु-आपयति।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में दोनों रूप साथ-साथ जीवित रहते हैं किन्तु दूसरा अधिकाधिक विस्तार ग्रहण करता है, यहाँ तक कि प्रथम को विगुण कर देता है (अशोक वाचयमाति) और स्वयं अपने को द्विगुण कर लेता है अशोक० तुलना लिखापापिता को लिखापिता और लेखापिता के निकट है।

१

पहला मध्य-भारतीय भाषाओं में बना रहता है किन्तु निश्चित रचनाओं में और एक सीमित यद्यपि बड़े क्षेत्र में सिंहली कश्मीर, जिना में उसका अभाव प्रतीत होता है *सिन्धी भाषा के निस्सन्देह विविध परिवर्तन-क्रम मेर् (मर्) मर् (मारय) का* कोई अर्थ नहीं है क्योंकि मर् का अर्थ 'मार डालना' नहीं है किन्तु "पीटना" है "मार डालना" होगा मैर । तोरवाली में कम-से-कम मैय सुरक्षित है मीम् "मार डालना" और सादृश्यों के प्राचीन काल के लोप चुम् चुम् का विरोध बना रहता है।

[खोवार में एक ए युक्त पर-प्रत्यय है (बिना मूल परिवर्तन क्रम के) जिसके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह प्रा० -ए- का प्रतिनिधित्व करता है अथवा काफ़िर में सामान्य -आ पर-प्रत्यय के ध्वनि-संबंधी रूपान्तर का √धर्, √मरे, भिष्, भिषे]।

"प्राकृत' भाषाओं में एक परिवर्तनीय क्रियाओं का समुदाय है जिसमें व्यंजन ध्वनि की दृष्टि से अंतस्थ (ड व र्ग) है (उसमें रहता है -ड् जो सं -ट्ति का प्रतिनिधित्व करता है और -ट्टसे से निकले -ट् का विरोध करता है) और जिसके रूप हैं एक प्राचीन कर्मवाच्य पर आधारित अकर्मक दो कर्तृवाच्य के अर्थ में प्रेरणार्थक। उसके विरोधी रूप हैं

गु०	पड़-	पाड़-
म०	पड्	पाड्
	मर्	मार्
	चढ्	चाढ्
	उड्	उाड्
	तुट	तोड्
और भी	बल्	वाळ्
सिंधी	सड्	साड़ बार्
	पड्	पाड् (और पढ़ा)
	भिड्	भेड् (और भेड़ा)
	मुड्	मोड्

कश्मीरी के कुछ उदाहरण

कम्	काम् (जिसमें -म् ध्वनि-संबंधी नहीं हो सकता)।
बस् ठर्	वास ठार्
मर्	मार्

हिन्दी में रचना सशक्त है

मर्	मार्
छुट्	छोड़
बल्	वाळ्
खुल	खोल

कुछ नयी रचनाएँ हैं पड् में ड्-त्व से नहीं आ सकता वह काट् (कर्त्) से आता है इसी प्रकार छड् भी स्पर्श एक संस्कृत शब्द से लिया गया है के अनुकरण पर

रचनाएँ हैं विपर्यस्त रूप में प्रेरणार्थक रेत् का त् रिख् से आता है जो हिन्दी रीठा (रिक्त) के आधार पर बना है इसी प्रकार मेद् का द् मिद् (मृष्ट) से आया है देख् के अनुकरण पर दीख् विस्स् (पृष्यते) का स्थान ग्रहण कर लेता है।

रूप अ आ परिवर्तन-रूप इ पर प्रमुखता धारण किये हुए हैं ए अथवा ऊ को कुछ परिवर्तन रूप इ हैं ई उ ओ पीस् के अनुकरण पर जैसे पिस् विपर्यस्त रूप में लूट के अनुकरण पर लूट् ।

बंगाली में कुछ युग्म रह जाते हैं, किन्तु कभी-कभी अर्थ से विहीन पड़ पाड़ मल बाल किन्तु चल- चाल सर् सार् छूट् छोड़् ।

रूप-रचना वैसी ही है जैसी साधारण क्रियाओं में।

२

इसके विपरीत सं०-आपयति प्रा०-आवेइ प्रकार बहुत-सा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है और जीवित रहता है मराठी (स्थान के कारण ह्रस्व स्वर सहित) करवि (रूपांतर करिवि जो निस्सन्देह एक दूसरे प्रेरणार्थक करे के समानान्तर है) गुजराती -आव् मारवाड़ी उठाव् सिंधी तरा मला तुलसीदास सुलाव् मैथिली रूपव् बोली रूसव् पु० बंगाली बन्धाए (आव् आव को पंजाबी हिन्दी बंगाली में -आ का रूप धारण कर लेता है) उड़िया देखाएँ, किन्तु सुलाइ, का से नेपाली मराउ कद० स्यू-आव् जो कश्मीरी के क्यावनाव् के निकट है इसी प्रकार सिंहली में (रूप मव), यूरोपीय जिप्सी भाषा में पेक् पेकव् नूरी बन् बनी (तुलनाएँ, दे० मैकालिस्टर, §१०८) अन्यत्र वर्ग में कती पिस्तु-ए और अतक्-आ पर्सि-ए अस्कुन आधार्य उयव में उया उप् से वा कलाश मार्ये मसे- ।

यह रचना उन ईरानी बोलियों पर कब गयी जो भारत की सीमा पर हैं अफ़गानी बस्ती मिदया दे० माइनेर, 'मुंद्रिय' II पृ० २२२, १२९ (फ़ारसी प्रेरणार्थक -आन् है पहलवी और बलोची -ऐन्) ।

तो भी खास भारत में उसे अन्य पर-प्रत्ययों की प्रतिद्वन्द्विता झेलनी पड़ती है प्रथमतः -आर् सिंधी उभार और दुहरे पर प्रत्यय सहित का-रा (जैसा कि पर-प्रत्यय और मध्यवर्ती परिवर्तन रूप के योग द्वारा प्राप्त होता है फिर् से भिन्न फेरा जो फेर् के समीप है और दोनों एक साथ सेवार् में मिलते हैं), कद० स्य् चव् र् (सामान्य रूप प्राचीन प्रेरणार्थक पर प्रत्यय की कार्यवाची संज्ञा के साथ सम्बद्ध हो जाने की अनुमति प्रदान करता है करनाव-) सिंगा पलवें पलवेर सो- सर् उथि उथर् ।

-अर् युक्त, ग्रीक प्रकार कस्-अर् , को और जिप्सी-भाषाओं के नामधातुओं की एक

दूसरे के समीप आने का प्रयोग होता है जो अब वे कृदन्त के आधार पर बनते हैं जैसे तद्-अर्द् मर्द-अर्द् में तो प्ररणार्थक रूप प्रस्तुत करते हैं। यह सादृश्य -अर् सहित रचना के अनुमान की ओर ले जाता है।

यह एक नामजात पर-प्रत्यय ही है जिसे गुजराती देख्-आड् में देखने का प्रयोग होता है (प्राकृत के लिये हेमचन्द्र द्वारा संकेतित भमाडै) तो भी यह संकलन की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है बच्-बढ-आव् पं के सिखाल-और, सिखाउ के निकट, सिजुखाउ विठाल-ओ विठाउ के निकट है के-ल- में नेपाली (असाधारण) बस्-भास्- हिन्दी इस पर प्रत्यय का प्रयोग कुछ स्वर-संबंधी धातुओं के अनुकरण पर करती है दिला दे से सुला सो से आदि।

प्रेरणार्थक और नामधातुओं के रूपों की तुल्यता वास्तव में संस्कृत के समय से निरन्तर रहती है। किन्तु पर प्रत्ययों का वास्तविक इतिहास नहीं मिलता।

जो महत्त्वपूर्ण बात है वह यह देखना है कि साधारण प्रेरणार्थक विकरणों का विरोध *जो कर्मवाच्य में साधारण विकरणों के विरोध से पूर्ण हो जाता है अन्तिम रूप* में अकर्मक विकरण और सकर्मक विकरण का विरोध है (असाधारण रूप में एक भिन्न रूप-रचना द्वारा पूर्ण वे अपवाद)।

हिन्दी के वास्तविक दृष्टिकोण से उदाहरणार्थ निम्नलिखित में संबंध एक ही है, प्रत्येक समुदाय का मूल चाहे जो रहा हो

मर् (पा॰ मरति)	मार् (पा मारेति)
लद्	लाद् (सं॰ लर्दयति)
मिट्	मेट्-अथवा मिटा
पिस्	पीस्-
और इनमें	
पढ़ (पा पठति)	पढ़ा
जाग् (पा जग्गति)	जगा
सुन् (पा॰ सुणति)	सुना
सुग् (पा॰ सुक्ख सं शुष्क-)	सुगा
पक्-(पा॰ पक्क- सं पक्व)	पका
बुझ् (पा बुज्झति सं॰ बुध्यते)	बुझा
बन् (बर्ण्यते)	बना
बाज् (बाद्यते)	बजा-

जिन पर प्रत्ययों की परीक्षा की गयी है उनके अतिरिक्त काफ़िर में कुछ विभिन्न रचनाएँ देखने में आती हैं उदाहरणार्थ -म् में (अनुनासिकता-युक्त प्राचीन रूप से निकला हुआ अथवा स्थानीय कृदन्त से तुल० कश्मीरी प्रेरणार्थक?) और साथ ही -स् में (कृदन्त -मान् से आवृत या उससे निकला हुआ? द० मवरूरवी एल० एस० आई० VIII II पृ० ८४)।

कुछ अपवाद जो बहुत कम भी मिलते हैं पूरे समुदाय की एकता को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं।

रूप-रचना

निश्चयार्थ की अकेली सामान्य रूप-रचना वह है जो प्राचीन अविकरणयुक्त वर्तमान से और कर्तृवाच्य भविष्यत् से निकलती है। वह प्राकृत में दो रूपों में दृष्टि गोचर होती है ३ एक० -अइ और -एइ, जो संस्कृत के मूल विकरणों और प्रेरणार्थक नामधातु से निकलते हैं। मध्य-भारतीय भाषाओं में दूसरा प्राय नहीं ही मिलता कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है, वह पहले के साथ मिल जाता है अत में दो भाषाओं मराठी और सिंधी में स्पष्ट अर्थ-विचार-संबंधी मूल्यवालों के साथ उसका विरोध होता है।

मराठी में है

एक०	१	हसे	मारीं
	२	हसीं हसस्, हसस्	मारीस्
	३	हसे	मारी
बहु०	१	हसों हसूं	(मारूँ)
	२	हसा, हसां	मारां
	३	हसती हसत्	मारितीं, मारीत्

और, सिंधी में

एक०	१	हसां	मारां
	२	हसे हसें	मारें मारे मारी
	३	हसे	मारे
बहु०	१	हसूं	मारयूं
	२	हसो	मारयो
	३	हसन्[ए]	मारीं न्[ए]

अन्यत्र कुछ मिश्रण है, अपभ्रंश में करेइ का प्रयोग उसी मूल्य के साथ होता है जिस मूल्य के साथ करइ का। यह संदेह किया जा सकता है कि १ एक० वं० उड़िया चळि मैथिली मगही चली, २ एक० मध्य वं० चळिसि जो चलसि के निकट है, आधुनिक वं० चलिस् जो पूर्वी बंगाली चलस् से भिन्न है, प्रथम बहु० मध्य वं० चळेन्त जो चलन्त के निकट है, प्रेरणार्थक से निकलते हैं, प्रमाण नहीं मिलता क्योंकि इस लिंग के रूप केवल वहीं मिलते हैं जहाँ प्राचीन प्रत्यय में अन्त्य -इ है, विकरण के पूर्वी समुदाय में देखत के निकट देखित्, वर्तमानकालिक कृदन्त के सह-अस्तित्व से भी अंतिम निर्णय नहीं होता। अंत में यह बता देना आवश्यक है कि कुछ स्फुट रूप हैं जैसे कश्० २ बहु० चलिन्, तुल० १ बहु० चलन्।

स्वयं उनका संबंध साधारण विकरणयुक्त की रूप-रचना से है। ऐसी भाषाएँ बहुत कम हैं जिनमें संस्कृत या क्लीबीकृत प्राकृत के प्रत्यय स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। ये विशेषतः विलक्षण भाषाएँ हैं।

सर्वप्रथम तो वे हैं जिनमें क्लीबीकृत संस्कृत के अज्ञात प्रत्यय सुरक्षित मिलते हैं, उदा०

अश्कुन—	वैगेलि—
सेम्	वेसम्
सेस्	वेसे
सेइ	वेसुमइ
सेमिसे	वेसमिसे
(सेम्)	वेसव्
सेन्	वेसप्

अथवा जिनका क्लीबीकृत मध्यकालीन भारतीय भाषा (प्रथम० एक०) में लय हो जाता है

यूरोपीय जिप्सी-भाषा—	नूरी—
कमव्	मनम्
कमेस्	मनम् (मनेक्)
कमेल्	मनर्
कमस्	मनन्
कमन्	मनस्
कमेन्	मनम्द्

पुरा० कोमार सेंद् (बेले) कहलाता एक० ३ चलि यो १ देम् ३ देस् से भिन्न है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के अन्य सामान्य प्रकार के साथ भी सम्बन्ध मिलता है। उनके बिना हमें इन भाषाओं में एकरूपता नहीं मिलती।

मध्यम० एक० का -स् और प्रथम० बहु० का -न्त (ध्वनि-संबंधी रूपान्तरों सहित) पीछे देखी गयी मराठी की गणना किये बिना कुछ भाषाओं में सुरक्षित हैं, उदाहरणार्थ

पोगुलि (कश्मीर के दक्षिण)	नेपाली	पु० मैथिली	बंगाली
"मैं पीटूंगा"	'मैं कमाऊँगा'	"मैं देखता हूँ"	"मैं जाता हूँ"
फार	मरूँ	देखो (आधु० देखी)	चलि चलिस्
फारस्	गरेस् (गर्)	देखसि (देख्)	चल्ह
फीरि	गरे	देखहीं (देखे)	चलो
फारम्	गरौं	देखी (देखी)	चल
फारव्	गर	देखो	चलन्द् (ह)
फारन्	गरन्	देखथ्[६]	चलमि चलेन्

किन्तु उड़िया में था ३ बहु० देखन्ति को सुरक्षित रखती है, २ एक० देनु मिलता है। कश्मीरी में एक अस्पष्ट २ एक० है जिसके संबंध में यह ज्ञात नहीं कि क्या यह २ बहु० बरकुन -थ् -अ १ बहु० अवधी-कनौजी (आंशिक) -अ (भूरी २ एक० -अ स्थानीय प्रतीत होता है) के निकट होना चाहिए। शेष में वह लगभग पूर्णतः पोगुली के साथ-साथ चलता है एक० १ गुप ३ गुपि बहु० १ गुपव् २ गुपिद् (क्या उत्तम पुरुष से संघर्ष बचाने के लिये प्रश्नार्थक के स्वर का आगम ?) ३ गुपन्।

एक० के मध्यम पुरुष की रूप-रचना की एक दुर्बलता प्रतीत होती है। अपभ्रंश में यह निस्संदेह आज्ञार्थ से आता है निश्चयार्थ और आज्ञार्थ की निकटता वास्तव में अपभ्रंश में मध्यम० बहु० करहु द्वारा स्वीकृत है, जो केवल प्रथम पुरुष एक० करउ बहु० करन्तु से आ सकता है, तो भी ? बहु० *करम् अथवा करहु, निश्चयार्थ या स्वभावतः आज्ञार्थ के अनुकूल हो गया है, द्वारा समर्थित। किन्तु दर्पेप-पद ने, जिसे लम्ब बहुवचन में समर्पित प्रदर्शित करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, एकवचन में अधिक कठिनाई पैदा कर दी है जिसमें २ करमि समर्पित या १ करमि और ३ करदि द्वारा कर अर्थमय करेहि अस्पष्ट रूप वाला निश्चयार्थ में इन दोनों का स्थान करहि ने ले लिया है, जो सभी भाँति एकवचन की प्रणाली में समाहित हो जाता है और जो स्पष्टतः बहु० करहु के विपरीत है इस नवीनता से भविष्यत् में -न् सुरक्षित रखने का अधिक काम था।

एक और कठिनाई भी थी जो एकवचन और बहुवचन के उत्तम पुरुष की ध्वनि संबंधी बातों के मिल जाने के कारण है, कम-से-कम अपभ्रंश तथा उससे सम्बद्ध भाषाओं में वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि इस समुदाय में सर्वनाम १ एकवचन हउँ ने उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से प्रभावित एक नवीन प्रत्यय को सामान्य बनाया हो वारुक अनुसासहुं आदि। अपभ्रंश में फिर हु दृष्टिगोचर नहीं होता उस समय जो वह मिलता है वह बहु० में हकार का है, निस्सन्देह -हु युक्त मध्यम पुरुष के तथा संभवतः प्राकृत अम्हो "हम हैं" तथा "तुम" के महाप्राणत्व क प्रभावान्तर्गत।

फलतः है

१ एक० करउँ	बहु० करहुँ (भव० करहुँ)
२ करहि	करहु
३ करइ	

यह पश्चिमी समुदाय का मूल आदर्श है हिंदी में जिसका एक शिक्ष अन्वय दिया जा चुका है और भी जोड़े जा सकते हैं

खड़ीबोली मारूँ	कनौजी मारौं
मारे	मारै
	मारै
बहु० मारहि	बहु० मारौं
मारो	मारा
मारैं	मारन्

तुल गढ़वाली में एक० १ मारूँ २ मारी ३ मार, कुमायूँनी में १ हिटूँ २ हिटइ ३ हिट् भी।

पंजाबी खड़बा के साथ-साथ चलती है, केवल -अए युक्त उत्तम० बहु को छोड़कर जो मध्यकालीन भारतीय भाषा के कर्मवाच्य एक० से निकला प्रतीत होता है, और जो गुजराती में मैथिली में और मध्यकालीन बंगाली में मिलता है।

अन्त में मध्यवर्ती भाषाओं की एक अन्तिम नवीनता है, जिसका प्रमाण अपभ्रंश में मिलता है उसका संबंध प्रथम पुरुष बहु० अ० करहिं से है, जो आज्ञार्थ ३ बहु० करन्तु वर्तमानकालिक कृदन्त एक पु० करन्तु, स्त्री० करन्ति के प्रभाव में दिखाई हुए, ध्वनि-संबंधी नहीं है। यह देखा जाता है कि प्रथम पुरुष एक० करइ, बहु० करहिं का संबंध उत्तम पुरुष एक० करउँ बहु० करहुँ के संबंध से साम्य रखता है जो सामान्य परिणाम उपलब्ध होता है वह है या इसकी द्वारा निर्मित प्रत्यय रूप जिसे -अन्ति ने नष्ट कर दिया।

इस बात का सन्देह रह जाता है कि -अहिँ का प्रमाण उत्तरकालीन प्राकृत में ही मिलता है किन्तु यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि एक ग्रामीण प्रयोग जिसे बाद को अपभ्रंश ने सामान्य रूप में स्वीकार कर लिया जैन धर्म-नियम में प्रचलित हो गया हो।

अपभ्रंश प्रकार गुजराती और राजस्थानी में मिलता है

	गुज०	पु० गुजराती	जैपुरी
एक०	१ चालुं	मार्यो	चालूं
	२ चाले		चालै
	३ चाले	मार्यो	चालै
बहु०	१ (चालिए, किन्तु भविष्यत् चालिशुं)		चालां
	२ चालो		चालो
	३ चाले	मार्यं	चालै

तथा अवधी (लखीमपुरी) में

एक०	चलउँ	बहु०	(चली)
	चलइ		चलउ
	चलइ		चलइँ

इस समुदाय में हिन्दी और ब्रज में एक और विशेषता मिलती है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती और वह यह है कि उत्तम० बहु० का प्रत्यय प्रथम० के प्रत्यय के सदृश है

	ब्रज	हिन्दी बुन्देली
एक०	१ चलउँ चलूँ	चलूँ
	२ चलै	चले
	३ चलै	चले
बहु०	१ चलैं	चलें
	२ चलौ	चलो
	३ चलैं	चलें

दो भाषाओं का एक स्वतंत्र विकास होता है वहीं जिसका संबंध अपभ्रंश से मालूम पड़ने से अधिक है। उसका एक और प्रकार छत्तीसगढ़ी में मिलता है जिसमें

मध्यम॰ और प्रथम॰ बहु॰ के नवीन रूप मिलते हैं किन्तु मध्यम॰ एक॰ का प्राचीन रूप सुरक्षित रखा जाता है

एक॰ पुचउँ	बहु॰ पुचन्
पुचस्	पुचउ
पुचइ	पुचईं

(भोजपुरी में एक साथ 'बारस' और 'बड़' है 'बड़े' साथ ही हो सकता है "वह है" निस्सन्देह हिन्दी का प्रभाव है)।

सिंहली की स्वतंत्र रूप-रचना सामान्य योजना पर आधारित है एक॰ १ कम्(द) (आयामि ?) २ कहि ३ कमि का बहु॰ १ कम्(ह्)उ (क्रिया 'होना' का प्रवेश ?) २ कहु ३ कत्(इ)।

आज्ञार्थ

इसमें विशेषतासूचक रूप प्रथम पुरुष के हैं सं॰ एक -अतु, बहु॰ -अन्तु जिससे एक॰ म -ओ उड़िया -उ बं॰ उक बहु॰ म -ओत् उड़िया -अन्तु, -उन्तु, बंगाली -उन्। देखिए, ओवार एक॰ बिवार्, जो प्रत्यक्षतः ददातु का प्रतिनिधित्व करता है।

मध्यम॰ एक॰ सामान्य रूप शुद्ध मूल है क्योंकि स॰ प्रा॰ -अ लुप्त हो जाता है। साहित्यिक प्राकृत में प्रायः दीर्घ प्रत्यय मिलते हैं करसु, करेसु जिसका प्रत्यय १ एक॰ -सु के अनुकूल बना लिया गया सं॰ -स्व है करेहि प्रेरणार्थक विकरण के साथ प्राचीन अविकरणयुक्त प्रत्यय सं॰ (इ)हि के प्रयोग से बनता है जैन कराहि में यह उसी क्रम सहित मिलता है अप॰ करहि जो उससे जन्म लेता है, जो जैसा कि देखा जा चुका है निश्चयार्थ में भी काम आना चाहिए। करेहि प्रकार ब्रज में सुरक्षित है और उससे उपलब्ध होते हैं पु राज॰ कर, सेवि सांभ करि।

सिंधी में अकर्मक बेह ^उ^ और कर्तृवाच्य मार् ^ए^ में भेद है।

विशेषतासूचक उ स्वर के प्रभावान्तर्गत मराठी में १ एक॰ उँ से युक्त है जो बहु जैसा है।

भविष्यत्

स भविष्यत् जो वर्तमान की भांति हो जाता है केवल एक सीमित रूप में बना रहता है। अपभ्रंश में सामान्य होते हुए भी प्राचीन बंगाली में उसका बहुत कम और सन्देहास्पद चिन्ह बच रह जाते हैं, पंजाबी सिंधी और इसी प्रकार मराठी और सिंहली के प्राचीन पाठों में उसका अस्तित्व नहीं मिलता। पूर्वी हिन्दी और बिहारी में, वह

कृदन्ती रूपों में मिल जाता है। जैपुरी (पर-प्रत्यय -स् है) में मारवाड़ी में और बुन्देली (पर-प्रत्यय -ह्) में उसे समास-रूपों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ता है। उचित रूप में तो वह केवल गुजराती और लहंदा में और भारतवर्ष से बाहर, नूरी में अधिक दृष्टिगोचर होता है कश्मीरी में वह भूत-संभाव्य का अर्थ ग्रहण कर लेता है।

		गुजराती	लहंदा
एक०	१	मारीश्	मरेसाँ
	२	मार्शें	मरेसें
	३	मार्शे	मरेसी
बहु०	१	मारीशुं	मर्साहाँ
	२	मार्शो	मरेसो
	३	मार्शे	मरेसिन

		नूरी	कश्मीरी
एक०	१		गुपह्
	२		गुपहक्
	३	मन्मरि	गुपिहे
बहु०	१	जन्यमि	गुपहव्
	२		पपिहिव्
	३		गुपहन्



नामजात रूप

१ संस्कृत

भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति संस्कृत में क्रिया के मुख्यवाचक रूपों में कुछ नामजात रूप जुड़ जाते हैं एक तो कुछ विशेष्य हैं जो कुछ कारकों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं और वे प्रभाव (reaction) के योग्य होते हैं दूसरे कुछ विशेषण हैं जो वाच्य और काल का अनुसरण करते हुए पृथक् हो सकते हैं।

कार्यवाची संज्ञाएँ । क्रियार्थक संज्ञा पूर्वकालिक कृदन्त

भारोपीय में एक संज्ञा जिसका अर्थ एक क्रियामूलक धातु के निकट पहुँच जाता है स्वयं क्रिया की भाँति प्रभाव की प्रवृत्ति प्रकट करता है इस दृष्टि से वैदिक भाषा में प्रागैतिहासिक प्रयोग मिलता है।

कार्यवाची संज्ञाओं की रचना दो रीतियों से हो सकती है एक ओर तो नाम जात रचना है सोमस्य भूर्षे दूसरी ओर क्रियामूलक रचना धामधाम देवान् और उसी शब्द के सहित सोमस्य दावने अथवा क्रियामूलक मीढ दावने। कुछ संज्ञाओं के विकृत कारकों में क्रियामूलक का प्रयोग सामान्य है और वास्तव में यही हमारी क्रियार्थक संज्ञाओं के तुल्य है अजगुप् न रावसे पारम् एतवे प वा। स्वभावतः ये वाच्य के प्रति उदासीन हैं स्तुपे सा वाम् रातिः न अस्ति तद् अतिष्कवे उसका केवल पूरक भाव प्रदर्शित करता है नान्येन स्तोमो अन्वेतवे।

वेद में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो ध्येय प्रकट करने की प्रवृत्ति वाले कारक में होते हैं कर्म॰ और विशेषतः संप्रदान॰ (अतिरिक्त रूप में कुछ प्रत्ययात अधिकरण॰ शून्य श्रेणी के प्रत्यय वाले प्राचीन संप्रदान दे मेइए, बी एस॰ एल XXXII पृ॰ १९१) और साथ ही उपसर्गात्मक अव्यय और क्रियाओं के जिन्हें उसकी आवश्यकता होती है बाद अपादान संबंध विविध रूप में ईश् के बाद और उसकी यह सामान्य रचना है।

जहाँ तक विकरणों से संबंध है वे निर्मित होते हैं

१ शुद्ध धातु द्वारा दृशे ऋ॰ ८, ४८ १० इत्यम् प्रतिरम् एत्यम् आयु

२ धातु के साधित शब्दों द्वारा कभी-कभी -मन् और -वन् युक्त विद्मने दावने विशेषत चेतन संज्ञाओं द्वारा -न बहुत दुर्लभ है (दुर्लभ ति दुर्लभ) इसका साम्य इस तथ्य से है कि भारोपीय की भाँति वैदिक भाषा में -ति युक्त संज्ञाएँ रचना में केवल बड़ी मुश्किल से मिलती हैं -त्या केवल इत्यैं में प्रयः -तु बहुत मिलता है [द्रष्टु, गन्तवे पातवे (*पातवे वै) गन्तो] अन्त में

३ क्रियामूलक विकरणों के साधित शब्दों द्वारा पुष्यसे (पुष् धातु) ऋञ्जसे (ऋज्) और विशेषत (अ)यै इयध्यै मादयध्यै प्रेरणा०।

ये अन्तिम रचनाएँ, जो अनेक पहलुओं की भाँति ईरान में साम्य रखती हैं क्रिया के साथ संबद्ध हो जाने के दीगमेश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। और वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि क्रियार्थक संज्ञा का एक वर्ग संस्कृत में निर्मित होता है संप्रदान० के रूप प्रारंभ में अन्य की अपेक्षा सतत्ते लुप्त हो जाते हैं और -तुम् जो ऋक के पाठों में बहुत कम है यहाँ तक काम प्राप्त करता है कि क्लैसीकल भाषा में उसका एकाधिपत्य स्थापित हो जाता है। किन्तु साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा संप्रदान० को बनाये रखती है अशोक० अमितवे पा० दातवे (पा० एतसे विचित्र और संदिग्ध है) और स्वयं संप्रदान० की प्रणाली में भाषा नवीन रूप रचती है जैसे पा० हेतुय जो अशोक० भेतवे पा० दक्खिताये (दीर्घत्व निश्चित नहीं है) प्रा० जैन (इ)त्तए जो (इ)तं के निकट है। इसके अतिरिक्त उसमें -अन युक्त संज्ञाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो अन्त में उसे हटा देंगी किन्तु आधुनिक युग में। तो संस्कृत प्रणाली दृढ़ नहीं है।

-ति और -तु युक्त कार्यवाची संज्ञाएँ (और कुछ उनके व्युत्पन्न रूप) जिनका प्रयोग करण० में हुआ है मुख्य क्रिया द्वारा व्यक्त कार्य की पूर्व स्थिति प्रकट करने योग्य हो जाती हैं यह वह है जिसे पूर्वकालिक कृदन्त कहते हैं, दे० अव्यय।

कर्तृवाची संज्ञा। कृदन्त

क्रियामूलक धातुओं से सीधे निकले कुछ विशेषण और कर्तृवाची संज्ञाएँ स्वच्छन्द रूप में क्रियामूलक प्रभाव की रक्षा करती हैं ऋ० कामों अस्य पीतिम् ददिर् पर्ता ते० सं० कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति। पतञ्जलि ने ओग्नं भोक्ता भवति का उल्लेख किया है जिसमें विशेषण एक भविष्यत् कृदन्त का भाव ग्रहण करता है। यह उसी अर्थ में है जो -तर् युक्त कर्तृवाची संज्ञा का विकास करेगा ऋग्वेद में संप्रदान० के अनेक सबंधों के निकट वह कर्म० पर शासन रखने की क्षमता रखता हुआ पाया जाता है हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजम् दाता मघानि

किन्तु भविष्यत् के अर्थ का जन्म होते हुए देखा जाता है १० ११९,९, जिसमें

हन्ताहम् पृथिवीम् मारने के पद के संशयार्थसूचक द्वारा स्पष्ट हो जाता है ओषम् इद् पृथिवीम् अहं बहनानि। यह संज्ञा ही अपरिवर्तनशील होती हुई अब क्रिया के उत्तम और मध्यम पुरुषों में काफ़ी जल्दी अवमूल्य हो जाता है (प्रथम पुरुष में नामजात वाक्यांश के नियम काम आते रहते हैं) उससे भविष्यत् की एक रचना क्रिया-रूपों में शामिल हो जाती है दातास्मि दातासि दाता आदि मध्य में *दातासे २ एक० दातासे के निकट असंभव का स्थान नामजात समुदाय दाताहम् दातासि आदि के आदर्श पर निर्मित दाताहे ग्रहण कर लेता है। पाणिनि के अनुसार भाव एक परिष्कृत भविष्यत् का है वास्तव में पाठों में नियम का स्पष्ट रूप से पालन नहीं हुआ यह प्राचीन समय में एक यथेष्ट दुर्लभ रहने वाले रूप के कारण होता है और जो मध्यकालीन भारतीय भाषा तक नहीं आता।

कुछ विशेषण भारोपीय के समय से न केवल धातुओं के साथ किन्तु क्रियामूलक विकरणों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। वे संस्कृत में हैं

१ धातु के आधार पर निर्मित -त -न युक्त विशेषणों और उनके आश्रित शब्दों से परिणाम दृष्टिगोचर होता है जो -न- युक्त हैं उनसे व्यय प्रकट होता है व्युत्पन्न और जुड़े हुए एक या दूसरे के साथ।

२ विकरणों के आधार पर नियमित रूप में विभाजित और प्रभाव के प्रति प्रवृत्ति रखने वाले उचित रूप में कृदन्त।

अस्थायी कृदन्त

वे हैं जो भारोपीय रचनाओं पर आधारित रहते हैं, किन्तु उनसे साम्य नहीं रखते। कर्तृवाच्य में हैं

१ -अन्त् पर अथवा -अत् के साथ परिवर्तनीय वाले कृदन्त। अविकरणयुक्त पु० एक० कर्म० सन्तम्, संबंध सतः का साम्य है ग० हुर्न्तम्‌र्मम् इतो से। विकरण युक्त में भारतीय भाषा में यही परिवर्तन कम है भवन्तम् संबंध० भवतः किन्तु अवेस्ती में सबत्र अनुनासिक है यमुन्त्‌र्मम् यमुयन्तो। द्वित्वयुक्त अविकरणयुक्त क्रियाओं में संस्कृत नियमित रूप से -अत् का प्रयोग करती है ददतम् ददतः यह एक भारतीय विशेषता है, संभवतः प्राचीन अव्यवस्थित विशेषता।

२ -वांस् वाले पूर्ण कृदन्त -उष् कुछ रूपों में जिसका स्थान -वत् ग्रहण कर लेता है, जो भारोपीय है किन्तु विभाजन किसी अंश में समान नहीं है, और -वत् ईरानी में नहीं है।

मध्य में दो रूप हैं जिनका विभाजन काल का अनुसरण करते हुए नहीं किन्तु

विकरणों का अनुसरण करते हुए होता है। अविकरणयुक्त के साथ -आन जो भार तीय-ईरानी है विकरणयुक्त के साथ (आ)मान जो वास्तव में भारतीय है और पहले के साथ *न भारतीय-ईरानी में सामंजस्य से उत्पन्न होता है (दे० बौवनिस्त बी० एस० एल० XXXIV पृ० ५)। जहाँ तक अशोक० पूर्व और अपरंगमुक्त के -मीन रूप से संबंध है क्या यह प्राचीन *-म्[ओ] मो- है जिससे -मान की रूप से साम्य प्राप्त *-मिन निकलता है? सं० आसीन आस्ते से और मेर्ध से प्रा० मेलीय की भी गणना करना आवश्यक है जो स्फुट है।

कृदन्तों में वाच्यों का पुनर्विभाजन केवल गौण रूप से निश्चित है वेद में (म्)मान युक्त कृदन्त ऐसी से कर्तृवाच्य पुरुषवाचक रूपों से साम्य रखते हैं विपर्यस्त रूप स्पष्टतः अधिक दुर्लभ है। वास्तव में -मान जो अकेला निरंतर रूप में है, बौद्ध और जन धार्मिक नियमों में उपलब्ध कर्तृवाच्य क्रियाओं के वर्तमान के विकरणों तक प्रसारित होता है (पा० अशोक० समान अस्थि का प्रा० समाण आदि)।

क्रियामूलक विशेषण

१

ईरानी और भारोपीय की भाँति संस्कृत में -त (-अय युक्त अनुत्पन्न रूपों म इत-) युक्त विशेषणों से धातु द्वारा ज्ञापित प्रक्रिया का परिणाम प्रकट होता है भूत (भू-) अ० बूत मृत (मर्), अ मर्ऐत मर्त- युक्त (युज्) अ० युख्त पृष्ट (पृच्छ्-) अ० परृस्त जात अ० जात [जन्(इ) से] आयित (मि) अ० मित श्रुत (श्रु) अ श्रुत। यह देखा जाता है कि क्रिया के साथ संबंध अर्थ-विचार की दृष्टि से निश्चित नहीं है तो भी वह काफ़ी सीमित है जिससे कि जहाँ तक वह कर्मवाच्य में आता है, यह विशेषण उससे भूतकालिक कृदन्त हो जाता है रचना अत्यन्त नियमित है। वा धातु में छोड़ कर, जिसमें स्था-स्थात और दत्त का पुनर्निर्माण दित से संघर्ष बचाने के लिये किया गया है, धातु की शून्य श्रेणी निरन्तर रूप से मिलती है, उस समय तक कि वह अकेली में नहीं है।

संस्कृत में -न अंकत विशेषण को वही कार्य सौंपने में नवीनता का प्रवर्तन किया है जो वास्तव में उसके मूलों द्वारा था उसकी रचना और उसका अर्थ पहले के सदृश था भारतीय-ईरानी ने उससे काम लिया अ० फ्रीनाम्स ग्री० "फिल्-दप्नोत्" तुल० पीणयति और दूसरी ओर वैदिक प्रीत जिसका व्यवहार घोड़ों के लिये हुआ तुल० हृथा-मित्र ऊन अ० ऊन "अपूर्ण" एक धातु के साथ सम्बद्ध हो जाता है जिसका अ० ऊयम्न मग्न *वर्तमानकालिक कृदन्त है किन्तु स्वयं क्रिया नहीं मिलती। जहाँ कहीं यह है,*

रचनाओं का अनिवार्यतः पुनरुद्धार नहीं होता सं० पूर्ण से भिन्न अवेस्ता में पूर्म/पूर्न है।

यह संस्कृत की मौलिकता है कि उसमें यह विशेषण एक नियमित कृदन्त बन गया है जो प्रधानतः अन्तस्थ (अन्त: वर्ण) वाली अक्षरात्मक धातुओं में पाया जाता है पूर्ण (पूर्त) का एक विशेष अर्थ हो गया है स्तीर्ण कुछ धातुएँ दीर्घ स्वर वाली होती हैं हीन जो हा (हित कृदन्त है या से) जहित से भिन्न है दा से (अन्य धातुओं में दा के कृदन्त है दित्त दत्त) दिन अंत में वर्ण्य में अन्त होने वाली धातुएँ भिन्न जो भिद् से है स्कन्न जो स्कन्द् से है।

तो भी क्रिया के साथ सम्बद्धता घनिष्ठ नहीं है और रचना असाधारण रूप में रहती है मै० सं० पत्नू कीर्ता सती स सं० अस्य प्रीतानि। वाच्य निश्चित नहीं है गतौ अथवा "गया हुआ मार्ग किन्तु गत का साधारण अर्थ होता है जो गया है"। स्वयं काल अनिवार्यतः भूत नहीं है पूर्व की भाँति इस विशेषण के विविध भाव है। यह ऋ० १ ११० १ में प्रवेशसूचक वर्तमान के विरोध द्वारा भूत का अर्थ द्योतित करता है ततम् मे अपस तद् उ तायते पुनः। भगवद्गीता २ २७ में है जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर् ध्रुवो जन्म मृतस्य च। किन्तु इससे पहले के छन्द में है अथ चैनं नित्यजातम् नित्यं वा मन्यसे मृतम् (अनु० मनार्थ)।

यही भाव है जिससे इस बात का पता चलता है कि किस सरलता के साथ ये विशेषण विशेष्य हो जाते हैं जातः जातम् जीवितानि भूतानि आशितम् भुक्त पा० गतं सन्मार्गे गतं। अवित से अथर्ववेद में अन्य सभी विशेष्य की भाँति और उसी संधि सहित (अवतावन्त्) संबंधवाची एक विशेषण मिलता है ६, ६ ३८ (गद्य में भाषा) अवितावत्य् अतिथाव अश्नीयात्। प्रथम बोध का क्रियामूलक भाव जितना शक्तिशाली होता है, उतना ही इस विशेषण में कतृवाच्य पूर्व० कृदन्त से तुल्य होने की प्रवृत्ति रहती है, जो स्वयं प्रयोग द्वारा प्रकट होती है। कृदन्तों का प्रयोग केवल पूर्व० क्रियाओं के भाव सहित होने की संभावना प्रकट करते हुए, पतंजलि ने एक ही चरण में रखा है कव यूयम् उपिताः, किं यूयं तीर्णाः ? तथा दूसरी ओर किं यूयं कृतवन्तः ? किं यूयं पक्वन्तः ? (पक्व तुल० प्रा पक्क पच् वाले कृदन्त का नाम देता है)। सच तो यह है कि -वन्त् युक्त नवीन कृदन्त का विकास जैसा कि देखा जाता है, केवल अस्थायी रहा है।

२

जब कि -त युक्त विशेषण भूतकाल का भाव प्रकट करने की दृष्टि से अपने को क्रिया-रूप के साथ सम्बद्ध करने वाले होते हैं अन्य विकरण जो भारोपीय के समय से

संभावना या लक्ष्य प्रकट करते हैं भविष्यत् की नामजात अभिव्यंजना को संभव बनाते हैं।

दोनों जीवित नहीं रहे -तु(उ)व (हृत्व अ० वे अvे) ऋग्वेद के एक वचन शब्दों में केवल मुश्किल से मिलता है -अत और तुकम है जिसका रूप बहुना चाहिए, कम विशेषतामूलक था यजत अ० यजत पर्वत तुल० अ० मुस्तूवत ।

इसके विपरीत (इ)य प्राय मिलता है वर्(इ)य अ० दर्श्य एक अन्य स्वर-प्रणाली में वृष्(इ)य भव्य और भाव्य वैय। वेद के समय से ही यह पर-प्रत्यय व्युत्पन्न विकरणों तक तथा विभिन्न मूलों तक प्रसारित हो जाता है उदा अवार्य्य जो प्रेरणार्थक के आधार पर निर्मित है स्तुर्येय्य जो क्रियार्थक संज्ञा स्तुषे के अनुकरण पर निर्मित हुआ है दिदृक्षेय इच्छार्थक विकरण के आधार पर निर्मित हुआ है करेण्(इ)य जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती किन्तु जो प्राय मिलता है और गौण विकरणों के अनुकूल है दिदृक्षेण्य वावृधेन्य अस्तव और विशेषतः, क्रियामूलक संज्ञाओं के अनुकरण पर, मृत्य अनानुकृत्य चरकृत्य। अथर्ववेद में दो और नये प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं एक तो विशेष्यों से निकला है प्रारम्भ में केवल समास-युक्त विशेष्यों से आमन्त्रणीय (आमन्त्रणम्, -अन -अना युक्त संज्ञाओं के क्रियार्थक संज्ञा के निकट भाव की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है) अंत में दूसरे, -तव्य जो प्रागैतिहासिक प्रतीत होता है (ग्री -तेओस्) -तु युक्त विकरणों के साथ हर परिस्थिति में सम्बद्ध हो जाता है और अप्रत्यक्ष रूप से -तु(उ)व युक्त विशेषणों से सम्बन्धित हो जाता है किन्तु यह -त युक्त क्रियामूलक के समीप भी रहता है और फलत -तवन्त् युक्त नवीन कृदन्त से और यहीं से उसके विकास का सूत्रपात होता है।

कृदन्तों में वाक्यांश में विविध रूप में आने वाली संज्ञाओं के साथ स्थान पाने की प्रवृत्ति पायी जाती है ऋ ४ १८, १२ अपृ र्कस त्वाम अभियासत् चरन्तम्। इसके लिये वे अपनी क्रियामूलक प्रभाव की शक्ति का लोप नहीं कर देते ४ १८ ११ अथाब्रवीद् वृत्रम इन्द्रो हनिष्यन् १ ४५ ४ अहूषत रोजन्तम् अध्वराणाम् अग्निम् १ १४८ २ जुष्ट विदान्य् अस्य कर्मोपस्तुतिम् भरमाणस्य कारो। सच तो यह है कि स्थान प्राप्त कृदन्त मुख्य कारकों में स्वच्छापूर्वक आता है, और प्राय परिपूरक बिना रहता है। और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका प्रयोग जारी रहता है जातक ५, २९० योविसस पि किलन्तिम्रिय बीयिय यच्छन्त अम्न्तरा हत्थी विस्वा।

वर्तमानकालिक कृन्त को बहुत कम वाक्य-विन्यास-संबंधी स्वतंत्रता है। वह स्वच्छन्द रूप में कुछ ऐसी क्रियाओं के साथ आता है जो किसी परिस्थिति या क्रियाशीलता का द्योतन करती हैं विश्वम् अन्यो अभिचक्षाण एति किन्तु नामजात वाक्यांश का

इतनी स्वतंत्रता नहीं है कि वह क्रिया का स्थान ग्रहण कर ले इस प्रकार के जो कुछ उदाहरण मिलते हैं १ १७१ ४ १ १९ २ केवल संभावित हैं। उसके संबंध में वही बात नहीं है जो क्रियामूलक विशेषणों के संबंध में है। -त युक्त क्रियामूलक ऋ० १ ८१ ५ न त्वांवाह इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते में पुरुषवाचक रूप के प्रतिकूल पड़ता है। यही बात भविष्यत् कृदन्तों के लिये है रिपवो हव्यास न एक ईद् र्वव्यष् वरयतीनाम्।

प्रथम पुरुष का प्रयोग होने पर उसका प्रयोग अधिकाधिक हो जाता है। जब यह प्रयोग अन्य पुरुषों में हो जाता है, अथवा वर्तमान की अपेक्षा अन्य कालों में हो जाता है तो या तो कुछ सर्वनाम आते हैं, या अस और भू अथवा काल को बताने वाले आदि ऋ० युक्तस ते अस्तु दक्षिण महा० केनास्य अभिहृत किमर्थम् अभिहृत।

इस प्रकार प्रयुक्त होने पर, -त युक्त क्रियामूलक उसे पूर्ण करता है, और फिर पूर्ण में उसके प्राचीन प्रयोग का स्थान ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि स्वच्छन्द रूप से उसका प्रथम पुरुष में प्रयोग पाया जाता है 'अग्निर् उपसमाहितो भवति' कहे जाने योग्य है 'अग्नि अपन को जली हुई पाती है' न कि 'जलायी गयी है'। किन्तु काल की दृष्टि से यह प्रयोग सीमित रहता है।

कर्मवाच्य अर्थ वाला क्रियामूलक करण० के पूरक होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है और अर्थानुकूल (स्थायीभित) कार्य के कर्ता को प्रकट करता है। उदाहरणार्थ ऋ० ८ ७९ ४ अयं ह येन वा इद स्वर् मरुत्वता जितम्।

यह रचना जो निस्सन्देह शुरू में उन संबंधवाची वाक्यांशों में अधिक आती है जो पुरुषवाचक क्रियाओं के अधिक सरलतापूर्वक प्राप्त होते हैं प्रधान तक प्रसारित हो जाती है। यह एक प्रधान में ही है कि कर्मसूचक का कृदन्त पाया जाता है किन्तु बिना करण० की संज्ञा के अथर्व० ५, १८, ९ न ब्राह्मणो हिंसितव्यो 'ग्नि' प्रियतनोर् इव।

इसी प्रकार गिरनार पर अशोक० में पढ़ने को मिलता है इदं धमलिपी दे(वा)न प्रियेन प्रियदसिना राञा लेखापिता। इध न किंचि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं न च समाजो क(त)व्यो।

स्नातक-माला में सुमि(हुकं) सव उपपते (उपेते) की ओर मया(मे) सव उपपति (उपपित) की तुल्यता दृष्टिगोचर होती है।

एक विशेष कारक वह है जिसमें मर्तृ कर्ता का क्रियामूलक सामान्य कर्मवाच्य मकृत्क की क्रिया के तुल्य है जैसा कि बताया जा सकता है (किन्तु शायद ही कभी प्राचीनकालीन में) प्रा० पा० तप्पते मै० सं० जप्यते सम् अमत ऋ० में भी मदृभित वे बराबर मिलता है। यह क्रियामूलक विशेषण अस्वाभोगतया अर्थानुकूल (स्थायाभित)

कर्ता के करण० के साथ सम्बद्ध हो सकता है, जै० सं० तस्मात् समानत्र तिष्ठता होतव्यम् मै० स० अग्निहोत्रिणा नादितव्यम्।

फिर संस्कृत में एक नवीन अतीत काल है किन्तु नपुं० अथवा कर्मवाच्य वर्ग का सबुध कर्तृवाच्य के भाव के साथ न रहने वाला -तवत् युक्त व्युत्पन्न का विशुद्ध क्लेसीकल प्रयोग (मनु में सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है) उसी से है।

दूसरी ओर वेद में ज्ञात छ बन्धनसूचक कृदन्तों में से जो -य युक्त और -तव्य युक्त हैं (जो अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होते हैं) वे हैं जो धीरे-धीरे संभावना के भविष्यत् का कार्य करने लगते हैं किन्तु यह बाद का विकास है, जो अयुक्त कर्मवाच्य के विकास के साथ-साथ चलता है।

२ मध्य भारतीय भाषाएँ

कृदन्त

ऊपर जिन भूतकालिक रूपों पर विचार किया गया है उनमें से केवल वर्तमान कालिक कृदन्त और भूतकालिक और भविष्यत्कालीन क्रियामूलक विशेषण आधुनिक काल तक आते हैं। पाली में तो वैसे ही भविष्यत् कृदन्त नहीं मिलता (प्री० हॉपाक्स् मरिस्सं कर्म तुल० सतीमं जो सतिमा का कर्म० है)। प्राचीन पूर्ण० कृदन्त केवल क्रिया-रूप के स्फुट रूपों में अधिक मिलता है विद्वस् नये प्रकार विदु, विदुसु वास्तव में विशेषणों के हैं -तवत् युक्त विशेषणों के समीप -ताविन् युक्त तुल्य रूप हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि वे कृदन्तों की अपेक्षा विशेषणों की भाँति अधिक हैं भुत्तवत् और भुत्ताविन् तुल० अ० मामावत् और मामाविन्। किन्तु दोनों रूप बहुत कम मिलते हैं साथ ही भूत को प्रकट करने के लिये -त युक्त क्रिया से एक सरल और लचीली प्रणाली प्राप्त होती है और इस भूत० के -त के साथ अशोक० -तव्य पा० -तब्ब- भविष्यत् में आकर इकट्ठे हो जाते हैं। किन्तु इसका एक गंभीर परिणाम निकलता है सामान्य क्रिया में वर्तमान० सकर्मक है या अकर्मक किन्तु भूत० और भविष्य० कृदन्त अनिवार्यतः अकर्मक या कर्मवाच्य होते हैं तब से वर्तमान सकर्मक के मुकाबले में भूत० और भविष्य० अनिवार्यतः कर्मवाच्य रचना के होते हैं। यह द्वित्व आधुनिक क्रिया के मूल में है।

इसके अतिरिक्त भूत० और भविष्य० "कृदन्तों" का महत्त्व वर्तमान के आधार पर अंकुरित होता है, और वर्तमान० कृदन्त जो प्राचीन भाषा में तथा साथ ही मध्य कालीन भारतीय भाषा में कभी पुरुषवाचक क्रिया का स्थान ग्रहण नहीं करता तुल्य होकर समाप्त हो जाता है।

वर्तमान० कृदन्त

रूप

वर्तमान० कर्तृवाच्य कृदन्त जो पाली में प्राचीन रूप रचना को सुरक्षित रखता ही है (पु० एक० कर्ता तिट्ठं कर्म० तिट्ठन्तं बहु० संबंध० तिट्ठतं) पूर्णतः विकरण युक्त संज्ञा-रूप में चला जाता है (प्रा पु० एक० चालन्तो बहु० चालन्ता) और यही नवीन रूप है जो इस महाद्वीप की आधुनिक भाषाओं तक चला आता है चाहे लाहंदा रूप में पु० मरदा वेंदा करीदा करिजदा तुलसीदास सुनत[म] प्रविसत[म] बुन्देली आत् देत् ब्रज पु० मारतु, स्त्री० मारति आदि चाहे (और यही रूप है जिसने सामान्यतः पहले का स्थान ग्रहण किया है) व्याप्ति-युक्त सहित हिं० पु० एक० करता पु० राज० करतो कौशली (तुल० प्रा० किज्जइ, सं० क्रियते) पुरानी गुजराती लखी पढ़ीती उड़िया देखन्ता -न्त् के पश्चिमी प्रयोग सहित प० मारेन्दा मारन्दा मारदा सिंधी हलन्दो, मारीन्दो। मैथी में अव्यय वर्तमान है कुटान्त् 'मैं पीटता हूँ' तू पीटता है हम पीन्ते हैं आदि' दित् (*देन्तो) "वह देता है" जो निस्सन्देह उसी कृदन्त पर आधारित है इसके विपरीत कश्मीरी में कोई समान रूप नहीं है और महानय प्रकाश (ग्रियर्सन § २४१ तुल० § २४०) में संकेतित -अन्द युक्त कृदन्तों के कर्ता बहु० संभवतः, इसके विपरीत क्रियामूलक प्रथम पुरुष हैं जो उनसे रहित नहीं मिलते।

मध्य कृदन्त जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रचलित थे ही कुछ आधुनिक रूपों में फिर मिलने लगते हैं। इसलिए परवर्ती सिमान् सं० म्रियमाण से (टर्नर, 'पोजीशन ऑव रोमनि' पृ० ३३) कलाश हैमन् वीमन्। तो भी यह स्वीकार करना चाहिए कि इस कारक में कृदन्त परवर्ती म एक पुरुषवाचक क्रिया-रूप प्रदान करता है क्योंकि *ध्वीमम् कृदन्त है *ध्वीमेम् ध्वीमेस् का और फलतः वर्तमान *ध्वी-म् का एक विस्तरण है जो *ध्वी-म् भूतकालिक विकरण *ध्वी-त् के प्रतिकूल है, जिसका की त् संस्कृत-त को बनाये नहीं रखता जिस भी (भूत) से आना जा सकता है अथवा जो रूपऐ (भात्) के प्रतिकूल है। क्या यह भाव दिखाना आवश्यक है कि ईरानी पदों में एक -अमान् युक्त पूर्वकालिक कृदन्त (ग्रस्मान्) है जो यद्यपि अस्पष्ट है?

भविष्यरणयुक्त कर स० -आन साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में बहुत कम मिलता है। इसलिए यह जानकर आश्चर्य होता है कि उसमें एक भविष्य का भाव प्रकट हो जाता है यह चाहे खास भारतवर्ष के कर्मवाच्य कृदन्त में (भूत के अर्थ में) हो चाहे दर्द और सिंहली (कल कथन) में कर्तृवाच्य कृदन्तों में हो पहले की दृष्टि से यदि स्वच्छन्दतापूर्वक स्वीकार किया जाता है कि -अमान के प्रायमिक अनुनासिक का

असामयिक लोप हो जाता है किन्तु उस युग में उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता जब कि प्रेरणार्थक का उदाहरणार्थ -य् सुरक्षित रहता है दूसरे की दृष्टि से पाली में प्रयुक्त -अन युक्त संज्ञाओं में बराबर लोप पाया जाता है विशेषतः समासों के प्रथम अंशों की भाँति दीहि पावेहि विचरण-भक्कट हेट्ठा बसनक नायराजा किन्तु आधुनिक रूपों का विश्लेषण निश्चित नहीं है और दर्व का दीर्घ मात्रा-काल तो कठिन रहता ही है।

कहीं अनुमन् विनागन् (क्रियार्थक संज्ञा से निकले) प्रकार में तो उन्हें पहिचानने में और भी संकोच होता है जो अनेक् और मन्ने (जो -अन्त् युक्त कृदन्त में भली भाँति प्रदर्शित होता है) के साथ सह-अस्तित्व प्राप्त करते हैं। अस्तु न वर्तमान अनुनासिक विकरण पर आधारित रहता है जो जैसा कर्तृवाच्य कृदन्त म वैसा ही अन्य में भली भाँति व्यक्त हो सकता है तुल० कोन् (स्ति)। काश्मीरी में एक कर्तृवाची संज्ञा गुप मन्[उ] है स्त्री० बुम्[उ] पु० कश० वसवाने स्त्री० वालि जो क्रियार्थक संज्ञा क्रियामूलक संज्ञा गुपुन् के निकट है, विकृत रूप गुपोन्[ए] सं० गोपन यह इन रूपों का सम्बन्ध गुपान् के साथ संबंध है जो वर्तमान का निर्माण करने के काम आता है बोह छुस् गुपान् ? यह कहा जा सकता है कि पहलवी -आन् अब भी मध्य रूप में सुरक्षित है यहाँ यह एक संयोग की बात है, जिसका मूल चाहे प्राचीन हो चाहे उधार लिये जाने के कारण यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इसी क्षेत्र में ईरानी प्रकार के इक युक्त प्रकार प्रचलित हैं।

पु० राज० -आणी उत्तर की गुजराती और दक्षिण की सिंधी -आणो की कर्मवाच्य कृदन्तों (भराणो मराणो) से उत्पत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है यदि इन भाषाओं म -आ युक्त कर्मवाच्य का रूपभाव न होता यदि भविष्यत् के द्योतक समान रूप न होते (सिंधी मारिणो कर्तृवाच्य विकरण से मीली पढ़ाणो) यदि अन्त में समान स्थिति से निकली स्पष्ट संज्ञाएँ दृष्टिगोचर न होतीं कबीर की रचनाओं में बिकानो है किन्तु साथ ही गरबानो भी। इसी प्रकार बंगाली के कर्मवाच्य कृदन्तों को जो मत्यतः -आ युक्त प्रेरणार्थकों (उधार लिये गये ? इस समुदाय की अन्य भाषाओं में ऐसा नहीं मिलता उलटे असामी करमी ता जुगामा था का बंगाली से साम्य नहीं है) से निकले प्रतीत होते हैं चला करा प्रकार के मप्० अर्थ वाले कृदन्तों से निकला हुआ माना जा सकता है बंगाली सुखान हरान किन्तु साथ ही कराण तथा एक संज्ञा से उत्पन्न टेन् गान।

प्रयोग

यह देखा जा चुका है कि भारोपीय की भाँति संस्कृत में वर्तमानकालिक कृदन्त वाक्यांश के किसी भी विशेष्य से सम्बद्ध हो जाता है यद्यपि कम-से-कम सिद्धान्त में

किसी कारक या किसी वचन में हो। यह स्वतंत्रता संपूर्ण मध्यकालीन भारतीय भाषा-काल से लेकर आधुनिक भाषाओं के प्रारंभ तक बनी रहती है।

अपभ्रंश के उदाहरण

ध्वन्यालोक नवम् स (पिशेल 'मैटीरियलेन' पृ० ४५)

मह मह त्ति भणन्त-अहो वज्जइ काणु जणस्सु।

सरस्वती कंठाभरण वराम स० (वही पृ० ४९)

दिट्ठि पिअ पर्इं सम्मुह जन्ती।

पिअ पन्थहिं जन्तउं पेक्खमि।

भविसत्तकह एकादश स०

२१ १ माणु विरज्जमानु पेक्खन्ती परिचिन्तइ मणि वेइज्जन्ती।

५७ ८ पेक्खइ ताम समुद्दि वहन्तई जवहन्तई।

१५६ ३ विहयई तीस मयई चिन्तन्तिए अणुदिणु पुत्तागमणु सरन्तिए।

इस वाक्यांश में यह देखा जाता है कि कृदन्त में एक परिपूरक है।

किन्तु ज्योंही किसी आधुनिक भाषा से काम पड़ता है, कृदन्त केवल मुख्य कारक में मिलता है अन्त में कर्मकारक के साथ सहित

दे० बंगाली (कृष्ण)

मुइ आच्छन्ते कोम न पेक्खइ।

तुर मासं तब आच्छन्ते न देखइ।

तुलसीदास

तब सखी मगुणक-माल करत्।

आवत् जानि भान् कुलकेतु।

चरत् परत् नृप राम् निहारे।

पु० पुन०

शिष्य शास्त्र पठती
शिष्याई शास्त्र पठीती } हुईं सीखतईं

जिसके निकट विकृत कारक केवल पूर्व रचना में हस्तक्षेप करता है

मोनारिई गाए दोहितिए चैतु आविउ (गोपालेन गावि दुह्यमानायाम्)।

यूरोप की जिप्सी भाषा में कर्ता० एक० पु० परोक्ष प्रयोग में बद हो जाता है इंबेरियन रोविन्द्रो (ग्रीक और बोहीमियन में कर्ता० क -स् द्वारा व्याप्ति रोविन्द्रोस् चार देने वाली -ने द्वारा रूमानियन और जर्मन में रोविन्द्रोइ)।

किन्तु जिस समय से कृदन्त किसी भी शब्द के साथ सम्बद्ध होने की प्रवृति नहीं

रखने लगता उसका कार्य बदल जाता है। ऐसा उदाहरणार्थ मराठी के व्याप्ति-युक्त रूप में देखा जाता है जिसमें केवल विशेषण अधिक होता है म० वाहात पाणी पु० म० पथियन्तीं ठायीं बाहत शाड तथा इसी प्रकार असामी चीयद् माझ् के अव्याप्ति-युक्त रूप में। वह असामी रडोंता करोंता मुजराती जता आवता नो वेचो में विशेष्य हो जाता है। प्राचीन भाव प्रदान करने के लिये उसे सहायक क्रिया विशेषत 'होना' के कृदन्त के साथ सम्बद्ध करना आवश्यक है पु० राज जागती हुँती देखदी करती हिन्दी जरासन्ध् भी यों कहता हुआ उन्के पीछे दौड़ा।

वास्तव में प्राचीन कृदन्त के इसके बाद केवल दो प्रधान कार्य अधिक रह जाते हैं कर्तृकारक में वह पुरुषवाचक रूपों का स्थान ग्रहण कर लेता है विकृत कारक में उससे पूर्व रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

१

नामजात वाक्यांश के सिद्धान्त की दृष्टि से यह निश्चित है कि वर्तमानकालिक कृदन्त स्वयं अपनी वर्तमानकालिक क्रिया का भाव रखे। वास्तव में यह केवल बाद को होता है और संभवत भूतकालिक कृदन्त के साथ सादृश्य के कारण। पुरानी मराठी म मिलता है

उदक ते आलाण असत।
तेय तिन्ही लोक असमलीत।
तेथ समुद्रअस्^{म} उसळत्^{अ} कैलासवरी।

और व्याप्ति-युक्त रूपों के साथ मी करता (पु०) ती होती ते मर्ते।

तुलसीदास की रचनाओं में

राउ अवधपुर चहत सिधाए।
सिराति न राति।

इसी प्रकार सिन्धी कविता में है।

दर्द (दे० ऊपर) और पंजाबी (डोगरा आउँ मारदा) को छोड़ कर यह प्रयोग आज दुर्लभ है यह देखा गया है कि वास्तविक वर्तमान का भाव एक सहायक के जुड़ जाने स प्राप्त होता है। इसके विपरीत कुछ भाव अनिश्चितता के अर्थ से निकलते हैं अर्थात् अनद्यतन भूत० और भविष्यत्।

भविष्यत् का भाव सिन्धी में देखा जाता है हुसन्दो, हुसन्दी हुसन्दा हुरसन्दिँ। उत्तम और मध्यम पुरुषों में पर-प्रत्ययों द्वारा गुण निर्धारित होने क संबंध मे दे० आगे।

हिमालय में जौनसारी पु० मारदा स्त्री मारदी भविष्यत् क सभी मध्यम और

प्रथम पुरुषों में काम आते हैं। किर्तनिया में इस रूप का विशेष्य बाक्य भाव है और यह नकारात्मकता सहित संभावना का भाव ग्रहण कर लेता है

माहु र निंह पाओ।
तेरे निंह हेउन्तो जाग्नि।

यहाँ मैथिली-मगही समुदाय के प्रथम पुरुष की और पूर्वी बंगाली में भविष्यत् के मूल की गणना करना आवश्यक है से देखिए।

दूसरी ओर अपभ्रंश द्वारा अनद्यतन भूत का भाव प्रमाणित है उदाहरणार्थ पिशेल कृत 'मेटीरिअलन' का छन्द ३ देखिए, जो एक वर्णन है अथवा भविसत्तकहा का यह वाक्यांश जिसमें दो प्रकार के भूत० परस्पर विरोधी रूप में आते हैं, २९४ ५

जो चिर अम्मिमित्तु चिर होन्तओ सो एव तिरूपवीज संपत्तओ

इसी प्रकार पुरानी राज० में

मरण नै विगंप्रति ओळम्बी देती।

वही से गुजराती प्रवृत्ति भूत (बकतो) और हिन्दी अपूर्ण (बकता) है।

किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में एक भाव मिलता है, जो अनिश्चित और भूतकाल के योग का परिणाम है यह अवास्तविक संभाव्य है। अपभ्रंश के लिये दे० भविस पृ ४१* तथा पिशेल 'मेटीरिअलेन' पृ० ११ छन्द ३५१।

पु० राज०

जै राम द्वेप न हुत तो कींन बीज पुण पामत।

तुलसीदास

जौ पै प्रिय न होति कुटिलाई।
हुता जनम न भरत को।

गुजराती

जो तमे आव्यता हँत् तो तमने पाप् न होत्।

पंजाबी

जा मै बसनदा।

हिन्दी

जो मैं जानता तो कभी नहीं जाता।

मराठी में प्रत्यय के युक्त अंश से वर्तमान के संभाव्य का भाव किया जाता है पु० म० तरि मी न म्हणता जरि न देगता यह वर्तमान से भिन्न है करितो (विस्तार के लिये देखिए अंत में दाखेरे बी एम ओ० एस० पृ० ५६५)।

मराठी में भी बराबर क्रियापद-युक्त संभाव्य मिलता है पु मं० दलितों

करैतन्हि वास्तव में जब कि प्रत्यय प्रथम० एक० पु० अन् स्त्री० -अत् वर्तमान को निश्चित कर देता है तो -ऐत् स्त्री -एत युक्त समाप्य को निश्चित कर देता है। असामी में (मध्यकालीन असामी से आगत) एक तुलनीय रूप मिलता है

कथिबां मरिला जय ना भाविल कान्ह।

इसी प्रकार उड़िया में है और असामी में निश्चित कृदन्त है तो न् में उनका चिन्ह विद्यमान है जो उसे भूत से सम्बद्ध करता समय क्रिया को समाप्य का भाव प्रदान करता है।

२

संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वच्छन्दतापूर्वक अनुकूल कृदन्त से युक्त गौण कारक में विशेष्य का प्रयोग होता है जिसमें अप्रत्यक्ष पूर्व सर्ग का भाव निहित रहता है (कुछ समुच्चयबोधक के फलस्वरूप प्राप्त पूर्व कर्ता० दुर्लभ है)। जो कारक वेद में आया है वह अस्थायी भाव वाला अधिकरण है प्रयत् वेम्बरें, उछन्त्याम् उपसि सर्व उग्निते। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ मनोवैज्ञानिक भाव प्रकट होते दिखायी देते हैं वर्षति राज्ञ्यां भूतायाम्। इसी प्रकार पूर्ण सवय० जो इन्हीं पाठों में दृष्टिगोचर होता है बाद को अनावरे भाव ग्रहण कर लेता है स्वत प्राव्राजीत् किन्तु यह एक गौण विकास है। पाली में नियमित रूप से आयं गतं सुरियें पच्छन्देसु सकन्देसु।

आधुनिक भाषाओं में यह प्रणाली सुरक्षित बनी रहती है कि विभिन्न विकृत रूप स्वभावत प्राचीन अधिकरण का स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसा प्राय विकृत रूप पु० एक० से होता है

पु० राज०

मवि बरसतइ मोरा नाचईं।
गायालिहिं गाए दोहितीए चैनु आविउ।

तुलसीदास

देखत् तुम्हीं नगर जेहि जारा।

उड़िया

भक्तन्ते मेदिनी कम्पै।

प्रधान पूर्वसर्ग के कर्ता वास्तविक या अर्थानुकूल (न्यायानुकूल) में व्यवहार द्वारा कृदन्त का लोप हो जाता है, किन्तु बिना उसके साथ साम्य रखते हुए तो फिर पूर्ण रचना तक ही अपने को सीमित रखना पड़ता है

मुहम्मद जायसी

जों मूल भावतहि।

पु॰ बंगाली

चलिते चलिते तोर झुमुझुमु बाजे ।

बंगाली

से नाचिते नाचिते आसे ।

हिन्दी

तुम गाते गाते सीती है ।

इसी प्रकार नेपाली बाजुदा (विकृत॰) आदि (अवि॰) उड़िया देखन्ते आसाम

पाए जाते हैं।

इस प्रकार कृदन्त सचमुच क्रियामूलक संज्ञा हो जाता है जो एक उपासर्गात्मक

अव्यय द्वारा निर्धारित होने की संभावना रखता है भार॰ आयुता में (तुल॰ बा

नै) नेपाली ती छोरा मेरै फरकँ जाँदा-मा तेस्को बबुल देखि एक विशेषण द्वार

निर्धारित होने की संभावना रखते हुए भी लखीमपुरी हमारे सात[१] मा दुन्दु

मचायो स्हरा मेरे भी देखा मोएम।

यह रचना उस भूतकालिक कृदन्त के सदृश है जो प्राचीन काल से विशेष्य

धारण करने की क्षमता रखती है। इससे बंगाली क्रियार्थक संज्ञा की व्याख्या की

सकती है चाइते कि से ताहाके मारिते लागिल से पड़िते बसिया छे (वस्तुत

पढ़ते हुए' तुल॰ आशयसूचक भाव के लिये दिवैठणो सीद्‌केठन्दे) से चलिते

पारे चाइते चलो तथा कष्टत ताहाके चाहते देखिलाम् जिसमें चाहते का ताहाके

साथ एकान्वय मानने की आवश्यकता नहीं है उदाहरणार्थ हिन्दी में मैंने लड़के को

चलते हुए देखा की भाँति।

मराठी गुजराती और राजस्थानी में बहु॰ विकृत के समान प्रयोग मिलते हैं

मराठी

तो चलता चलता खाली पड़ला ।

त्याला बसता त्याँ पाहिले ।

कर्ता भिन्न-भिन्न रहने पर, कृदन्त का क्रिया 'होना' के कृदन्त के विकृत रूप के साथ

प्रयोग स्वच्छन्द रूप में होता है

आमी खेळत् असतां तो आला ।

मी काम् करीत असतां आपण् कांही करीत् नाही ।

परसर्ग सहित

म्या जेवितों ना तुमी चिठी वाचुन् टाकिली ।

तुम्हा हे काम् करतां ना येतु भगहत् ।

गुजराती (अधिक सन्दिग्ध क्योंकि बहु० के कर्ता० और विकृत रूप समान हैं)
बधां छोकरां बाप् करतां बाप् ने लागां जाप्

मारवाड़ी

माइरो माम मगावृतां बड़ो न करूसी जैम्।

सान्निध्य के रूप

ऊपर उल्लिखित कर्ता० में कृदन्त की पुरुषवाचक रूप के साथ तुल्यता आधुनिक भाषाओं के विशेषतः प्राचीन काल में प्रमाणित है। समय के साथ-साथ उनमें से कुछ में ये कृदन्त क्रिया-रूपों में मिल जाते हैं अथवा क्रियामूलक प्रत्ययों के आवरण में आते हैं।

इस प्रकार कुछ प्रभावपूर्ण वर्तमान उत्पन्न होते हैं जो उस प्राचीन वर्तमान का स्थान ग्रहण कर लेते हैं जिसने अनिश्चित का भाव ग्रहण कर लिया था। पृथक्त्व पा० अच्छति (सं० आस्ते का उत्तराधिकारी) के वर्तमानकालिक कृदन्त के साथ सान्निध्य में पाया जाता है और बाद को ऐसी अभिव्यंजनाओं में जैसे अप० जा अच्छइ पेच्छन्तु। उदाहरणार्थ पु० मराठी में है मृहणत् आहासि म्हणत् असे तो असे बोलत (अपवाद स्वरूप क्रम) गमती आहे कारिते (बहु० नपुं०) आहाति।

तुलसीदास जानत अही जानति हौं जानते हौ।

इसी प्रकार हिन्दी होते हैं, नैपाली मन्द छन सिंधी मारिन्दो आहियाँ लहंदा मारन्दा हाँ पं० मार्दा (मारदा) आँ गुरी जान्दो मि। क्रिया हो- सहित विशेष अर्थ पं० जान्दा होवाँ (किन्तु, जान्दा हुन्दा है) सिंधी मारीन्दो हुयाँ गु० हूँ उत्तरतो होवूँ (वही उतरें जैसा भाव) जो उतरें हूँ से भिन्न है।

इन सूत्रों की स्थिरता के कारण कुछ अंश आपस में जुड़ गये हैं पु० म० देखताति देखताति लहंदा मारेनां जो मारेन्दा आँ के निकट है। सिंधी भविष्यत् में क्योंकि अनुकूल पड़ता है प्रथम पुरुष में कुछ विशुद्ध नामजात रूप हैं हलन्दो हलन्दी हलन्दा हलन्दियू किन्तु (स्त्री० बहु० को छोड़ कर) मध्यम पुरुष में स्वर-संधि का फलस्वरूप क्रियामूलक प्रत्यय हैं हलन्द हलन्दिएँ, (हलन्दो -री अहि से) हलन्दो (हलन्दा आहो) और यहां सं० अस्मि स्म- से निकली क्रिया 'होना' को छोड़ कर,

ऐसा ही उत्तम पुरुष में पाया जाता है एक० पु० हलन्दु स्[ए] स्त्री० हलन्दि-अस्[ए] तुल० आन्दुस् जो *आन्दु-आहो-स् स है बहु० हलन्दा सूँ अथवा सी (ई के प्रभावान्तर्गत यह दूसरा रूप जो मूलतः स्त्री० कृदन्त था सभी क्रियाओं में प्रसारित हो जाता है) शिना में भी इसी प्रकार का विभाजन मिलता है १ एक० हनु-स् हनि-स् (*भवन्तो-स्मि

*मबस्ती-स्सि) बहु० हन-स् २ एक० हनो हन्थ बहु० हनेत्(स्थ) ३ एक० हनु, हनि बहु० हने।

पूर्वी समुदाय में जिसम विकृत रूप कृदन्त ने नामजात या क्रियार्थक संज्ञा का भाव धारण कर लिया है क्रिया 'होना' के साथ विन्यस्त होने की प्रवृत्ति प्रकट करती है बंगाली चलिते छे 'वह चल रहा है, वह चलने को है वह चलता है' कहने को वास्तव में तुलनात्मक दृष्टि से बंगाली में यह हाल की रचना है, किन्तु १५ वीं शताब्दी म असामी-लेखकों की रचनाओं म उसके प्रमाण मिलते है।

इसी प्रकार सम्भवत प्राचीन मैथिली में

गाड़ कमैत छी पईयो परैत छी। आधुनिक मैथिली में मगही मे भोजपुरी में अत्यन्त विकसित 'क्रिया भाव' सहित।

सदीमपुरी में भी कम-स-कम एकवचन में यही सूत्र मिलता है देखत्[इ] हुउँ हु, या देखत्[इ] हइ, लिंग से मुक्त किन्तु बहुवचन में स्त्री० मध्यम और प्रथम पुरुषो में देखा जाता है देखती हउ हुईं, (तुल० अपूर्ण में देखती रहउ रहईं) भविष्यत् में देखेती होइहउ होइहईं, सम्भाव्य मे देखेती हातीउ होतिँ। "भूत संभाव्य' म कुछ यौगात्मक रूप पाये जाते हैं देखतेउँ बलत(इ)उ।

केवल भारत क मैदानी हिस्सों में गुजराती और राजपूती बोलियों में कृदन्त के आधार पर निर्मित वर्तमान का अभाव मिलता है किन्तु प्राचीन पाठों म वह समुदायगत मिलता है जाव करिती छे भासुता छे।

जिप्सी-भाषा ही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण समुदाय है जिसमें वर्तमान० कृदन्त क्रिया-रूप [illegible] अलग हो जाता है। तो भी फ़िलिस्तीन की जिप्सी-भाषा में क्या विधेयात्मक पर प्रत्यय एक -एर् बहु० -एन् (ईरानी से उधार फ़िलि० -आक ओसेट -अइ् -ईय्) है जो कृदन्त और क्रिया का एक साथ काम देता है

जन्‌-एक "वह जानता है" (तुल० अम जन्‌ो-मि "मैं जानता हूँ")।

पन्‌की आतक सहद्‌दास् मे[आ]।

तरो कुसैनोत्-एक "लड़का छोटा है" (कुसैनीत् तरो "छोटा लड़का")।

छरि कुसैनीत्-एक "लड़की छोटी है"।

भूतकालिक कृदन्त

रूप

भीम धातु म निकलन के कारण संस्कृत में इसके अत्यधिक विविध रूप [illegible] जिनका वर्तमान० विकरणों स कोई संबंध नहीं था भूत (भवति) पतित (पतति) जात

(ज्ञायते ज्ञापयति), ज्ञात (जानाति) कान्त (कामयति) पीत (पिबति) मृत (म्रियते) भग्न (भनक्ति) पृष्ट- (पृच्छति) इष्ट (इच्छति तथा यजति) मित (मिनोति) गद (गदति) मिश्र (मिश्रते मिश्रति) आदि। केवल साधित क्रिया का -इत युक्त (चोदित चोदयति) निरंतर निष्पन्न बाला रूप है जो किन्तु कुछ सामान्य या मौलिक क्रियाओं तक प्रसारित हो ही जाता है (चरित चरति आदि)।

सामान्यतः परिवर्तन क्रम का परित्याग तथा स्पष्ट रूपों की खोज और अधिक विशेष रूप से क्रिया में वर्तमान० विकरण की प्रमुखता और कृदन्तों साथ क्रियामूलक विशेषणों का सामंजस्य इन सब बातों का परिणाम हुआ मध्यकालीन भारतीय भाषा में रूपों का पुरोगामी सामान्यीकरण इस का प्रचार पाली में ही जाता है और प्राकृत में उससे -इत इत मिलते हैं पा० पुच्छित जो प्राकृत पुच्छिअ(द)म द्वारा जारी रखा है, पुच्छ- के निकट दृष्टिगोचर होता है या जैन वन नियम में भी सुरक्षित है (पृष्ट) प्रा० जाणिअ सं० ज्ञात का स्थान ग्रहण कर लेता है, आदि।

तो भी प्राकृत में "विशेष" कृदन्तों की कुछ संख्या बनी रहती है, जिनमें कुछ नए रूप और जुड़ जाते हैं जैसे पक्क (पक्व) मुक्क (*मुक्न ? मुक्त अन्य कृदन्तों से सान्निध्य प्राप्त कर० -ओद्[उ] में फिर मिलता है) दिण्ण (पा० दिन्न) जो दत्त के लिये है (एक लुप्त वर्तमान *दिनति के अनुकरण पर?)। आधुनिक भाषाओं में फिर मिलते हैं और साथ ही उनमें कुछ वृद्धि हो जाती है ये कृदन्त सिंधी में बहुत हैं लहंदा और पंजाबी में कुछ कम कुछ गुजराती में हैं लिंग्विस्टिक सर्वे की संबंधित जिल्दों में उनकी सूची मिलती। कश्मीरी में है गौव् गव् (क्रियार्थक संज्ञा गछुन सं० गत- गच्छति) आव् (आव्) (आगत) मोंयोंव् (मृत-) वोद्[उ] दुक० लिंग ग्रंगु (दग्ध) व्यूठ्[उ] दुक० लिंग बड़ (उपविष्ट) बूड्[उ] (बृष्ट) मोठ[उ] (मृष्ट) मुतु दुक० लिंग मुतु (मुक्त) अप्रकृत में है गृड़ (गत-) थ (कृत-) प्रोत्तुम [कनी एव बैगेलि प्रत्र "उसने लिया" (प्राप्त) निलिन (निलिप्त-)]। जिप्सी भाषा म नुरी चर, यूरो० जिप्सी (मत) मुर्दी निन मूरा० मूलो (मृत) सिंहली कल (कृत पा० कन-) मस (मृत) दुद् (दृष्ट पा० दिट्ठ-) गिय (गत) दुन (पा० दिन्न)। मराठी म ये कृदन्त का लीन कृदन्त का पर प्रत्यय द्वारा व्याप्ति-युक्त हो जाते हैं गेल्या मेल्या जाल्या पाल्-ल्या, हिन्दी में भी बराबर है गया (गत) एक मसृण अनुनासिक धातु स, तथा म कौ धातुओं म किया (कृत) मूआ (मृत) कुछ प्राचीन कृदन्तों ने क्रियाओं के विकरणों का काम दिया है, मराठी लाग् (लग्न) मूक (आ० मुक्क) हि० बैठ्-

१

(उपविष्ट) आदि। उससे नामधातु वर्ग से बाहर समुदायों और पुनर्निर्मित रूपों का निर्माण हुआ है जैसे पु० हि० दीन्ह् (प्रा० दिण्ण) ने तुल० म दिम्हला कीन्ह् लीन्ह् पान्ह् के आदर्श के रूप में काम किया है किन्तु दीध और कीध का निर्माण कीध के कीन्ह् और पा० प्रा० कपूब सहित प० लद्धा सिंधी लधो द्वारा प्रमाणित अनुकरण पर होना चाहिए।

यही वहाँ ये दृष्टिगोचर होते हैं इन प्राचीन कृदन्तों की प्रतिध्वनिता में सामान्यतः सामान्य रूप आते दिखायी देते हैं। जिनका निर्माण वर्तमान विकरण से होता है वे संस्कृत -त -इत के प्रतिनिधियों का अनुसरण करते हैं पु० राज० कहिउ (कथित-) थिउ (स्थित) के निकट बयज सिंधी मार्यो पं० मार्या व्रज मार्यौ हि० मारा मरा० गुर्ड गुपयोद् छु (*अच्छ- "होना" से) इसी प्रकार सिला और काफ़िर में है (अश्कुन मुर्ये) नूरी में पर प्रत्यय र् रूप के अन्तर्गत -क- जिसकी आगे उल्लिखित पर प्रत्यय के साथ गड़बड़ हो गयी है के अन्तर्गत यूरो० जिप्सी-भाषा में जिसमें है नूरी क्र, यूरो० छलो (चलित)।

प्राकृत में स्वच्छन्द रूप में पर प्रत्यय इल्ल- का प्रयोग हुआ है (-वत् के तुल्य सं इल का रूप पाणिनि ५ २ ९९ ९७ प्रक० -इल-समवत अभिव्यंजक वही १८ १९) और जैन प्राकृत विशेषतः इस पर-प्रत्यय को कृदन्तों का व्याप्ति-युक्त रूप प्रदान करती है भाषाएल्लिया उसके आधुनिक रूप मराठी मे निरन्तर मिलते हैं (देखिला मेला) बहुत कम गुजराती में (-एल् -एलो रूप के अंतर्गत) नियमित रूप से बिहारी (मैथिली देखल पीउक भेल् मरल अथवा मुइल) बंगाली (देखिल गल) और उड़िया में (देखिला) निस्सन्देह सिन्ध में (बुक जो बुँद स० मूत के निकट है टर्नर, बी० एस० ओ० एस० पृ ९३४) यूरोप की जिप्सी भाषा में (अचिलो सुतिलो बगाली सुतिल की भाँति दीनिलो जो दिनी "दिया गया मारा गया" के निकट है) पुरानी हिन्दी में (कबीर पुन्छल बायला) ग्रामीण हिन्दी में (गयला देखला)। लहंदा में यह पर प्रत्यय क्रियार्थक संज्ञा के आधार पर निर्मित अनुवाची संज्ञा के लिए सुरक्षित है मारणाला मारणआला तुल० हिन्दी गैल्।

प्रसंगवश यूरोप की जिप्सी-भाषा की व्याप्ति -दो अथवा -द, का भी उल्लेख करना आवश्यक है, जिसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है द कृदन्त सहित साभिम्य जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है इस भाव का संकेत करता है हि० निकाल देना को निकालना के समीप है किन्तु कुछ कठिनाइयाँ हैं। प्रत्येक परिस्थिति में रूप प्राचीन है क्योंकि उधार लिये गये शब्दों में यूरोप में ग्रीक में लिया गया एक विशेष कृदन्त है बसन्तिमन। सिमा मं -दु पुरु भूप० की एक भूमिका है पर्सीदु चरीदु विताडु (विजिदे मं० विसी-

मते) यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि यहाँ ऐसा भवु, दवु (मऊ वग्य) के विशेष प्रकार का प्रसार हो गया है।

प्रयोग

आधुनिक भाषाओं का सूत्रपात होने के समय भूत० की पुरुषवाचक अभिव्यञ्जना नहीं थी (इ)त युक्त संस्कृत विशेषण से निकले क्रियामूलक विशेषण ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया था। यह देखा जाता है कि फल के रूप में क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने से सहसा बदल जाती है दूसरे कारक में पूरक कर्ता हो जाता है और न्यायानुकूल कर्ता का प्रचार होना चाहिए गौण कारक द्वारा करण० द्वारा यदि वह हो तो। अपभ्रंश (सन्तकु० ६७२) के इस दोहे में दोनों रचनाएँ मिल जाती हैं

तुहुँ कहिँ गइय चाइउ मम ति भणन्तु।
विट्ठिउ निष्ठुरसिरिजुइय निवइण कह वि भमन्तु।

पु मराठी

हे कीर्ति आली तुज।
म्यां अभिवन्दिला श्रीगुरु।

पु० राज०

हउँ बोलिउ (वो पु० कर्ता०)।
राजकन्या मैं दिठी (मया दृष्टा)।

तुलसीदास

सो फल हम पावा।
मैं गुरु सन सुनी कथा।

भाषाओं के कुछ प्राचीन पाठों में भी ऐसी ही रचनाएँ मिलती हैं। ऐसे पाठ अब नष्ट हो गये हैं

पु० मैथिली

माछूरे गोरी करि भरी आनली।

पु बंगाली

'शुनिली काहिनी'।

जहाँ सकर्मक क्रिया का पूरक व्यक्त नहीं होता वहाँ क्रिया नपुं० में रहती है

सं० महा० : कृत्यं मया इतम् उपाध्यायेन।
प्रा० मृच्छ० : सुट्ठु तुए जाणिदं,
पु० म० अर्जुनें म्हणितलं।

जिन भाषाओं में नपुं० नहीं है पु० ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है हि० नेपाली में पाया कि

इस प्रकार की रचना को क्रिया के कृदन्त के अधिकाधिक निकट पहुँचने का लाभ है और इस क्रम में उसकी नामधातु एकरूपता विलीन हो जाती है। राजस्थानी में वह अकर्मक क्रिया में मिलने लगता है

मारवाड़ी मैंनकिऐ चढ़ूँ गयो।

मालवी छोटा लड़काएँ चल्यो गयो।

दूसरी ओर, व्यक्त पूरकयुक्त सकर्मक क्रियाओं में उसका प्रयोग होता है। यही बात फिर पूरक की विशेषता बताने वाला प्रत्यय ग्रहण कर लेता है

पु० राज०

राजकिऐं देव पूजिऐं (राजकेन देवाय पूजितम् न कि देव पूजित)।

और अभी हाल तक निर्धारित सत्ताओं की साक्षात् रचना-सहित पंजाबी

उन्हां ने कुड़ी नू मारिआ।

राजा ने इस बात को बताया "राजा द्वारा यह बात बतायी गयी राजा ने यह बात बतायी" (राजा ने में बात् बतायी के निकट)।

मर्दों ने चोरों को मार् डाला।

मराठी (इधर का और विरलतापूर्ण केवल चेतन होने की सत्ता सहित)

त्या ने रामाम् मारिले (राम मारिला के निकट) "उसने राम का मारा है।

अंत में दोनों रचनाएँ परस्पर मिल जाती हैं और कृदन्त कर्तृवाची के रूप में व्यक्त कर्ता के साथ साम्य रखता है। गुजराती में ऐसा निरंतर होता है, मराठी में अक्सर राजस्थानी में कभी-कभी। उदाहरण :

गु० तेणे ए रामाए पकड्यो।

तेणे राणी ने मनावी मूकी।

पु० राजस्थानी में है ही

सुन्दरी नै मारी रखी।

म त्याने आपल्या मुलभ्यास् शाळ ए पाठविला।

यह दुरूह रूप अन्यत्र प्रमाणित नहीं होता परंपरागत रचनाओं की शक्ति बताने की दृष्टि से यह रोचक है क्योंकि प्राचीन कृदन्त-युक्त वाक्यांश प्रकार में साम्य फिर स्थान प्राप्त करता है।

इस रीति की प्रधान अपूर्णता पुरुष का अनिर्धारण है।

आधुनिक भाषाओं में और कुछ में एक साथ ही उन दो रीतियों का आश्रय ग्रहण

किया गया है जिनका प्रयोग संस्कृत में व्यापानुकूल कर्ता या व्याकरणीय कर्ता प्रकट करने के लिये हुआ था।

१ भाषाओं में जहाँ प्रत्ययात्त रूप हैं वहाँ सर्वनाम काम आता है। इस प्रकार क्रिया "हुंता" के लिए भूरी में है एक० १ मर्देनान् २ मर्देनूर लिम्भ कृदन्त मर्देरो (स्त्रि० ?) है जिसके पश्चात् -म् और -र् हैं। सम्भवतः यह भूतकालिक है (भन अनु के पूर्व रूप) यद्यपि -म् और -र् का तादात्म्य प्रयोग कर्मवाचक का होना चाहिए।

सिन्धी में मुंमारिओ (मारी) "मैंने उसे मारा है" का प्रयोग होता है। किन्तु साथ ही जब उसमें कहा जाता है पिउ-म्[ए] देखिए किया-वों-म्[ए] "यह कहा गया है -मुनसे- उसको" तो विकृत रूप सर्वनाम सीधे कृदन्त में हो जाता है मारिउ-म्[ए] "मैंने उसे मारा है" मारिमा म्[ए] "मैंने उसे मारा है (स्त्री०)"।

यही प्रणाली लहन्दा और कश्मीरी में है (जिसमें क्रियाओं-सहित केवल प्रत्ययान्त युक्त सर्वनाम है)

म पुच्छोम अथवा पुच्छोम्।
मे पुच्छेयं अथवा पुच्छेयम्।

पुछुम् पुछ्[ँ] म् "मैंने उसे छिपा दिया है" पुछिम् पुछेम् "मैंने उन्हें छिपा दिया है" पुछुथ् पुछुक्थ् "तूने उसे छिपा दिया है" आदि।

यही प्रणाली कम-से-कम आंशिक रूप में जिप्सियों की बमेली में भी है एक० १ कुरू-म् २ कुरोन्-म् (-म् सं० -त्वा से) जो प्राचीन वर्तमान १ कुरिम् २ कुरस् से भिन्न है।

बंगाली में भी एक सर्वनाम (प्राचीन एक० हुँ अथवा बहु० आमि) उत्तम पुरुष में पाया जाता है पु० बंगाली पढ़िलहों आधुनिक पढ़िलाम्। रूपों की कठिनाइयों के अतिरिक्त इस अनुमान के अंतर्गत उनके सामान्य प्रयोग में प्रत्यय-युक्त सर्वनामों का अभाव मिलता है।

२ अत्यन्त सामान्य सूत्र है कृदन्त में सहायक क्रियाओं की अनुपंगता, जिससे सामासिक रूपों की रचना पर इसके आगे विचार किया गया है। सहायकों में क्रिया अस्- ने जिसका आदि विशेषतः स्वर-संधि या स्वर-वर्ण-लोप की प्रवृत्ति रखता था शीघ्र ही कृदन्तों के साथ योग स्थापित करना शुरू कर दिया। पाली में आगतोऽम्हि, पत्तासि पुत्त्'अम्ह का प्रयोग हुआ है और कर्मवाच्य में मुत्त्'अम्हि वत्त्'अम्ह और साथ ही सकर्मक भाव सहित पत्तोऽसि निब्बानं। किन्तु ये वाक्य-विस्तार

व्याकरण की प्रणाली में प्रवेश नहीं कर पाते वे कृदन्तों से अथवा साथ के क्रियामूलक विशेष्य से बने हुए अन्य रूपों के साथ आते हैं, तिट्ठति चरति वत्तति हर कारक में वे अतीत के ह्रास-सहित पाली में बराबर-बराबर चलते हैं। किन्तु प्राकृत में परिस्थिति बदल जाती है। मृच्छकटिक में क्रियाविहीन प्रथम पुरुष में मिलता है :

पपलीणु
अलंकारओ तस्स हत्थे णिक्खित्तो।

किन्तु मध्यम पुरुष में

गहिदा सि।
मामं से पुच्छिदासि।
तुम तुमं मए सह उज्जाणं गदा आसि।

तथा उत्तम पुरुष के स्त्री० में

लज्जाए मरम्हि (पूर्ववर्ती वाक्यांश की गति के अनुरूप)।
खल्वेदेन परिस्सम्हि।
वट्टिम्हि रोदेहि अक्खरेहि।

इसी प्रकार मराठी में मिलता है चालते आहाति किन्तु म्या देप्लासि तू पुसिलासि मारुतें। उत्तर-पश्चिम में यह बात काफी मिलती प्रतीत होती है

वस्तुन एक० प्रथम पु गुदो स्त्री० गुर्दई 'वह चला गया वह चली गई' किन्तु गुदोम् (गतो'स्मि) "मैं चला गया हूँ" 'तो ऐ कुदम् तेरे द्वारा मैं पीटा गया हूँ।"

कश्मीरी केवल अकर्मक में

चुहुम् स्त्री० चुइम् मैं विक्षुब्ध हो गया (गयी) हूँ' (चुप "मैं विक्षुब्ध होता हूँ")।

छुस् स्त्री छेम् "मैं हूँ" (प्राकृत से निकले अच्छ- कृदन्त के आधार पर निर्मित)।

ओसुस् स्त्री० ओसुस् "मैं था थी' (अस् का अपूर्ण प्राकृत आसीं से निकले कृदन्त के आधार पर निर्मित)।

(बहु० में उत्तम पुरुष प्रथम की भाँति नामजात रहते हैं)।

सिपी पु० थिउम् "मैं आराम से हूँ' हलिम् स्त्री० हलुम् मैं चला गया" सहुरा पु आहुम् स्त्री आहिस् 'मैं था थी'।

क्रिया होना" के साथ इस योग का परिणाम पुरुषवाचक क्रिया के कृदन्त के साथ निकटता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कश्मीरी में मध्यम पुरुष प्रत्यय द्वारा सामान्य क्रियाओं से भेद उपस्थित नहीं

करता एक० पु० बुधुस् स्त्री० बुधुँस् ठीक वर्तमान बुधस् जो अस्पष्ट भी है की याद दिलाता है बहु० पु० बुधिव स्त्री० बुधेंव वर्तमान बुधिव् के साथ-साथ चलता है।

पु० मराठी में देखिलासि पुजिलासि के निकट उत्तम पुरुष में भी करहिलो मोहें मिलता है जिसमें कृदन्त और क्रियामूलक प्रत्यय के बीच में कोई मध्यवर्ती धातु नहीं है। इसलिए अकर्मक क्रिया में है

मी पड़लो पडल्यें।

तूं पडलास् पडलीस् नपुं० पडलेंस्।

यह रूप-रचना कर्तृवाच्य क्रियाओं में भी पायी जाती है

तूं काम् (नपुं०) केलेंस् (न कि त्वां काम् केलें)।

तुम्ही काम केलेंत्।

तूं पोथी (स्त्री०) लिहिलीस।

तूं पोथ्या लिहिल्यास्।

यहाँ कर्तृवाच्य प्रत्यय कृदन्त में जो साम्य की प्रवृत्ति रखता है वह जाता है भूत० रूप-रचना के वर्तमान० वाले में पूर्णत मिल जाने से केवल थोड़ा-सा ही अन्तर रह जाता है, और मराठी बहुत बड़ी संख्या में क्रियाओं का अतिक्रमण कर गयी है

पु० म० मुकुट लेइलासि।

मिं पाणी (नपुं०) प्यालों ('प्याल्यें" यदि 'म्या पाणी प्यालें के तुल्य कर्ता स्त्री० है)।

मी तुम्ही गोष्ट (स्त्री०) विसारलो।

प्रथम पुरुष में केवल कृदन्त ही रहता है, किन्तु जिसका कर्ता० के साथ साम्य होता है और जो फलत कर्तृवाच्य कृदन्त हो जाता है

ती असें म्हणली।

तो संस्कृत् शिकला।

इसी किस्म की नेपाली में रचना है अन्तर केवल इतना है कि कर्ता (कर्तृवाची कारक) में रहता है जिसमें इ ऐसा त्रिस्थली आधार के प्रभावान्तर्गत होता है

वेस्याल भनी (स्त्री०)।

तिनिहरूले आनन्द माम (पु० बहु०)।

क्रिया 'होना' के साथ आने वाले कृदन्त को कर्तृवाच्य का भाव प्रदान करने की प्रवृत्ति प्राचीन होनी चाहिए जिस के प्रमाण प्राप्त होते हैं कदन्हि पतिदन्हि, प्रहितसि पतिसन्ति की भाँति। इससे पु० सिहली बुनुमो (*दिसा-स्म) कल्मह और आधुनिक

रूप-रचना कर्थिमि (*कस्तितो'स्मि) कर्थुवेमि (*कस्तितको'स्मि) आदि जिससे प्रथम पुरुष नामजात एक० कर्थुवे बहु० कर्थुवो से भिन्न है की घोषणा होती है।

बिहारी में ऐसा ही है मैथिली १ एक० पु० देखलेहुँ स्त्री० देखलि २ एक० देखलें २ बहु० देखलहु प्रथम पुरुष में उसमें कुछ व्याप्तियुक्त नामजात रूप है एक० देखलक् बहु० देखलन्हि स्त्री० मरली।

बंगाली में जिसमें लिंग नहीं है (दे० पीछे) देखिल प्रथम पुरुष का विभिन्न रूप है शेष तिङ वर्तमान से साम्य रखता है १ देखिलाम् ३ देखिला(हा) ३ देखिलन्।

जिप्सी-भाषा अकर्मक और कर्तृवाच्य के भेद के प्रति उदासीन हो गयी है किन्तु लिंग की दृष्टि से उसमें साम्य है यूरोपीय बेशेओ 'वह बैठा' खलो "उसने खाया" फेन्दि "उसने (स्त्री०) कहा" दीने "उन्होंने दिया" नूरी मस्व, नम्वि "वह आया आयी है" बीर, बीरि "उसे कर है (स्त्री० पु०)"।

इस प्रकार विभिन्न रीतियों के कारण और असमान सफलता के साथ भारतीय आर्य भाषा ने उस समस्या को हल करने की चेष्टा की है जो कृदन्त के प्रयोग द्वारा उत्पन्न हुई है मूत० के कारण वर्तमान और भविष्यत् के क्रियामूलक रूपों और नामजात रूपों का विरोध प्रस्तुत करने का परिणाम कर्ता के साथ साम्य में हुआ किन्तु क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने के अनुसार, यह कर्ता० व्याख्यानुकूल कर्ता होता था या नहीं होता था। उससे कुछ ऐसी दुरूहताएँ उत्पन्न हुईं जिनसे प्रत्येक भाषा ने बचने की चेष्टा की कभी-कभी वे और भी असांछनीय दुरूहताओं में फँस गयीं इन प्रायोगिकों का भी जो निस्सन्देह अपनी सीमा पर नहीं पहुँच पाये इतिहास अज्ञात है उनका प्रेरक सिद्धान्त स्पष्ट है।

विकृत कारक में कृदन्त

अधिकरण में साम्य रखने वाली संज्ञा और कृदन्त का समुदाय जिससे पूर्वत्व और अवसर पर आनुषंगिक अवस्था प्रकट होती है बड़ी कठिनाई से आधुनिक काल तक कुछ-कुछ बच पाता है कृदन्त का क्रियामूलक भाव यहाँ तक प्रमुख हो गया प्रतीत होता है कि उसका कर्ता कर्ताकारक में प्रस्तुत करता हुआ मिलेगा

पु० राज० में

यार्ड पार पम कीर्पे भामि जो एक प्राचीन रचना प्रस्तुत करता है, के निकट मिलता है

धनमूपड़ें देम्युं भाम धर्ममानकुमार।

उससे हिन्दी में

क्यूं इतनी रात् (स्त्री०) गये (विकृत पु०) तुम् आये ?
तीन् बजे (एक०)।

पूर्ण कृदन्त बिना कठिनाई के प्रधान कर्त्ता से संबंधित हो जाता है और कर्तृवाच्य रूप में वास्तविक क्रियामूलक विशेष्य हो जाता है तुल० लैटिन आमीना पोलीसीटा (सैल्यूस्टे) "सब कुछ का वायदा"।

पु० राज०

मथ पीवाइ गहिलाई करी।

हिं० पगड़ी बाँधे आया (विकृत० एक० बाँधे स्त्री० पगड़ी के साथ जिससे वह संबंधित रहता है साम्य नहीं रखता न कि पु० एक० आया के कर्त्ता के साथ)।

इससे हिन्दी में एक विचित्रता-संपन्न सत्व प्रयाय-पद्धति मिलती है

चलते हुए बेगम् ने कहा "चलते हुए" (विकृत० पु० एक०)।
मैं समझे हुए था कि।

उससे 'किये' की भाँति व्याकरण-संबंधी साधन हैं।

यही रूप क्रिया 'होना' के साथ सान्निध्य प्राप्त करने पर, अवधी में अतीत के कुछ रूप प्रदान करता है।

तुलसीदास

अनुचित बचन कहेउँ (कर्त्ता० पु० परशुराम)।
देखिउँ (कर्त्ता स्त्री शूर्पनखा)।

और आज लखीमपुरी में देखेउँ देखे हुएँ से (देखे विकृत) देखिस् *देखे(था)सी। विकृत बहु० भी मिलता है

पु० राज० आगि समीपि रह्यां रहिस्यो वैस्यां मारवाड़ी लियाँ पु० मार्‌यां गुज० मारवाड़ी बोल्यां कर्‌युं।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उसमें बोल्या कर्‌युं "बात्‌चना करना" ठीक-ठीक हिन्दी 'बोला करना' की अनुकूलता है अथवा क्या इसके विपरीत ये अन्तिम रूप विकृत रूप के स्थान पर हैं। पहला अधिक संभव है क्योंकि हिन्दी का विकृत रूप बहु० आँ युक्त बहुत नहीं है वरन् ओं में है। यहाँ पर कृदन्त का प्रयोग विशेष्य के भाव की भाँति होगा।

यह प्रयोग प्राचीन है

सं० तस्य गतं समिभासम्।

इदम् एषाम् आसितम् ।

किं पृष्टेन ?

पा० किं ते अम्प्रत्य गतेन ?

प्रा० इच्छामि पच्छाविअं मुच्छाविअं (प्रच्छावितम् मुच्छापितम्) ।

इसी प्रकार आधुनिक बंगाली किनि थाँचिले' हिं० तुम क्यों ऐसा किया करते हो कहि से दिया पियौते मौं मुर्तुस् ।

नेपाली में यह कृदन्त विशेष्य सर्वक के माध्यम द्वारा संज्ञा के साथ सम्बद्ध हो सकता है, जिससे एक नवीन कृदन्त उपलब्ध होता है

मार्यौ अथवा मरे को पियो "वह मौत का था (मृ० न कि "मौत से") मरा" ।

बाबु का घर बसे को।

मेक जोगी रूम् मा मुच्छीये को (वर्तमानकालिक कृदन्त का भी ऐसा ही प्रयोग होता मुच्छे को 'लटका हुआ") ।

बंगाली में पर-प्रत्यय -क्- रहित कृदन्त भी प्रयोग में आता है मार होइ, आमा के देखा होइ, कि कारा होइ ('क्या किया आपने' का अनिश्चित विनम्र रूप) जाया मेल । यह कर्तृवाच्य कृदन्त राजा आजा करान् जैसी अभिव्यंजनाओं में करान्' पर निर्भर रहता है रचना वैसी ही है जैसी याम् करान् में । यह पूछा जा सकता है कि एक ही रूप जैसे क्रियामूलक विशेष्य के प्रयोग में निश्चित बन्धन कौन-सा है पाया देर (कभी मिला) यदि वह पाता है वह जाता है" आमि आसिया देखिलाम् "आ जाने पर, मैंने देखा है" यह स्वीकार किया जा सकता है कि द्वितीय उदाहरण में एक कर्तृकारक है (इसी प्रकार मारा जाम् अथवा पड़ क्या पड़ि मैं गिरता हूँ देखा है, कोई मुझे देखता है") तथा पहले में कृदन्त कर्तृवाच्य भाव धारण कर लेता है । यह तथ्य कि यह रूप अपरिवर्तनीय है उस विशेष्य प्रयोग के विस्तार की ओर संकेत करता है जिसके क्रियार्थ अर रह जाते हैं अथवा यहाँ भी प्राचीन विकृत रूप बहु० से प्रत्यक्षतः अनुनासिकता विहीन हुए (न तो विकल्प से अनुनासिक है दे० पीछे) रूप की स्थानापन्नता है।

यहाँ कृदन्त के नामभाग भाव का यह तकाजा है कि उसका स्थानानुकूल कर्ता निर्भरता के साथ प्रस्तुत हो फिर सम्बन्धवाची विशेषण के साथ हो जाय अथवा यदि सर्वनाम हो तो अधिकारमूलक विशेषण के रूप के अन्तर्गत

गुज० सिकन्दर् ना मुआ पाछि हिं० सिकन्दर् के मुए के पीछे।

बंगाली आमार् न दिले "अस्माकम् न दत्त" ।

पु० म० (तुराराम) मम् आस्या विना।

किन्तु यह हो सकता है कि क्रिया की सामान्य रचना के अन्तर्गत न्यायानुकूल कर्त्ता कर्त्ता कारक में हो। नेपाली में मिलते हैं (श्री टर्नर द्वारा सूचित उदाहरण)

मै-ले गर्या दुनिया सबै माण् गयो।

मै-ले मर्-यु की भाँति किन्तु मर्यु॰ क्रिया में उसी प्रकार जैसा ब्लोम कहते हैं म मर्दे छु कहा जायगा

मा आर्दैं मा (अहम् आगतस्य मध्ये)।

बंगाली में आमार म रिले के निकट बड़ी अच्छी तरह कहा जायगा आमि रिले आधुनिक बंगाली तुमि अनभिज्ञ होते। आधुनिक मराठी में इस विन्यास ने काफ़ी विस्तार ग्रहण कर लिया है जिससन्देह प्रविष्ट आधार के प्रभावान्तर्गत मी तैंप गस्या ने पावसाला सरूल्या-वर् (वरखा सृतम्य उपरि)।

यह एक प्रविष्ट आधार ही है जिससे ग्रामीण सिहली में कर्त्ता॰ में अपने न्यायानुकूल कर्त्ता के साथ आये हुए अन्ययी विशेषण स्पष्ट होते हैं मसत्की है "अह कथित कार्यम्" "काम को मैंने कहा है" उड़िया में ऐसा ही विन्यास प्राचीन भविष्यत् कृदन्त के आधार पर निर्मित क्रियार्थक संज्ञा दृष्टिगोचर होता है मु देबा धान "अहम् दातव्य-धान्यम्" "धान को मैंने दिये है।

यह ध्यान देने की बात है कि ये समस्त प्रयोग कृदन्त को उसके मूल से जो विशेषण है दूर हटा देते हैं, जिससे संस्कृत में कुछ ऐसे विशेषण दृष्टिगोचर होते हैं जो क्रिया से अलग हो जाते हैं जैसे शीत शीत वृष। आधुनिक भाषाओं में विशेषण का प्रयोग अज्ञात नहीं है साथ ही सिद्धान्ततः स्थान विशेषण और क्रिया में भेद उपस्थित कर देता है उड़िया पड़िला गछ "गिरा हुआ पेड़" गछ पडिला पेड़ गिर गया है। यो भी विशेषण भाव मात्रियों या वाक्य-विस्तार द्वारा सुविधानुसार बनता है

सामिन मु करेर्नु काम् "किया गया काम (काम् कर्यु "काम किया गया है") म॰ पाठविलेल आज्ञापत्र "भेजा हुआ आज्ञापत्र" (और साथ ही है आज्ञापत्र धिहिलेले असून् "यह आज्ञापत्र जो भेजा जा रहा है") नौका बाँधलेले आहे "नौका बँधी है" मारवाड़ी मारियोड़ो "पिटा हुआ" (मारियो) "पिटा था" कुमायूँनी हिटियो "अन्त किया हुआ" (हिटो "वह अन्त हो गया है) गुज॰ पिमा बनीनु "पिटा हुआ पीटे जाने की बात जो संभवतः एक पूर्वकालिक कृदन्त और ॰सिय्त का सान्निध्य प्राप्त कर है, हर कारक में जमें "पीट लेने पर" और जमयम् "मैंने पीटा है" के विपरीत है।

वाक्य-विस्तार इसकी रचना भू के कृदन्त सहित होती है। संस्कृत में तो भूः- का प्रयोग समासों की पाटन स्थिति और द्वितीय भाग के रूप में, किन्तु चाहे जिन समासों

के साथ हुआ ही है। अपभ्रंश-भूत 'भयक' पाली में केवल कुछ अगारिक-भूत गिहिभूत प्रकार मिलते हैं। ऐसा ही सिंहली में है, मुद्दु मलमयेक "छफ़ेर पोका" (शुद्ध भूत)। किन्तु कुछ आधुनिक भाषाओं मे प्रथम तत्त्व संज्ञा-रूप धारण करता है हिन्दी म 'पढ़ा आदमी' का "पढ़ा हुआ आदमी" (न कि पढ़ा आदमी) द्वारा प्रकट किया जाता है कृदन्त में इस मूल का प्रयोग करते हुए कहा जाता है इनाम् पाया हुआ पुस्तका नीचे नाम् दी हुई पुस्तक इसी प्रकार मारवाड़ी मारियो हुवो मारियोड़ो के तुल्य है मैथिली मूनल भेल देखल गेल्। हिन्दी म पूरा 'पूरना' का कृदन्त है किन्तु ऐसा पाया जाता है कि इस क्रिया का बहुत प्रयोग हुआ है, और सुविधानुसार उसे 'पूरा करना' कहा जाता है यहाँ कृदन्त का विशेषण की भाँति प्रयोग होने पर उसमें क्रिया को निकाल बाहर किया है।

भविष्यत्० कृदन्त

कर्तव्यसूचक विशेषण की रचना करने वाले विविध पद-प्रत्ययों में से जो -य- युक्त था और जो प्रारम्भ में बहुत प्रचलित था वह भी शीघ्र ही निकाल बाहर किया जाता है क्योंकि इस काल से छूटते ही जब व्यंजना के समुदायों का परस्पर सामंजस्य होता है, रचना की स्पष्टता नष्ट हो जाती है। स्वयं सं० पूजनीय पा० पूजनेय्य (अथर्ववेद मध्यमेय्य प्रकार के साथ योग द्वारा) प्रा० पूजणीअ पूयणिज्ज (पूजनम्) प्रकार जीवित नहीं रह सके—वह भी उनका विशेष रूप के साथ जिसस क्रियार्थक संज्ञाएँ प्राप्त होने वाली थी संबंध रहने पर भी। यह रूप को उस हटा देता है (२) तव्य- है जिस -त युक्त विशेषण के मुकाबले में आने का सौभाग्य प्राप्त था यद्यपि मूल की अन्य स्वर-मध्यमी श्रेणी के साथ पाली में पत्तब्ब सुरक्षित है जो पत्त (प्राप्त) के साथ चलता है और धातुरूपानि व्याकि स अन्य हो जाता है उगाम दातव्य (दातव्य) नेतव्व (नेतव्य) जो क्रियार्थक संज्ञाओं दातवे नेतवे के साथ चलता है और वर्तमान भेनि (भवति) के साथ भी।

वर्तमान पचति पुच्छति पूजेति गहेति के आधार पर ही पचितव्व पुच्छितव्व पूजेतव्व गहेतव्व (तुल० प्रा० बल्लिहतव्व मिग्रहेतव्व से) निर्मित होते हैं, जो स० पक्तव्य प्रष्टव्य पूज्य वैदिक गृह्य महाभारत गृहीतव्य के विपरीत है।

प्राचीन रूपों में से केवल कुछ स्पष्ट संज्ञाएँ रह जाती है जैसे हिं० काज् (कार्य प्रा० कज्ज सिन्धु सिंधी कमु[४] म० कर्तव्य) अनाज् (स० अन्नाद्य) सिंधी पेद[५] हिं० पद् (सं० पेय पा० पेय्य प्रा० पेज्ज) गुज० सम्भव में ही पानीयम् हिं० पानी।

भारतीय-आर्य भाषा में यह रचना लगभग सर्वत्र पायी जाती है पीछे -न् युक्त कृदन्त और विशेषतः सिंधी मारिणो अहूवा मारना प्रकार देख ही चुके हैं।

किन्तु जीवित रहते हुए उसका प्रयोग प्रायः कम आता है। प्राचीन प्रयोग केवल गुजराती और मराठी में रह गये हैं

अप० (अव०)	उवल देप्पउ
	उज्जवणु करिव्वउ
पु० राज०	हिसा न करावी (स्त्री०)
गुज०	तेने आ चोपड़ी वाञ्चवी (स्त्री०)
पु० म०	आही काय करावे (नपुं०) ?
म०	मी पाळून पाठवावा (पु०)

सिंधी में 'मारिणो' प्रकार वर्तमान में प्रभावित हुआ है वह सान्निध्य में मारिणो

आहियाँ (मार्यमाणोऽस्मि) मारिणो होए "किसी से मुझ पीटा" आदि की भाँति प्रवेश पाता है। कृदन्त के प्रथम पुरुष क्रिया का भाव ग्रहण करने पर भविष्यत् का अर्थ फिर आ जाता है मारिणो "वह पीटा जायगा" मारिणी "वह पीटी जायगी" मारिणा "वे पीटे जाएँगे" मारिणिऊँ "वे पीटी जाएँगी" (किन्तु साथ ही मध्यम० बहु० के सर्वनाम से "तुम पीटी जाओगी")। इस रूप के बारे और एक क्रियामूलक

चिह्न की अन्य कृदन्तों की भाँति रचना हुई है मारिणुम्[ए] "मैं पीटा जाऊँगा" आदि

मिमस[ए] "मैं पीटी जाऊँगी" आदि।

इसी प्रकार मराठी में अन्यनमूलक कृदन्त जिसका नपुंसक-रूप था ही मध्यम० एक० में -न् जोड़ लेता है बहु० के प्रथम ० और मध्यम० में -त् तू ग्रन्थ लिहावास्, पोथी वाचवीस् आणी दुसरे काम कराव स्। इसके अतिरिक्त यह सकल क्रिया-रूप का मूलाधार प्रतीत होता है हे सरिता न तरवे पोथी आहीं कैसे करावेत ? (-अ- पर प्रत्यय भविष्यत् का तुल० दे० आगे)।

पूर्वी भाषाओं में इसी क्रम से अनुमान्य अर्थ में एक क्रियामूलक आधार उपलब्ध होता है, -अ- युक्त भूतकालिक कृदन्त की भाँति किन्तु भविष्यत् इस प्रकार केवल बंगाली में पूर्ण है एक० १ वलिब २ बलिबि और उड़िया में है एक० देखिबि २ दखिबु आदि। प्राचीन मगधी में -बु युक्त अ-भविष्यत् पूर्ण रूप में -अब् स्त्री० प्रति सभी

पुरुषों में प्रयुक्त कृदन्त के साथ मिलता है आज छोटानागपुर में मिलता है १ देग्[अ]बू

२ दग्[अ]ब और देग्[अ]बेन् किन्तु १ दखिहि और इसी प्रकार बहुवचन में, सागीरपुर

में स्-भविष्यत् केवल बहुवचन के उत्तम० में शुरू होता है (देखिबा) छत्तीसगढ़ी में है 'देखिहौं' म० नि० 'देखब्' तथा इसके विपरीत २ देख्ब्, बे और देखिही तीनों पुरुषों में प्राचीन भविष्यत् को छोड़कर कुछ नहीं एक० देखिहै बहु० देखिहैं। अस्तु प्रथम पुरुषों में ही -ब् रूप नहीं मिलता और बिहारी में भी ऐसा ही है यह जान लेना कि ऐसा मानजान मूल के रूप म होता है, एक महत्त्वपूर्ण बात है। निस्सन्देह स्वयं रूप से विशाष्य के भाव से प्रतिद्वन्द्विता ही इस प्रतिरोध म कुछ चीज है।

वास्तव में संस्कृत के काल स ही उन्नसीन कृदन्त भाववाचक विशेष्य का मुख्य ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है कायम् रम्मितव्यम् अप मगिमम्य गामय।

भाव क्रियार्थक संज्ञा के बिल्कुल निकट है यथा गन्तव्यम् पंच० कार्य बक्तव्यस्य काल। यह भाव आधुनिक भाषाओं में विकृत कारक में विकसित होता है साथ ही वह क्रियार्थक संज्ञा के अनुकूल पड़ता है

अप० (अव०) मनउद न हुउ पुच्छिअम्बइ मण्डारिउ पालम्बइ निउतु

पु० राज० खाइवाणी वोछा मीपवा वांछै पाहमिवा न पांमै चिन्तविवा काषी निमृवा बैठी

मारवाड़ी करावा मेल्यो।

गुजराती में कर्तृ सामान्य क्रियार्थक संज्ञा है उसमें से सम्बन्धवाची विशेषण के साथ-साथ बल्पनमूलक भावमारमक विशेषण निकलता है करवा-नो (पु० एक०)। इसी प्रकार करावयामा (विशेषण) करावयाम् कृत्य (प्राचीन ०करवौनि)। ऐसा ही राज० चाल्नो चाल्नो बज० चलिबौ पू० हिदी चल्ब् बन० मं बगाली उड़िया चलिबा।

अस्तु यह रूप हिन्दी और पंजाबी को छोड़कर समस्त मध्य और पूर्वी भारत में मिलता है। उड़िया क भववाचक कृदन्त के लिए दे० थोड़ा पीछे।

अन्तु संस्कृत के कृदन्तो और क्रियामूलक विशेषणो का एक समुदाय है और उनका प्रत्यक्षतः समानान्तर विकास हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि इस विकास की सीमा यह नहीं है जिसम समन्वय संस्कृत म कृदन्तो की प्रणाली के रूप में हो गया था कृदन्त फिर नहीं मिलते अर्थात् क्रियामूलक विकरणा स सांधित विशेषण व कृदन्त कृदन्ती भाव केवल उन सहायक क्रियाओं क मध्य मे अधिक मिलता है जो मात्र मिश्रण की सीमा तक तत्पश्चात् रूप क पूर्ण ह्रास तक पहुँच जाती है। किसी अन्य स्तर में प्राचीन कृदन्त अपना विशेषण वाला कार्य खोते हुए, कुछ क्रियाओं क तुल्य हो जाते हैं अथवा कुछ क्रियार्थक संज्ञाओं या पूर्वकालिक कृदन्तो के निकट पहुँच जाते हैं।

क्रियार्थक संज्ञा

इसमें हमें अधिक देर न लगेगी। सच तो यह है कि संस्कृत का विकास एक सच्ची क्रियार्थक संज्ञा की रचना की ओर झुका हुआ प्रतीत होता है, अर्थात् संज्ञा-रूप की एक पृथक रचना की ओर (अत्यन्त स्पष्ट मूल होने पर भी) और एक साथ किसी संज्ञा या क्रिया पर आधारित रहना और संज्ञा पर शासन करने की क्षमता रखता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु संस्कृत क्रियार्थक संज्ञा की तुलना उन भाषाओं की क्रियार्थक संज्ञाओं से करना यथेष्ट होगा जिनमें यह वर्ग वास्तव में यह प्रदर्शित करता है कि उसका कार्य कहाँ तक कम हो गया है उसमें मुश्किल से केवल अंतिम भाव मिलता है अथवा उसका प्रयोग 'इच्छा होना प्रयत्न करना आना सकना' भावों के द्योतक शब्दों के साथ होता है इन्हीं मूल्यों के साथ यह मध्यकालीन भारतीय भाषा में दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ अशोक के अभिलेखों में। किन्तु कर्तृ० का भाव नहीं मिलता क्रियार्थक संज्ञा वाले पूर्व वर्ग का जिसकी कुछ-कुछ रूपरेखा देखी जा चुकी है निर्माण नहीं होता। अंत में केवल एक रूप है जो अस्थायी विकल्पों से पृथक और कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य के लिये एक साथ बराबर हो गया है।

संभवतः मराठी को छोड़कर, आधुनिक भाषाओं में से संस्कृत क्रियार्थक संज्ञाएँ लुप्त हो गयी हैं तो तेँ करूँ इच्छितो। यह स्मरण करना ठीक होगा कि यहीं पर रचना क्रियामूलक विशेष्य वाली हो सकती है अथवा मध्यकालीन भारतीय भाषा में -इउं युक्त क्रियामूलक विशेष्य या वे० जोड़ा जाये।

सीमान्तवर्ती छोटे-से समुदाय से अलग (प्रशुन और गवरबती -क- खोवार और पशाई इन सिना -ओइकि) ईरानी से उधार लिये गये (बली अक् ओर्मुरी -एक्) सर्वत्र नामजात रूप मिलते हैं।

बहुत अधिक प्रयुक्त होने वालों में एक -अनम् युक्त संस्कृत कार्यवाची संज्ञा से निकला है एक ओर मूल (सामान्य) रूप है सिंहली -नु कश० -उन् लहँदा -अण् (विकृत० -अण्) सिंधी-अणु[3] कुमाऊँनी-अनु जिनके साथ अन्य के अतिरिक्त बंगाली का तत्सम' जोड़ देना आवश्यक है दूसरी ओर व्याप्ति-युक्त हैं म० में ब्रज-नौ पं० -ना (-ना मूर्धन्य के बाद) राज० -णो -नु, नेपाली -नु (विकृत -न)। मध्यकालीन भारतीय भाषा में ये ही प्रयोग पहले से ज्ञात थे एगो अयस्सो मम घरं आगच्छ निवारेयव्वो (मम घरं आगन्तुं के तुल्य) गुज० मारणे छिद्दं (याकोबी 'एर्त्साहलुंगेन' पैरा० ११६, १०१)।

अन्य किसी रूप में सम्बन्धमूलक कृदन्त (गुज० -नुं राज० -णो ब्रज -इबौ

बंगाली हुव उड़िया -इबा और म० -अया केवल सिद्धस० में), और वर्तमान० तथा भूत० कृदन्त मिलते हैं जिनका उल्लेख पीछे किया गया है।

इन संज्ञाओं का वास्तविक भाव अर्थपूर्ण रहता है और उनका प्रयोग रूप-रचना के साधारण भाव-सहित हुए कारक में होता है। इसके विपरीत उन्हें थोड़े-बहुत व्याकरण-संबंधी मूल्य वाले वाक्य-विस्तारों में बहुत कम स्थान मिल पाया है और यह प्रश्न आगे उठेगा। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा को क्रियार्थक संज्ञा की रचना में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

शेष क्रियार्थक संज्ञाओं के कार्य का एक भाग पूर्वकालिक कृदन्त द्वारा अथवा उनके आगामी रूपों द्वारा पूर्ण होता है।

पूर्वकालिक कृदन्त

ईरानी में इस संज्ञा के अन्तर्गत परिस्थिति के द्योतक नाम-धातुओं अथवा -ति-युक्त संज्ञाओं के सामान्यतः समास रूप में कुछ क्रिया-विशेषणमूलक कर्म० रखे जाते हैं म० पैति सम्हर्मम् "संगम करने में" ऐवि नप्तीम् "पीछा करने में"। वेद में कर्म० के तुलनीय रूपों में क्रियार्थक संज्ञा का भाव है दे० पीछे किन्तु भी रन् को अवेस्ती रूपों की तुल्यता वेद के परवर्ती रूपों में मिली है और इन सूत्रों तक सीमित रहती है दर्श-कारम् से अ-भिषेकम्।

इसके विपरीत संस्कृत में निश्चित रूप से "पूर्वकालिक कृदन्त" अथवा क्रियामूलक विशेष्य के एक वर्ग की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है जिससे सिद्धान्ततः पूर्ववर्ती अथवा समकालीन परिस्थिति का द्योतन होता है उसकी अभिव्यक्ति करण० (और अधि करण ?) में कुछ रूपों द्वारा होती है जिनका कर्ता कम-से-कम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कर्ता नहीं होना चाहिए जो प्रधान वाक्यांश का होता है पिता निपच स्मियं दृष्ट्वाय कितव तताप।

विकरणों का सम्बन्ध -तु- -ति-युक्त क्रियार्थक संज्ञा में काम आने वाले विकरणों से है वैदिक प्रत्ययों -त्वी -त्वा -त्वाय का मूल क्रियाओं में व्यवहार होता है -यों और -त्यों का साधित और समासों में।

इन तुल्य रूपों की समृद्धि क्लैसीकल संस्कृत में कम हो जाती है जो भाषा की इस स्थिति के अनुकूल ही है किन्तु पूर्वकालिक कृदन्त की सजीवता रूपों के विस्तार और पुनःसंस्कार द्वारा प्रकट होती है पहले क्रम में वैदिक भाषा में त्वाय और पाणिनि के अनुसार -त्वीनम (दृष्ट्वीनम्) का सम्बन्ध मिलता ही है पाली में -त्वा (जिसमें प्राकृत गौर० -तूण) के निकट -त्वान (जैन-त्ताणं) का प्रयोग हुआ है अशोक० में गिर०

-स्सा छाह० -त्ति (पढ़ने में निस्सन्देह -त्ती) सुरक्षित मिलते हैं साथ ही -तु (तुल० निय विप्रयेतु "जिस भाँति गणना की जाय" एफ० डब्ल्यू० टॉमस 'ऐक्टा ओरिएंट' XII पृ० ४९) और एक बार -तूनं भी प्रथम बहुत कम मिलता है, द्वितीय पाली में बहुत कम है किन्तु प्रा० माह० -ऊण में यह बराबर मिलता है।

जो -ई युक्त विकरण है उसकी दृष्टि से पाली में सामान्य -य य (जो पा० इस में सुरक्षित है) काव्यात्मक व्याप्ति -याम (उदा० उत्तरियान उत्तरित्वा द्वारा विवेचित) जुड़ जाता है इसी क्रम में पैम आयाए (आदाय) प्रकार भी सम्बद्ध हो जाता है जो सामान्य विहत० स्त्री० (तुल० पा० अत्पाय जो एक साथ आत्पाय और अर्पाय से साम्य रखता है) के सदृश है जिससे निस्सन्देह अशोक० म उद्देश्यसूचक समान म(ट)थाए आदि (तुल० पीछे ६०) है। (इ)उ का न केवल क्रियार्थक संज्ञा की भाँति प्रयोग का किन्तु पूर्वकालिक कृदन्त की भाँति प्रयोग का भी उल्लेख करना आवश्यक है अशोक० में मिलता ही है तथा कत रूप जिसकी व्याख्या करना कठिन है (अ युक्त पूर्वकालिक कृदन्त के प्रत्यय का विकरण करा में प्रयोग?)।

अपभ्रंश का खास अपना रूप है इ चलि करि -एप्पि और -एप्पिणु भी है जो सं०-त्वी त्वीनम् और -वि -विणु (॰तुवीनम् का न्यास?) की याद दिलाते हैं। जो -इ है उसके लिये अनेक प्रतिपादन सम्भव हैं उनमें से कोई स्थापित नहीं होता इसके अतिरिक्त रासग्रन्थ के वीर-ग्रन्थों की दीर्घ लेखन प्रणाली के कारण भी दुरूहता उत्पन्न हो जाती है, उदा० करी जिसके कारण टेसिटरी को भूत० कृदन्त का अधिकरण करियो खोजना पड़ा था। गुजराती पहाड़ी (विविध व्याप्ति-युक्त रूपों सहित), पुरानी हिन्दी मैथिली और हिन्दुकुश की अनेक बोलियों (प्रमुख कलाश गवरबती सोवार) में यही रूप है बना रहता है सिन्धी म भी -ए अथवा -इ है जो क्रिया-रूप का अनुगमन करते हैं। आधुनिक हिन्दी में प्रत्यय लुप्त हो गया है और क्रियायुक्त विशेष्य क्रियाजात मूल के रूप में आता है संभवतः इसी कारण तथा साथ ही आसार्थ एक० से उसके साम्य के कारण यह केवल संहिति मे मुश्किल से ही आता है कह -कर, कर्-क प्राचीन करि-कै (द्वितीय भाग यहाँ अधिकरण अथवा भूत० कृदन्त के विकृत० में अधिक है)।

अन्य आधुनिक भाषाओं में अकेली बांग्ला म कुछ प्राचीन अप्रचलित रूप हैं मराठी अप्रयुक्त वैदेठि -हि सं० -त्वी का भली भाँति प्रतिनिधित्व करता है और जिसके प्रमाण उत्तर-पश्चिम क अशोक के अभिलेखों म मिलते हैं। ब० -ए प्राचीन -इ म अथवा -त्वाय में (तुल० सं० त्वया की क्रियाओं म -ए विहत कर्माम) नहीं है, अथवा वह कुछ और ही है? पैसे० -नि क्या भूय स सम्बद्ध है? सिंहली -कोट, पु० सिंहली -कोटु "द्वारा"

अशोक० पी० क(ट्)टु से आया प्रतीत होता है किन्तु सामान्य रूप -य अथवा -आय पर आधारित प्रतीत होता है।

अन्यत्र ये रूप बिल्कुल ही नहीं मिलते यह देखा जा चुका है कि उनका कार्य कृदन्ती रूपों द्वारा संपन्न होने लगता है। जो महत्त्वपूर्ण बात है वह है कार्य की निरंतरता पूर्वकालिक कृदन्त केवल अफ़गान प्रदेश की सीमा पर (पश्ई, तीराही और कोहिस्तानी समुदाय) और जिप्सी भाषा में नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त पीछे दी गयी सिद्धान्त की परिभाषा की अपेक्षा कार्य अधिक विविधता-संपन्न है वास्तव में पूर्व अधिकरण जो उसमें सिद्धान्ततः आनुषंगिक परिस्थिति प्रकट करता है, के साथ पूर्वकालिक कृदन्त संस्कृत में वाक्यांशों के संबंध के अनेक प्रधान साधनों में से एक प्रधान साधन प्रस्तुत करता है कृदन्त या लैटिन क्रिया-मूलक विशेष्य की भाँति वह मुख्य क्रिया की तुल्यता वहन करता है। ऐ० ब्रा० अपक्रम्य प्रतिवावदतो तिष्ठन् "वे हठपूर्वक प्रतिवाद करते हुए जाते हैं (अनुवाद "वे जाते हैं किन्तु रुक जाते हैं से अर्थ भ्रष्ट हो जायगा)।

एक सबल और वह भी समीक्षा है के कारण अनेक वाक्य-विस्तारों की उत्पत्ति होती है जिनमें मुख्य क्रिया में केवल सहायक भाव होता है ऐ० ब्रा० इन्द्रम् आरम्भ मन्ति यहाँ क्रियामूलक विशेष्य का वही रूप है जो ऋ० विमयम् एति में उपलब्ध कृदन्त का है और वास्तव में इस रूप में प्रयुक्त वर्तमान कृदन्त की वह कमी पूरी करता है। श० ब्रा० तं हिंसित्वैव मेने में पूर्व० कृदन्त की तुल्यता होगी वह भी लुप्त हो जाने को थी तुल० ऋ० सौमम् मन्यते पपिवान्। 'होना रहना" क्रियाओं का भी प्रयोग किया जाता है वे जो केवल क्रियामूलक प्रत्यय के वहन करने का कार्य करती हैं यथा० मघरीरान् अतीत्य वर्तते इसी प्रकार कृदन्त के साथ रामा० धर्मम् आश्रित्य तिष्ठता जिससे एक ऐसा सूक्ष्म भेद उपलब्ध होता है जो न तो आध्यमभाव एक प्रकार से प्रारंभिक क्रिया को व्यक्त करता है न आश्रित को जिसमें भूत० की भावना निहित ही है।

आधुनिक भाषाओं में अब भी ये वाक्य विस्तार मिलते हैं और उनसे शब्दावली में विशेषता उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार क्रिया मरना" का प्रयोग होता है प्रारंभ में संभवतः शब्द-व्युत्पत्ति शास्त्र के अनुसार कर्मवाच्य -आप सहित (किंतु स० शक्यत का क्रियार्थक संज्ञा से निर्माण हुआ है)। मरा० (अप०) करवि पतिमि न सकियाइँ पु० राज० बोली न सकै हि० बोल सकता नाहिं। 'देना' और 'लेना' क्रियाओं का भी ऐसा ही प्रयोग है हि० में एन् पढ़ लो दो "पढ़ कर पत्र को दो यानी यह पत्र मुझे पढ़ दो' सिपी में लिखणु

हि० कह देना (यहाँ गुजराती में क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग होता है जो प्राचीन भविष्यत्० कृदन्त है तेने हिमां रेहेवा दयो।

कुछ क्रियामूलक विशेष्य प्रयोग द्वारा अपने वास्तविक अर्थ के एक अंश से रिक्त मध्यकालीन भारतीय भाषा में परसर्गों का काम करते हैं दे० पीछे। आधुनिक भाषाओं में उनका प्रतिनिधित्व मुश्किल से मिलता है। पीछे दिये गये उदाहरणों में हमें (एच स्मिथ के अनुसार) सिंहली सिट "का से" (स्थीत्वा) मुत् मिस 'बगाय" (मुक्त्वा मुञ्चिय) करककोट (करणं कृत्वा) "के कारण से' और जोड़ सने चाहिए। किन्तु विकृत कृन्दन्तों जो उनका कार्य करने लगते हैं, से सबन्ध एक काफी लंबी सूची मिलती है उदाहरणार्थ हि० नेपाली बिहारी पु० बगाली लागि नेपाली लाइ 'लिये" सिंधी लाये "दृष्टि में" हि० लिये म० हाउन् और वह पूरी परंपरा जिसका पूर्वज स० कृते कृतेन है ब्रज के पं० हि० वि० के तुल० ब्रज करि, पं० हि० कर् राज० अर्।

नवीन क्रियामूलक रूप

प्रणाली का ह्रास हो जाने पर भी मध्यकालीन भारतीय क्रिया में कई कालों और कई क्रियार्थ भेदों का अन्तर मिलता ही है। आधुनिक भाषाओं में प्राचीन क्रियार्थ भेदों का कोई खास चिह्न नहीं रह गया जब तक कोई आज्ञार्थ को जिसका साधारणतः एक मध्यम पुरुष की अपेक्षा कोई अन्य रूप नहीं है, मूल क्रिया के समान न गिने इसके अतिरिक्त स्वयं आज्ञार्थ चाहे क्रियार्थक संज्ञा (विशेष भाव-रहित) द्वारा अथवा कर्मवाच्य वर्तमान (भिन्न अथवा आदरपूर्ण भेद) द्वारा अपना स्थान लिये जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है।

स्वयं निश्चयार्थ में अतीत लुप्त हो जाते हैं स भविष्यत् केवल कुछ भाषाओं में रह जाता है केवल वर्तमान निरंतर रूप में बना रहता है और ऐसे अर्थ प्रकट करने की क्षमता रखता है जिनकी अभिव्यंजना बहुत उचित नहीं होती सस्कृत में ही वह आधिन पूर्वसर्ग में सतयार्थसूचक रूप का स्थान ग्रहण कर लेता है। पतन करते समय वह सुविधानुसार निश्चयार्थ के अन्य कालों में मिश्रित हो जाता है मध्यकालीन भारतीय भाषा म खारवेल का अभिलेख वस्तुतः ऐतिहासिक पूरा-का-पूरा वर्तमान में है केवल भूमिका को छोड़कर जिसमें राजा के बचपन वाला संबंधवाचक अतीत -त- युक्त कृदन्तों द्वारा व्यक्त किया गया है, और अंत में हस्ताक्षरों म है जो केवल सामान्य वाक्यांशों मे बना है निस्सन्देह ऐसा दो शैलियों के संघर्ष की अपेक्षा अर्थ क सूक्ष्म भद में कम होता है। भविष्यत् क अर्थ वाला वर्तमान बहुत कम मिलता है।

आधुनिक साहित्यों तथा साथ ही ग्रामीण बोलियों में जो प्राचीन हैं, प्राचीन

वर्तमान में साधारणतः वास्तविक अर्थ सुरक्षित रहता है साथ ही मूल या कहावत-संबंधी वर्तमान का भी निरन्तर रहता है। ऐतिहासिक वर्तमान वर्णन में अधिक मिलता है मराठी तो और आगे जाती है उसमें प्राचीन वर्तमान मूल में पुनरावृत हुए कार्य को नियमित रूप से द्योतित करता है। दूसरी ओर मराठी में वह सम्भावना अनिश्चितता व्यक्त करने का काम देता है उसमें उसका वह भाव है जो हिंदी में पंजाबी में कश्मीरी में [गुपि "वह छिपेगा वह छिप सकता है (यदि) वह छिप"] प्रचलित है उसमें भविष्यत् का भाव निहित रहता है सिंधी में सामान्य (हरम् मैं ले जाऊँगा") तथा अन्य दर्द-बोलियों में (दमेली तोरवाली प्रथम॰ एक के विभिन्न रूप सहित) मैथिली में (सम्भाव्य अर्थ भी)। वास्तव में केवल नूरी में उससे आश्रित पूर्वसर्ग का सहायार्थसूचक बनता है और निश्चयार्थ भाव प्रकट करने के लिये उसमें एक निपात जुड़ जाता है ननम् "मैं जो लाता हूँ" नमनि मैं लाता हूँ" इसी प्रकार यूरोप में कमाव एक प्रकार से सहायार्थसूचक है, कमाव वास्तविक भविष्य है "मैं प्यार करूँगा।"

विपर्यस्त रूप में क्रियार्थ भेद-संबंधी सूक्ष्म भेद वर्तमान से सम्बद्ध निपात द्वारा उपलब्ध हो सकता है। यह सिंहली का है, और क्षेत्र की दूसरी सीमा पर, कहीं अफ्ग़न बैगलि वा (मबर्बती क ?) ऐसा निस्सन्देह कम-से-कम अन्तिम समुदाय में संस्कृत भू धातु के रूप संभवतः आदरार्थ से हो जाता है इसके अतिरिक्त ब से काफिर में "सकना" क्रिया उपलब्ध होती है। यही शब्द यूरोप की जिप्सी-भाषा (स्कानियन हुंगेरियन वेल्स) के आशार्थ में सामान्य प्रत्यय हो जाता है। तीराही में भविष्यत् बताने वाला उपसर्ग ब का और अफ़गानी से उधार लिये गये का भेद करना आवश्यक है।

लहंदा में काफिर के "आदरार्थ" के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अययार्थ की रचना होती है मारां-हा मारेंस्-हा। इसी प्रकार कश्मीरी में है निपात के बाद आने वाले प्रत्ययों को छोड़कर, गुप-हुग्, गुपि-हिंयु।

किन्तु सामान्यतः अययार्थ जिससे मूल॰ अनिश्चितता का द्योतन होता है, भूतकाल के साथ सम्बद्ध हो जाता है उदाहरणार्थ हिं॰ करता।

दूसरी ओर यह देखा जा चुका है कि कर्मवाच्य वर्तमान अपने मूल या कहावत संबंधी भाव के नाम में प्रायः बन्धन का भाव ग्रहण कर लेता है और नम्र आज्ञा देने के काम आता है। म॰ पाहिजे हिं॰ चाहिए अव॰ देइअ् हिं दीजे दीजिये पु कर॰ जैसे "उसे गिरना चाहिए" जैसे "उसे गाना चाहिए" कर॰ आशु॰ पुपिजि हिं॰ दीजियो आदि इसी मुक्त बंगाली का आशीर्वादात्मक (हिन्दी में उधार लिया गया ?) सम्भवतः प्राकृत धातु॰ दिज्जउ का आशार्थ प्रकार वाले इन रूपों का अनुकूल रूप है।

क्रियार्थ भेद-संबंधी सूक्ष्म भेद अतः, अस्थायी सूक्ष्म भेद विविध रूप में आते हैं।

मुख्य कालों में वर्तमान में प्राचीन वर्तमान की संभव अभिव्यंजना भी संस्कृत (इ)त से निकला कृदन्त सामान्यतः अतीत का प्रतिबिम्बित करता है। अपेक्षा भविष्यत् वहाँ जहाँ स भविष्यत् रूप नहीं है उचित अभिव्यंजना-रहित रहता है। ऐसे कारक देखे जा चुके हैं जिनमें यह कर्मण के कृदन्त द्वारा आती है, स० (इ)तव्य।

अन्य रीतियाँ भी हैं, जिनके तत्त्व आधुनिक हैं।

प्रथमतः सामान्य वाक्य-विस्तारों की रीति म० बोलणार आहे पु० चालवानो छुँ, सिंहली कपसे-मि (प्राचीन काल में सतततासूचक वर्तमान और वर्णनात्मक भूत० के रूप में) क्रियार्थक संज्ञा के साथ नेपाली में मर्नें छ बनता है पदाई वर्तमान प्रत्यक्षतः संहिति पर आधारित है हनीच्छ-अम "मैं मारता हूँ मैंने मारा"।

एक दूसरी रीति वर्तमान से सम्बद्ध निपातों की है यह देखा जा चुका है कि यूरोपीय जिप्सी-भाषा में यह कारक है (ग्रीक भूत के अनुकरण पर कम "इच्छा होना" के वाक्कानी प्रयोग को छोड़कर) मध्यवर्ती में आ और -ओ क्रिया-रूप मूल के साथ सम्बद्ध हो गया प्रतीत होता है (सामान्य वर्तमान म पर-प्रत्यय के साथ है) θेलम्-ओ "मैं पीटूँगा" θेलेस्-आ तुल० बोएम् बोएस् (स्वयं एक कृदन्त और क्रियामूलक रूप रचना का साविभक्त रूप) सिंना में वुर्मेम् अनिश्चित को थोड़े-से भविष्यत् का भाव प्रदान करता है।

प्रायः प्रयुक्त निपात नाममात्र भूत का रहता है, और ठीक-ठीक रूप में कहा जाय तो कृदन्त। एक विशेष रूप से स्पष्ट कारक हिन्दी में मिलता है

		पुं०	स्त्री०
एक०	१	पु० चलूँ(ऊ)गा	स्त्री० चलूँ(ऊ)गी
	२ ३	चलेगा	चलेगी
बहु०	१ ३	चलें(ऊ)गे	चलें(ऊ)गी
	२	चलोगे	चलोगी

हिन्दी तथा आसपास की सभी बोलियों में यह प्रकार ज्यों-का-त्यों मिलता है मैथिली (आंशिक) पंजाबी मेवाती। किन्तु राजस्थान के दक्षिण में मारवाड़ी और मालवी या भीली मो पु० एक० के रूप में स्थित हैं। पंजाब की उत्तरी जातियों की बोलियों और पड़ौसी हिमालय-निवासियों की बोलियों में पर-प्रत्यय ग अथवा पा है तथा इसके अतिरिक्त मुख्य क्रिया में प्रत्यय दृष्टिगोचर नहीं होते। उदाहरण डोगरा (पंजाबी)

१ एक०	मारब	बहु० पु०	मारन् मारृये
		स्त्री०	मारृगिआं
२ पु	मारृम	पु०	मारृमिओ मारृमे
स्त्री०	मरृमी	स्त्री	मारृगिबें
३	मारम्		मारनृये -गन्
			मारृमन् मारृगृबें

तुल पु में कोयडा बोली में

एक० १ मरौग(ह)बा १ २ ३ मारृग(ह)बा बहु० १ २ ३ मारृग(ह)ए।

कुछ रूप इस सामान्य अनुमान को प्रश्रय देते हैं कि प्रथम शब्द क्रिया-रूप-युक्त रूपों का अवशिष्ट अंश है यह भी सम्भव है कि क्रियामूलक विशेष्य बीच में आ टपका हो जैसा सिना के भूत० में है जसेम् जमेगि "उसने (पु०) उसने (स्त्री०) पीटा है"।

द्वितीय वग स्पष्टत नामजात और स्वतंत्र है इस अवसर पर हिन्दी उन्हें पृथक कर देती है हो ही गा। क्रिया 'जाना' से मत के भूत० कृदन्त के अ-व्याप्ति-युक्त रूप को पहचानना सरल है पु० प्रा भओ बज गी हि गा [व्याप्ति-युक्त रूप प्रा म(य्)अओ बज गयी हि गया]। यह कृदन्त जो सिना मे भूत० अर्थ-युक्त वाक्य विस्तारों की रचना करता है (हरीम् हरीमि "वह ले गया ले गयी है") और फलत स्वाभाविक रूप में मन्तुन में अयथार्थ भाव मे (विजले-गोम् "मैं जाऊँगा" तुल० तुल० दिमस्म् "मैं जाऊँगा") यहाँ पूर्ण होने का भाव ग्रहण कर लेता है इसलिए अर्थ होगा मैं गया हूँ (गयी हूँ) ताकि मैं पीटूँ आदि। तुल बेल्य जिप्सी भाषा की अभिव्यंजना मे जाँव ते मर्म "मैं जाता हूँ कि मैं मारूँ, मैं मारने के लिये जाता हूँ" और भूत० कृदन्त के साथ मूरी मर जारि 'गया कि वह जा सके' वह जाना चाहता है"।

अन्यत्र द्वितीय अंश म अकेले या व्याप्ति द्वारा निर्मित होता है। मराठी में अत्यन्त प्राचीन पाठों म काल मे -ल् अकेला है पडैल् पडेल करील। भीली में और मारवाड़ी म पर प्रत्यय अव्यय -गो -ला है। किन्तु जैपुरी में -लो सज्ञा-रूप प्राप्त करता है, और साथ ही हिमालय के समुदाय मं कुमायूँनी नो नेपाली -ला

१ मल गा (अव्ययन भविष्यत् म गदने छ दे० पीछ) "मैं बनाऊँगा मैं बनाना चाहता हूँ"।

२ गरे-ला-म्।

३ मरे-ला।

(प्राचीन रूपों क साथ योग उदाहरणार्थ पूँछ की सहँसा बस्तू की बोली में)।

समीपवर्ती बोलियों में मारवाड़ी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता मालवी से है जैसा कि उसी क्षेत्र में देखा जाता है कि मार्-गा की प्रतिद्वन्द्विता मारी-गा से है।

अपरिवर्तनीय मूल की उत्पत्ति यहाँ इतनी कम स्पष्ट है कि कुछ बोलियों में द्वितीय कोटि के क्रियामूलक प्रत्यय प्रभावित हो गये हैं, जैसे काफ़िर में अस्कुन बस्ड्, कती बेकोम्, अश्कुन ब्लिम्, कती कुसुम् "मैं जाऊँगा"; तुल० अश्कुन शेम्, कती मुर्सम् "मैं हूँ"।

मध्य० नेपाली में स-भविष्यत् के उत्तम० एक० के विकरण में जो क्षीण हो चुका था -छि जुड़ जाता है: करिहुछि बिहुरि।

समापिकाओं के व्यवधान और निरन्तरता रहने पर भी भोजपुरी वर्तमान-भविष्यत् की समता करने के लिये भी यह उपयुक्त स्थल है: पु० देखबे, स्त्री० देखबिसि देखे-ले, देखे-ल्न्, देख-बिन् (तुल० देखन् "यदि मैं देखता हूँ" देखिन् "यदि मैं देखती हूँ")। ऐसा यहाँ प्रतीत हुआ ही है यद्यपि हमारे सामने चाहे भूत० कृदन्त हो अथवा क्रियामूलक विशेष्य; कोंकणी वर्तमान० कृदन्त से अपना काम चला लेती है: निदुंगो "मैं सोऊँगा"।

अस्तु, इन रूपों का इतिहास जटिल है, किन्तु पूर्-युक्त रूप के साथ समानता द्वितीय पक्ष में कृदन्त देखने के लिये बाध्य करती है, कृदन्त का निस्सन्देह म० भा० ... है जो वस्तुतः मध्यकालीन भारतीय भाषा-काल में ही (है के अनुकरण पर निर्मित) द्वारा सामान्यतः स्थान-च्युत कर दिया गया है। रूसी जिप्सी भाषा के "सिनर" के प्रयोग के साथ संस्करण ध्यान देने योग्य है।

भविष्यत् से बाहर, ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जिनमें सहायक एक कृदन्त हो। सिंधी में निश्चयार्थ वर्तमान अर्थात् हुन्दो पो (स्त्री० पी) अथवा पो(पी)हन्दो "मैं जाता हूँ" संस्कृत स्था- धातु के कृदन्त-सहित है; 'पिओ थाई' जिसमें कृदन्त संस्कृत पतित से निकला है।

इसी प्रकार की रचना किन्तु क्रियात्मक सहायक के साथ (तुल० सिन्धी-भाषा का भविष्यत् जिसका पीछे उल्लेख किया गया है) गुजराती-राजस्थानी-ब्रज समुदाय में यथार्थ वर्तमान निर्मित करने का काम करती है: गु० चालूँ छूँ, ब्रज मारौ हौ।

क्रियामूलक सहायक जो प्रधान भाव का द्योतित करने वाले कृदन्त कर्ता या विकृत रूप के साथ आते हैं अस्थायी और निराश्रय अन्य-संबंधी सूक्ष्म अर्थों की साधारण-से-साधारण अभिव्यंजना के साधन बनते हैं और जिनके अब तक देखे गये का अनुवाद के अयोग्य हैं: सतत संबंध शब्द आदि। इस अवसर पर व्याकरण और शब्दार्थ के बीच कोई निश्चित सीमा नहीं है यद्यपि क्रिया-रूप भाषाओं के अधिक परिष्करण और उनकी

समीक्षा के अनुरूप ही समृद्ध प्रतीत होते हैं उनका यहाँ उल्लेख करना उतना ही अनावश्यक है जितना संज्ञा का आकृति-मूलक वर्णन करते समय समस्त प्रयुक्त परसर्गों की सूची का। यहाँ 'होना' क्रिया के साथ योग के ऐसे कुछ उदाहरण देना यथेष्ट होगा जो अत्यन्त स्पष्ट उदाहरणों में से छाँटे गये हैं (सभी अव्ययी रूप पु० में प्रकट होते हैं)

मराठी

क्रिया "होना" के रूप

चालत् आहे
चालतो आहे
चालतो आहें
चालणार् आहें
चालत् असें
चालत् असतो
चालत् असतो
चालतों असतों
चालतो असतो
चालणार् असतों
चालणार् असतो
चालत् असेन्
चालतों असेन्
चालणार् असेन्
चालत् होतो
चालतों होतो
चालता झालो
चालता होइन्

कृदन्ती रूप से क्रिया 'होना'

चालत् असावा
चालतो असावा
चालणार असावा
म्यां चालत् असावें
म्यां चालावा होतें

सिन्धी (सामान्य या परसर्गात्मक विकृत सर्वनामों की रचना किये बिना)

क्रिया "होना" का रूप

हुन्दो आहियाँ
हुयो आहियाँ
हुअन्दो हुआँ
हुअन्दो होन्^{ए}
हुअन्दो हुन्दु-स्^{ए}

क्रिया "होना" कृदन्त

हुआँ थो थो हुआँ

तुल० हुविउस्^{ए} थे (विकृत कृदन्त) जो वास्तव में है हुविउस्^{ए}

मारवाड़ी

मारूँ छूँ "मैं पीट सकता हूँ" (निश्चयार्थ वर्तमान के लिये विपुल अभिव्यक्ति मारूँ हूँ)।
मारूँ हूँला
मारूँ हो (तथा भूत० कृदन्त के अधिकरण सहित मारै हो)
मारूँ होतो

हिन्दी

क्रिया "होना" के रूप

गिरता (-ती) हूँ
गिरा (-ई) हूँ
गिरता होऊँ
गिरा होऊँ
गिरता हूँगा
गिरा हूँगा

क्रिया "होना" कृदन्त में

गिरता होता
गिरा होता
गिरता था
गिरा था

मैथिली

देखइ छी देखइत (देखइत् [ह]) छी।

देखल् अथवा देख् [अ]छहुँ अछि (अथवा अहि)।

देखने छि।

देखइ अथवा देखइत् (-त् [ह]) चलहु [ऊ] (अछ- का क्रिया-रूप हलन्त)।

देखने चलहु [उँ]।

प्राचीन बंगाली करिते छि करिते छिलाम्।

करिया छि करिया छिलाम।

म० बंगाली : करि छि करि छिलो।

तूरी

मन्-ओ-चम् (क्रियामूलक विशेष्य+*हो+*अच्छामि) मैं जाना चाहता हूँ" मैं जाना हूँ जा रहा हूँ"।

क्रिया "होना" कर्मवाच्य बनाने के भी काम आती है

सिंधी मारिओ आहिमाँ तुल० मारिबु-म् [ए] विपर्यस्त रूप में 'होना' का हलन्त प्राचीन कर्मवाच्य से सम्बद्ध पाया जाता है मारिओ को "मैं पीटा जा रहा हूँ"।

मारवाड़ी मारियो है हो और फलस्त मे मारियो है हो मे मारियो हुवे यह केवल कर्मवाच्य है, प्रयोग कर्तृवाच्य का पूरक है।

बंगाली जखा हार, मारा होने मरा होइबा छे ए बोद आमार् पड़ा गाछे।

पश्तो (समुदाय में ऐसा प्रतीत होता है केवल यही) हुनिन् जिमिम् बीकीम् "मैं पीटा जाता हूँ तुम पीटे जाते हो" हुनिन् बिगाकुम् "हम पीटे जाते हैं।"

जिप्सी-भाषा में भी ओव् (प्रा० हो-) से कर्मवाच्य बराबर बनता है चिन्दोवव "मैं गिरा हूँ" यह परिओवव मैं बड़ा हो गया हूँ" प्रकार का विस्तार है। तूरी में ऐसा कुछ भी नहीं है।

इन समस्त अभिव्यंजनाओं का महत्त्व भली भाँति समझने के लिए (जिनमें प्राचीन कालीन श्रेणियाँ नहीं ढूँढ़नी पड़तीं अथवा प्रयोग की आवृत्ति नहीं ढूँढ़नी पड़ती) न केवल इन रूपों के मध्य में सन्निहित यौगिक सान्निध्य की ओर पीछे संकेतित भविष्यत् की ओर ही ध्यान जाना आवश्यक है, वरन् दूसरी ओर उन समुदायों की आवृत्ति की ओर भी जो "होना" के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं के साथ सादृश्य रखती हैं।

अत्यधिक विशेषता-सूचक अभिव्यंजनाओं में से उन अभिव्यंजनाओं का उल्लेख किया जा सकता है जो "जाना" से बनती हैं पीछे यह देखा जा चुका है कि सिंधी में भविष्यत्० और भूत० में यह क्रिया कृदन्त रूप में है। व्यक्तिवाचक रूपों में प्रयुक्त होने पर, उससे कर्मवाच्य बनाये जा सकते हैं।

कश्मीरी में यह क्रिया विकृत क्रियार्थक संज्ञा से निर्मित होती है गुपन यिम "मैं ढूँढने जाऊँगा मैंने ढूँढ लिया होता' बंगाली में प्रत्यक्षतः कर्तृ क्रियार्थक संज्ञा (प्राचीन कृदन्त) से देखा जाय अथवा होइ।

"जाना" कर्ता से साम्य रखने वाले कर्मवाच्य कृदन्त के साथ भी मिलता है और ऐसा विशेषतः हिन्दी पंजाबी मराठी और उड़िया में है मैं मारा गया मैं मारा जाता हूँ।

यह रचना कुछ कम स्पष्ट है क्या अलग-अलग होने के समय जम् धातु के संस्कृत याद से निकले प्रा० जाम (कर्पूर खुरिओ जाओ म्हि) और प्राकृत जा सं० या 'जाना' जिसका निरन्तरता का भाव एक प्रकार से सहायक का था के बीच गड़बड़ है [तुल० हिं० वो कहता गया अथवा रहता मेरा मक्खा बैठना (बैठा) जाता है] ? क्या यह ईरानी प्रभाव है ? फ़ारसी और अफ़ग़ानी वास्तव में इसी रीति से शुदन् का प्रयोग करती हैं, जिसका प्राचीन अर्थ है "जाना"। इस संबंध में उर्दू मध्यम मार्ग और अन्य भाषाओं के लिये वाहक होगी। हर हालत में यह रचना केवल ह्रास की ही प्रतीत होती है और संभवतः उस पर अँगरेज़ी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

क्या ऐसा ही "होना" क्रिया की रचना में है ? प्रत्येक परिस्थिति में प्राचीन देशी प्रणाली से कर्मवाच्य के स्थान पर, प्रेरणार्थक कर्तृवाच्य विकरण के विपरीत मनु० कर्मवाच्य विकरण उपलब्ध होता है, दे० पीछे स्थानीय स्वरूपों की गणना किये बिना उदाहरणार्थ कवी मिगन् उगुग पु० सिंहली पसनु ममि (रूप जो अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धघोष की पाली में मिलता ही है, दे० "ब्रिटि० पाली डिक्श०" s.v. अन्तरकम्म) सिंहली माधु गमष्ट मेदेनवा हिं० देखन में आना दिखाई देना जहाँ तक भार् व्याना सुनाई पड़ना "सुनाई में मिलना सुन पड़ना" प्रकारों से संबंध है इन बात की ओर संकेत किया ही जा चुका है कि ये एक कुछ मनुष्य रूप हैं पहला ईरानी में दूसरा द्रविड़ में। बंगाली में आमि देखा पड़ि "मैं पड़ता हूँ देखा" के निकट आश्चर्य देखा जाय अथवा होय 'मेरी ओर देखा जाता है होता है" जो बराबर है "मैं देखा जाता हूँ" के।

यहाँ यह देखा जाता है कि व्याकरण का बहुत काम नहीं है। एक अति सामान्य प्रयोग के स्वरूप के विशेष प्रयोग द्वारा हो जाता है और जो भारतीय शब्दावली की

विशेषता है। उदाहरणार्थ बंगाली में "गिरना" के प्रयोग की ओर ध्यान देना यथेष्ट होगा "से गाछे उठिया पड़िल से गाछे उठिया पड़िल जिनमें अतिशयता के बल-स्थल का अनुगमन करते हुए, उस प्रणाली का समुदाय है अथवा नहीं जिससे दो विरोधी अर्थ उपलब्ध होते हैं "पेड़ पर चढ़ा हुआ वह गिर पड़ा है" "वह पेड़ पर चढ़ने को हो गया है" (ऐंडर्सन 'मैनुअल आव दि बेंग० लैंग्० पृ० ३५)। "लेना" "देना" "फेंकना" के लिये क्रियाओं से प्रमुखतः अतिशयता का भाव प्राप्त होता है बंगाली वाक्यिया देह "छोड़ देना" दो भाषाओं में जो व्याप्ति-युक्त भी है, आता है जिससे गुजराती और कश्मीरी अपने भूत० कृदन्त को सशक्त बनाती हैं गु० तेने राणी ने मसाडी-मूकी (उसके द्वारा रानी का पीछा किया गया) कश्० कुरु पुप्^उ^-मोत्^उ^ "वह किया हुआ है"। अस्तु, रूप जो प्रचुर हैं और वर्णनात्मक व्याकरणों में कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं वास्तविक सच्चे क्रिया-रूपों के निर्माण के प्रमाण नहीं हैं।

कर्ता के साथ क्रिया के संबंध

वाच्य

प्राचीन संस्कृत में अकर्तृक क्रिया नहीं थी मैं० सं० यद् वे पुरुस्यमयति तै० सं० प्रर्वाम्यो'वस्यत ऋ० अवर्पीत् प० ब्रा० वर्षिष्यति किन्तु वर्ष द्वारा एक कर्ता व्यक्त होता है तथा म० ब्रा० में उर्ध्वो वाति वास्तव में सामान्य सूत्र की भाँति आता है यदा बसवद् वाति एक पु० कर्ता निहित है। वास्तव में संस्कृत में कर्मवाच्य के रूप में केवल अकर्तृक का ही विकास हो सका यह एक वास्तविकता है कि न्यायानुकूल कर्ता यहाँ करण० द्वारा प्रकट होता है और समानता से भी जिसे कर्मवाच्य पुरुषवाचक रूप -तव्य तथा उ युक्त क्रियामूलक विशेषण के सहित प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक भाषाएँ सुविधा के अनुसार कर्ता प्रकट करती हैं हिन्दी मेंह या पानी पड़ता है बादल गरजती (?) है बिजली चमकती है सिंदू मे वर्द है कती ते सिम् नूरी को पृथक् रखना आवश्यक है जिसमें बरसुद् एवं विम्य एक अरबी प्रभाव है जिसके निकट उसमें बरसति "बरसता है" भी है। यह समझा जाता है कि कर्ता समवत एक उपसर्गात्मक अव्यय बाद म "कि" तथा कर अपना परिचय देता है जैसे संस्कृत यत् और बाद को फ़ारसी से लिया गया कि हि बिहृत् होमा कि।

जहाँ तक कर्ता के पुरुषवाचक क्रिया से संबंध की बात है वह संस्कृत में दो प्रकार के प्रत्ययों द्वारा प्रकट होता है

कर्तृवाच्य और मध्य। दूसरे में क्रमशीलक संस्कृत में केवल कर्मवाच्यों का निश्चित भाव सुरक्षित रहा है साथ ही उनमें एक विशेष पर प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसा कि देखा जा चुका है मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह वर्ग बना रहता है किन्तु उसके विभेदक-सूचक प्रत्यय लुप्त हो जाते हैं। नव्य भारतीय भाषाओं में यह वर्ग सीमित रूप में मिलता है अनेक स्थलों पर कर्मवाच्य अपने प्रागैतिहासिक तुल्य रूपों द्वारा व्यक्त होता है किन्तु कर्मवाच्य का ह्रास अपूर्ण रह जाता है। जहाँ तक पीछे उल्लिखित हाल के रूपों से संबंध है उनका मूल साहित्यिक है और अधिकांशत ये यूरोपीय प्रभाव के कारण हैं।

हर हालत में अकर्तृक के अभाव की भाँति सामान्य कर्मवाच्य का इतिहास इस

बात का प्रमाण है कि चीजों को कर्तृवाच्य रूप के अन्तर्गत देखने की आवश्यकता है कुछ समय के लिये कर्मवाच्य रूपों के वर्तमान भविष्यत् में कर्मवाच्यों के जीवित रहने के कारण जब कि भूत की अनिवार्यतः कर्मवाच्य वाली अभिव्यंजना थी इस बात की आशा की जा सकती है कि एक पूर्णतः कर्मवाच्य क्रिया की रचना हो। वास्तव में कई भाषाओं में कर्त्ता कारक में ऐसे कुछ रूपों का प्रयोग होता है जिनके विकृत रूप होने का सन्देह किया जा सकता है विशेषतः सर्वनामों में यह स्पष्ट है और यह भी न केवल हिमा में जिसमें तिब्बती का प्रभाव माना जाता है (एल० एस० आई० पृ० ६५०) किन्तु, उदाहरणार्थ हिन्दी में भी मैं। लेकिन वास्तविक भाषा-विज्ञान की भावना के अनुसार, ये सब कर्त्ता० से होते हैं तथा स्वयं भाषा-विज्ञान की भावना व्याकरण-संबंधी सूचनाओं के प्रकाश में देखने पर, उस रचना का कर्तृवाच्य की भाँति विश्लेषण करती है जिसका पूर्ण साम्य कर्मवाच्य प्रकार के साथ होता है मैं ने मैं किताब् पढ़ी।

लिंग

पुरुषवाचक काल-रूप क्रिया-रूप में एक बहुत ही स्थूलत्व-पूर्ण स्थान ग्रहण कर लेते हैं—यदि उनकी तुलना अन्य क्रियाओं के साथ आने या न आने वाले कृदन्ती रूपों के साथ की जाय। तो फिर यह कहा जा सकता है कि लिंग की अभिव्यक्ति उन भाषाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है जिनमें विशेषण उसे स्वीकार कर लेते हैं हि० म बोलता या बोलती मैं बोला या बोली म० मिं उठो या उठ्लों मिं उठ्लो अथवा उठ्ले आदि।

हिन्दी जैसी भाषाओं म भूत के लिये कर्मवाच्य अभिव्यंजना मिलती है (औरत् ने घोड़ा मारा घोड़ी मारी जिसका ठीक-ठीक रूप होगा 'औरत द्वारा घोड़ा मारा गया घोड़ी मारी गयी") लिंग पूर्णतः पुरुष पर छाया हुआ है। अकर्तृक रूप "औरत ने घोड़े (घोड़ी) को मारा" "औरत द्वारा घोड़े का (घोड़ी को) उसे कुछ आघात दिये गये हैं" लिंग के महत्त्व को बिना पुरुष को उसके अधिकार दिये बिना दबा देते हैं इसी प्रकार नेपाली भावरमूलक है।

लिंग की अभिव्यक्ति केवल वहीं नहीं मिलती जहाँ वह विशेषण में नहीं है सिंहली म काफ़िर में (उसमें गवरबती भी शामिल कर लीजिए जिसमें विशेषण का आंशिक साम्य स्थापित होता है) कश्मीर में पशई और खोवार म अंत में पूर्वी समुदाय में स्वयं भोजपुरी म उसके क्रिया-रूप में गणना की जाती है २ एक० पु० देखस् स्त्री० देखिस् जब कि लिंग का साम्य केवल सकर्मक वाच्य-रूप 'मारी' में अधिक प्रमाणित होता है।

पुरुष तथा वचन

यह देखा जा चुका है कि पुरुष की अभिव्यक्ति किस प्रकार कृदन्ती रूपों में प्रकट होती है जो सिद्धान्ततः उसे स्वीकार नहीं करते। इसके अतिरिक्त सर्वनाम विशेषतः उत्तम और मध्यम पुरुषों में, साधारणतः उनमें अनिवार्य होते हैं—जब तक कि उनके बिना बाकी सर्वनामों के लिए अनिवार्य न हो।

भारतवर्ष में अत्यधिक विकसित सामाजिक ऊँच-नीच के कारण पुरुषों का प्राचीन प्रयोग कुछ जटिल हो गया है। प्राचीन संस्कृत में तो नहीं, जिसमें अधिक-से-अधिक पद के अनुसार लोगों को संबोधित करने में भेद था (उदा० ब्राह्मणों के लिये भो:), किन्तु बाद को एक और रूप भवन्त् निकल पड़ा जो एक सम्मानित व्यक्ति को संबोधित करने के काम आता था। पाली और संस्कृत में, विशेषतः शिष्ट और मध्यकालीक साहित्य में सर्वनामों के बहुवचन भी मिलते हैं।

शिष्ट भाषाओं में यह एक नियम बन जाता है। यद्यपि जिप्सी-भाषा में सर्वत्र 'तू-तेरा' प्रचलित है, गंगा-सिंधु जातियों की भाषाओं में उसमें घनिष्ठता, स्नेहशीलता अथवा घृणा निहित रहती है। हिन्दी में बहु० का मध्यम पुरुष छोटों के साथ सामान्य संबंध में काम आता है। शिष्ट रूप प्रथम० बहुवचन का होगा, जिसके साथ या साथ क्रिया तथा एक प्रथम० एक० का कर्ता होगा, किन्तु जो सम्मानसूचक होगा, जैसे वास्तव में "स्वयं" तुल० दे० पीछे महाराज, हुजूर, साहब आदि, क्योंकि प्रथम० एक० में आदरसूचक कर्ता हर हालत में क्रिया को बहु० में परिणत कर देगा: राजा फ़रमाते हैं। फलस्वरूप एक० उत्तम० को व्यक्त करने के लिये 'मैं' का प्रयोग किया जा सकता है, और विनम्रता के सूक्ष्म भेद के साथ 'बन्दा' प्रकार के शब्दों का प्रथम० एक० में, किन्तु 'हम' बिना किसी विशेष मूल्य के सामान्य है: हम नहीं करेंगे "मैं (हम) नहीं करूँगा"। मराठी और गुजराती में समान नियम हैं, किन्तु तीन लिंगों के अस्तित्व के कारण यह दुरूहता है कि स्त्री० का आदरसूचक रूप नपुं० है: म० बाई-साहेब आलिं असिंत; गु० तमनी साथ रानी पण् आव्यां छ (यथा इसमें और हिन्दी प्रकार के स्त्री० बहु० के बीच का संबंध प्राचीन नपुं० प्रतीत होता है, दे० पीछे)। सिंहली में बहु० उम्बे अथवा नु(मुं)ब प्रथम० उस-तुमी की भाँति बराबर वालों अथवा उस छोटे पर जिसके साथ विनम्रतापूर्ण व्यवहार किया जाता है (जिसमें नवीन बहु० उम्बे-ला की उत्पत्ति) द्योतक होता है, आदर तमु-स (अर्थात् स्पष्टतः "आत्मनः छाया) अथवा नुब वहन्से "आपकी पादुकाओं की छाया (?)" द्वारा प्रकट किया जाता है। इसी प्रकार पु० प्रथम० में उसमें के उन् वहन्से का 'ऊ' "उसे" (क्योंकि स्त्री० में के आदरसूचक रूप नहीं होते) के स्थान पर प्रयोग होता है; तुल० गुरुमानुम "स्वामी"।

बहु० सर्वनामों के प्रयोग के कुछ आकृतिमूलक परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। बंगाली में 'मुइ' के प्रतिकूल आमि "मुझे हमें" तुइ तुमि "तू तुम" में विपरीतता मिलती है

मुइ, तुइ "मैं तू" }
मोरा तोरा 'हम तुम" } निम्न
आमि तुमि "मैं तुम' }
आम्रा तोम्रा 'हम तुम' } सामान्य

अस्तु, मध्यम पुरुष में मिलेंगे

तुइ करिस् (घनिष्ठतासूचक)
तुमि कर (एक व्यक्ति)
तोम्रा कर (बहुत-से व्यक्ति)

स्वभावत बिना गणना किये

आपुनि (आपुनारा) करेन्

और आज्ञार्थ में प्रथम० बहु० का रूप वैसा ही होगा जैसा मध्यम० के लिये

आपुनार् अभिप्राय् व्यक्त करुन् ।

और प्रथम पुरुष में न केवल मिलते हैं

स करे, तहारा करेन् किन्तु, यह मान कर कि पुरु में बहु० सर्वनाम तिनि एक० में व्यवहृत होता है एक ऐसा क्रियामूलक रूप मिलता है जो प्राचीन रूप में बहु० होते हुए भी दो भावों के साथ प्रयुक्त होता है

तिनि करेन् तहारा अथवा तांहारा करेन् ।

मैथिली में चीजें और भी दूर चली जाती हैं एक ओर तो बंगाली की भाँति सर्वनाम बन्धनमुक्त होते हैं हम् तोंह (प्राचीन बहुवचन) हम् सभ् "मब बहुत-स मैं" अथवा कहना चाहिए "हम सब' अस्तु "हम' तोंह सभ् किन्तु क्रिया किसी भी तरह उसका वचन प्रकट नहीं करती। एक दुरूह प्रणाली म आदर की भावना ने वचन का स्थान पूर्णत ग्रहण कर लिया है—एसी दुरूह प्रणाली म जिसमे नवीन भावनाओं के मूल में स्वभावत ऐस कथा की झलक मिलती है जो प्राचीन की भावना प्रकट करते हैं "तू देखता है की तीन साधारण अभिव्यजनाएँ मिलती हैं देख् देखह्[उ] प्राचीन बहुवचन इसी प्रकार एक अव्यय निपात-सहित देख्[अ] हु-न्ह् इसके अतिरिक्त "तुझे" "तुम्हें" के साथ देखइछह्[उ] का प्रयोग किया जाता है यदि पूरक साक्षात् हो अथवा नहीं

वस्तु, पशु अथवा नगण्य व्यक्ति है, तथा वेखह छुन्ह्[र] (बहु० विकृत सर्वनाम को संकेत करता है) यदि वह सम्मानित व्यक्ति के संबंध में होता है दूसरी ओर यदि कर्ता "तुम" एक या अनेक सम्मानित व्यक्तियों का द्योतन करता है तो वेखइछिव और वेखइछिमह्[र] से पूरक के सम्मान के पन का अनुसरण करते हुए काम लिया जाता है।

यहाँ यह देखा जाता है कि पूरक की प्रकृति प्रत्यय के आधार पर होती है यह परिणाम स्वयं निकलता है कि प्रत्यय के होने पर, पूरक का पुरुष अपने को प्रदर्शित करता है

मुर्ता नेमा के मूर्षेरक[म] के।

मुर्ता तोमृ[म]रा के मूर्षेरक[म] की।

प्रत्यय मध्यम० बहु० बहु का प्राचीन प्रत्यय है अस्तु, यहाँ क्रिया का पूरक के साथ साम्य है।

यह निष्कर्ष हो सकता है कि नम्रता के कारण अप्रत्यक्ष अभिव्यंजना पुरुष को हटा देती है। पहले ऐसा कुछ अकर्तृक कर्मवाच्य द्वारा व्यक्त नम्रता या आदरसूचक आज्ञार्थ में होता है, जैसे हि० देखिये अथवा केवल क्रियार्थक संज्ञा द्वारा (जो नम्रतासूचक है) अथवा कुछ 'चाहिये' सहित अभिव्यंजनाओं द्वारा। नेपाली में तिब्बती के अनुकरण पर एक अकर्तृक आदरसूचक क्रिया-रूप निर्मित हो गया है

वेस् के गर्नु भा

और वह परसर्ग के लोप-सहित निर्मित हुआ है जिसके कारण रचना स्पष्ट रहती है

तपाई मुनु हुनुफ दूसरा पुरुषवाचक आदरसूचक क्रिया-रूप है जो बराबर क्रियार्थक संज्ञा पर आधारित है ज्यो भने भयो प्रसन्न-पराक्रम भय-का छादा।

यूरोप की जिप्सी-भाषा में २ बहु० -अ ध्वनि की दृष्टि से -एल् के निकट आ जाता है, जो प्रथम० एक० -अति से मिलके -एल सहित दृष्टिगोचर होता है निस्सन्देह ऐसा प्रथम० द्वारा सामान्यतः मध्यम० का स्थान ग्रहण करने के कारण होता है (जिसका संबंध क्रिया से है न कि सर्वनाम से)। इसके अतिरिक्त सकल क्रिया "होना" में यह मध्यम बहु० अस्पष्ट परिस्थितियों के अंतर्गत एक० का भाव ग्रहण कर लेता है किन्तु जो ध्वनि-संबंधी संयोग के कारण भी हो जाता है, क्योंकि जिप्सी भाषा में 'तु' का 'तुम' से नियमित रूप से मेल मिलता है।

चतुर्थ खण्ड

वाक्यांश

१ क्रिया "होना" और नामजात वाक्यांश

भारतीय-ईरानी से संस्कृत में एक अस्तित्वसूचक क्रिया अस् आयी है जो प्रधानत क्रिया भू द्वारा भविष्यत् और सामान्य अतीत में मिलती है इसके अतिरिक्त द्वितीय क्रिया का वर्तमान विकरणयुक्त होने के कारण धीरे-धीरे 'होना' का अर्थ भी ग्रहण कर लेता है। भारोपीय और भारतीय-ईरानी परपरा के अनुसार क्रिया 'बना रहना होना' साधारण युग्म का काम दे सकती है 'होना' किन्तु इस प्रकार के प्रयोग में वह सामान्यत प्रथम पुरुष में नहीं होती और जब सर्वनाम व्यक्त होता है तो अन्य पुरुषों में भी नहीं रह जाती

RV भवेदानीं सूर्य., कद ऋतम् पूर्व्य गतम् न देवास कवत्नवे त्व वरुण उत मित्रो अग्ने किन्तु त्व हि रत्नधा असि।

वैदिक गद्य में यह परंपरा सुरक्षित बनी रहती है और कुछ नयी-नयी बातें विकसित हो जाती हैं उदाहरणार्थ तुल्यता का मंत्र ऐ ब्रा० पासवो वा एते पद बाप। महाभारत में आवृत्तिमूलक सहित सर्वनाम द्वारा प्रवर्तित वाक्यांशों का प्रश्नसूचक वाक्यांशों का और विशेषत उनका प्रयोग हुआ है जिनमें विधेय या तो फल का [(-त) -तवन्त] अथवा भविष्यत् का (-य -तव्य) क्रियामूलक विशेषण होता है जिसके साथ पु० एक में संबद्ध कर्तृवाची संज्ञा द्वारा उपलब्ध वाक्य-विस्तार से निर्मित सुदूर भविष्यत् को भी जोड़ देना आवश्यक है श ब्रा० अथ यपिष्यति स्वर्ो द्रष्टा इसके अतिरिक्त यह वाक्य-विस्तार भविष्य-रहित था।

संक्षेप में क्रिया 'होना' केवल कठिनाई स प्रथम दो पुरुषों में मिलती है जिनम वह सर्वनामों के तुल्य होती है।

अशोक ने "मैं कुवास हूँ" को कभी 'सुमि उपासके (गवीमठ) कभी 'उपासक सुमि' (सहसराम) अथवा कभी 'हुर्क उपासके' (सिद्दपुर, बैराट) द्वारा व्यक्त किया है। क्रिया "होना" एक एसे वाक्यांश में आती है जिसमें एक क्रिया कर्ता के साथ सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति रखती है महा० एपो स्मि हुनूमि संकस्सम् पा० सविगो म्हि तथा मासि उससेम मिसेलो मामी सिंहली Epig Zeyl. III २५८ १३२ तथा २६९ n-४) न्हत्मा मि भ बत् न्निमि यि सी मि मम-द् वसक विमूमि-यि "(मह) मैं बदना हूँ मैंने भोज न्या है मैं भी हूँ " तथा बहुवचन मे वेममो दुनूमो "हम लोग

(*अम-स्म) हमने दिया है (*दिश-स्म)। और भी अच्छे रूप में प्रथम पुरुष में अस्ति 'अथवा तव" का साधारण अर्थ-सहित वर्णन प्रवर्तित करता है।

इसके अतिरिक्त अस्तित्व प्रकट करने वाला शब्द विविध प्रकार का रहा है।

केवल उत्तर-पश्चिम सीमा पर अस् का स्वतंत्र रूप में प्रयोग सुरक्षित है साथ ही वहाँ वह विकरणयुक्त में परिवर्तित हो जाता है कती तुसे नम् के अवे 'तुम्हारा नाम क्या है" (इसके अतिरिक्त भास् संस्कृत आस्ते पा० आसति के जीवित रहने को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कम-से-कम कश्मीरी में)। बोलियों के अनेक समुदायों में प्राचीन अतीत का भी प्रयोग हुआ सं० आसीत् पा० प्रा० आसि और यह प्रयोग भूत-काल की रचना के लिये हुआ है तुलसीदास रचेसि छत्तीसगढ़ी २ ३ एक० देखिए यूरोप की जिप्सी-भाषा के अतीत प्री० कोई-अस् 'उसने बनाया है" केरेल-अस् "उसने किया" तथा उत्तर-पश्चिम के मैयाँ कुट्-अस् "मैंने पीटा" कुटेस्-अस् "मैंने पीटा था" और इवन्त सहित धिमा अमेसु "वह पीटता है" पं आन्दा-सा मिला-सा।

अन्य किसी तरह से प्राचीन क्रिया में से केवल बड़ी मुश्किल से वर्तमान का प्रथम पुरुष एक बच पाता है पा० प्रा० अत्थि और नकारात्मकता सहित पा० प्रा० नत्थि "है, नहीं है" के अर्थ में मराठी आवि नाथि सिंहली अति नति आदि।

संस्कृत के समय से जैसा कि देखा जा चुका है, वर्तमान में भवति बहु० स्मः, स्थ हि० स्त की अपेक्षा अधिक अच्छे ध्वनि-संबंधी रूप प्रदान करता है तुल० मास्को मेल० द ब्लॉकिमलिश एस० लेवी पृ १५१ सामान्यतः सभी प्रथम पुरुष उससे उत्पन्न होते हैं। क्रियामूलक विशेषणों को सहायक के रूप में शीघ्र ही कार्य करते हुए पाया जाता है पतंजलि के 'भाषितो भवति' पर निरुक्त की टीका है ११ २ धवति भाष्यते "किया गया भाषा म है।"

संस्कृत के समय से ही अन्य ऐसी क्रियाएँ भी मिलती हैं जिनसे विशेषतः सतत स्थिति का द्योतन होता है आस् और स्था के अतिरिक्त हम द (वैदिक) या (हि० जा आदि) चर मिलते हैं जिनका कृदन्तों के साथ प्रयोग होता है विचते वर्तते (यह अंतिम पूर्वी समुदाय में आंशिक रूप में काफ़िर में सहायक की भाँति मिलता है) मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलता है अच्छ- बहुत बार का रह् आह्। ये सब ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति देना कठिन है सिंहली में इन्दे (सं० सद्) वास्तव में "बैठा हुआ' तुल० हि० बैठना। इन शब्दों से एक साथ कुछ साधारण संयोजक और कृदन्तों से योड़-बहुत सम्बद्ध सान्निध्य प्राप्त शब्द उपलब्ध होते हैं।

किन्तु संयोजक का रहना आवश्यक नहीं है आधुनिक भाषाओं में नामजात वाक्य हैं—ये भाषाएँ क्रियामूलक और कृदन्ती प्रयोगों से युक्त हैं ही। तो भी उसके

स्थायी होने में अभी देर थी यह कभी-कभी प्राचीन अप्रचलित रूप में इन भाषाओं में दृष्टिगोचर हो जाता है काव्य वर्णनात्मक साहित्य वाक्य सिंधी ठन्हो बहु उभे

पु० मु० पामुद् पीठा से पगु पाप्पुरा पु० कर० गतुरि ह्रह्^च न तीरप् केह 'गंगा के बराबर कोई तीर्थ नहीं है' उड़िया (गीत) कोहलि ठप पै पुसुन्दर बेनि पोए हि० वैसी बोनी वैसी मरनी चोरी का गुड़ मीठा।

बंगाली में यही वाक्य विन्यास अधिक स्वतन्त्रता के प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है स्पष्ट कथा इ माल ए तुटि बड़ मिस्टि से एकजन् बिदेसी लोक एटा मोरग् ना मुर्गी ? किन्तु अधिकतर भाषाओं में क्रिया "होना" ही व्यक्त करना पसन्द किया गया है द्विभाषिक वार्तालाप की पुस्तक में जिससे ये अन्तिम उदाहरण लिये गये हैं (एस० सी० चैटर्जी 'ए मैनुअल आॅव कोलोक्वियल हिन्दी ऐण्ड बेंगाली' १९१४) हिन्दी के संबंध में मिलता है साफ़ साफ़ बोलना बहुत ही अच्छी बात है ये राग बहुत अच्छा है, वो परदेसी है, ये मुर्गा है या मुर्गी ? क्या यह विकसित सभ्यता का चिन्ह नहीं है कन्नड़ तौव माम् का सेह, अपरौंद घोड़ा चीज़-म्योली सेह "घोड़ा कितना बुड्ढा है" जो मुर्गी दो रुपै या किराम् "उसका दाम दो रुपए और आधा है" सिना में स्वयं क्रिया का इस प्रकार के वाक्यांशों में से तीसरे में प्रयोग होता है अनिसेद याम् दु ढबले ग वॅद् आन (२ रु० ८ आ०) हुनि।

सिंहली अधिक प्राचीनता-प्रिय प्रतीत होती है महात्मया मे रलु मिरिस् मोवद करेले "किं कर्तव्यम्" मेस एक उसमें संस्कृत 'इति' का प्रतिनिधित्व करने वाला संयोजक -यि की तुल्यता में प्राय प्रयोग होता है ऊ होर यि हव मदि-यि "स्थान अपर्याप्त है" मे सोम् तवे बहि-यि "यह धोरबा बहुत गरम है" तुल० बोहोम होर्नेद। इसी तरह के प्रयोग में भूटी अ-क्रिया-मूलक पर प्रत्यय का व्यवहार करती है एक० -एक (ईरानी ? तुल० दे० पीछे) बहु० नि।

यह ध्यान देने की बात है कि संयोजक के कार्य से जो सामान्य होता हुआ प्रतीत होता है अस्तित्व के प्राचीन अर्थ को आघात नहीं पहुँचता तथा जिसके स्वामित्व के प्रतिरोध में क्रिया to have का पूर्ण अभाव मिलता है।

२ शब्दों का क्रम

संस्कृत में भारोपीय रूप रचना-संबंधी समृद्धि के साथ-साथ सुविधानुसार वाक्यांश के अंगों को यथास्थान सजाने की संभावना जो उसी पर निर्भर है सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त इस शक्ति का प्रयोग साहित्यिक प्रभाव के लिये किया गया है,

उसमें एक स्वाभाविक क्रम है जो भारोपीय से उत्तराधिकार में मिला और मध्यकालीन भारतीय भाषा तक आया।

यह इस प्रकार रूप धारण करता है (१) उद्देश्य (अथवा उसका मनोवैज्ञानिक तुल्यार्थक) आदि में (२) विधेय का समुदाय क्रिया अथवा उसके तुल्यार्थक, अंत में वर्णन में प्रचलित आज्ञार्थ और निश्चयार्थ को छोड़ कर, जो आदि में सामान्य रहते हैं क्रिया से पहले उनके पूरक आते हैं, अप्रत्यक्ष पूरक सिद्धान्ततः मुख्य कर्मकारक से पहले तो भी स्वरूप योजित करने वाले पूरक क्रियार्थक संज्ञा विधेय या सम्प्रदान कम-से-कम ब्राह्मण-ग्रन्थों में सुविधानुसार क्रिया के बाद अस्वीकृत हो जाते हैं यह एक ऐसा प्रयोग है जो भारतीय-ईरानी से आता है (तुल० मेइए-बौवनिस्त ग्रै० दु व्यू पर्स पुरानी फ़ारसी का व्याकरण पृ० २४०) और फिर बना रहता है अशोक के अभिलेखों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

निर्धारित शब्दों के समुदायों का संगठन इन्हीं प्रधान प्रवृत्तियों का अनुसरण करता है निर्धारित सर्वनामात्मक विशेषणजात उपाधि निर्धारक से पहले आते हैं नाम धातु सामासिक शब्दों के मध्य में भी यही क्रम रहता है। पूर्व-क्रियाएँ, प्रारंभ में स्वतंत्र जिस क्रिया के अर्थ को सीमा-बद्ध करती हैं उसके बाद अपनी शक्ति का लोप कर देती हैं, तत्पश्चात् वे उसके प्रतिकूल स्थान प्राप्त करती हैं उपसर्गात्मक अव्ययों की भाँति प्रयुक्त होने के कारण (इसके अतिरिक्त प्रयोग धीरे-धीरे विरल हो जाता है) वे संज्ञा के बाद आने की प्रवृत्ति प्रकट करती हैं—उस संज्ञा के जो क्रिया से पहले ही बद्ध हो जाने की अपनी प्रवृत्ति के साथ साम्य रखती है—और फिर अपने को क्रिया-विशेषणों के रूप में तथा नामजात रूपों अथवा पूर्वकालिक कृदन्त के रूप में जो अधिकाधिक उपसर्गात्मक अव्यय का स्थान ग्रहण करते हैं रख कर विलीन हो जाती हैं।

यह देखा जा चुका है कि कर्ता और कर्मकारक का विरोध जो संस्कृत में एक साथ विकरण के रूप और प्रत्यय द्वारा प्रकट होता है क्षीण हो जाता है और अंत में लुप्त हो जाता है तत्पश्चात् लगभग सभी आधुनिक भाषाओं में दो प्रकार का काम करने वाले विशेष्य का केवल एक रूप रहता है। यह अंशतः एक ऐसे क्रम के बद्ध हो जाने से साम्य रखने के कारण है जो प्रारंभ में केवल स्वभावगत था। विशेषणबोधक शब्दों की भाँति प्रयुक्त कृदन्तों और विधेयों की भाँति प्रयुक्त कृदन्तों में भेद उपस्थित करने की आवश्यकता के कारण भी इस प्रवृत्ति का समर्थन हुआ जैसे उड़िया पड़िला गछ "गिरा हुआ पेड़" गछ पड़िला "पेड़ गिर गया है।

सामान्य आधुनिक क्रम इस प्रकार है यथार्थ अथवा न्यायानुकूल कर्ता अप्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष पूरक क्रियाविशेषण क्रिया

हिन्दी मैं तुम्-को ये किताब् देता हूँ पुस्तली न हमें तुम्ह इम्यन् लेने भेजा।

छत्तीसगढ़ी सीपाही-हर् मैंचान्-ऊपर्-ले बन्दुक-माँ भालू-ला गोली मारिस्।

बंगाली आमि तोमाके एक टाका दिलो।

किन्तु यह

आमि एइ आम्-गुलो नूतन्-बजार-थेके एनेछि "मैं नये बाजार से तुम्हें ये आम लाया हूँ।

इससे भिन्न है

आमि नूतन् बजार् थेके एइ आम्-गुलो एनेछि "यह नये बाजार से है कि मैं तुम्हें ये आम लाया हूँ।

सिंहली गुरुवान्से मट इस्कोलेदि सिंहल अकुरु इगनुवा "गुरु ने मुझे स्कूल में सिंहली अक्षर सिखाये हैं।

ऐसा ही दर्द में मिलता है—केवल विचित्र कश्मीरी को छोड़ कर जिसमें क्रिया पूरक और विधेय से पहले आ सकती है

यिम् पोशे म चटुन् "ये फूल मत चुनो।

किन्तु

सम् (घोडु) यिमिस् गुरिस् "इस घोड़े पर चढ़ता है (वह चढ़ा)।"

ह्यतिम के किस्सों में यह पद्धत को मिलता है

दुन्याहस् मनज़ गछहव् "हम दुनिया में आते हैं।"

किन्तु

तिछ छेन पातशेहोहि मनज़ "ऐसी (स्त्रियाँ) राज्य में नहीं हैं।

तिम् मननम् गॉम् चमुरुस्[उ] कर "वे तरे लिए लाये हैं मान (को) कुछ प्यालकी मटर।"

इसी प्रकार निम्नलिखित उदाहरणों में अन्य वर्त्ता मिलता है

मभिम् मा मामिन् ग्रैहस्तारगोम्[उ] ज़हर् ज़हर का गौर का।"

दस्-स्पुर्[उ] घुर्[उ] मम् हेतिगुत्[उ] पग्न "उनके लिए लिया गया उसके द्वारा उस एक लोहे का काँटा।

किन्तु आश्रित वाक्य में क्रिया निरन्तर अन्त में बनी रहती है

मे पुतुस न जाह् कन्ल्सि-ठिर मेमि गुलमिन् पनन्यो-मि गौशाम् कोनिमन् हयाम्
" मैं सकता बना।

रचना की इस उलट-फेर का मूल कारण ज्ञात नहीं है। बुरुशस्की और तिब्बती, जिनकी बोलियाँ जो कश्मीर की सीमा पर हैं, भारतीय क्रम का अनुसरण करती हैं।

जिप्सी-भाषा में यह क्रम बराबर पसन्द किया गया मिलता है। कर्ता पूरक या विधेय क्रिया (और वर्णनों में क्रिया कर्ता) : आर्मीनियन बोसी भूव ल'अस लेस पक ए गिर् "वह उसे अपने हृदय में धारण करती है" ; बेस्थ बोली ई तर्नी र्दुवेल् पिरवस् विसुतिमर "जवान लड़की अलमारी खोलती है"। किन्तु यहीं बिना किसी कठोर नियम के आर्मीनियन लोग जिप्सी भाषाओं को 'मर् मन् दे' "हाथ मुझे दे" कहते हैं। यहाँ पर यूरोपीय प्रभाव देखा जा सकता है। वास्तव में फ़ारसी का मुख्य भाव भारतीय क्रम है। जहाँ तक आर्मीनियन से संबंध है उसमें प्राचीन स्वतंत्रता अब तक बनी हुई है। दूसरी ओर तूरी सुविधानुसार वाक्यांश के आगे बिना अरब प्रभाव के क्रिया को अस्वीकार करती है।

भारतीय ईरानी नकारात्मकता या तो वाक्यांश के आदि में आती है या क्रिया से पूर्व। दूसरे प्रकार की रचना, जिसका साम्य क्रिया-विशेषणों और पूर्व-क्रियाओं से है, अधिक प्रचलित हो जाती है। उसमें सं० न शक्नोमि, नास्ति पा० प्रा० नत्थि (जिससे म० नाथि, सिंहली नृथ्‌त, आर्मीनियन जिप्सी भाषा नथ् आदि) और इसके हाल में म० न-थे मिला हुए जो सत्ता-रूप धारण नहीं करता की भाँति सामान्य समुदाय है। किन्तु नकारात्मकता सुविधानुसार कश्मीरी में नेपाली में (नकारात्मक क्रिया-रूप जहाँ नकारात्मकता पहले या बाद में आती है) बंगाली में मराठी में (विकरण और प्रत्यय के बीच में स्थान प्राप्त करने की दृष्टि से नकारात्मकता क्रिया के बाद स्थित होती है म करी अथवा करी ना) करीश् ना तथा करी-ना-न्, करी-ना-स्, जिससे गोरखी का नकारात्मक क्रिया-रूप, निद्‌ना, निद्‌नान्द्।

इस बाद में आयी हुई नकारात्मकता को प्रश्नसूचक अन्वय नकारात्मकता से अलग करने की आवश्यकता है; is it not? "ऐसा नहीं है क्या" या "है न?" जो उदाहरणार्थ हिन्दी में प्रचलित है। वास्तव में यह एक शब्द है जो पूरे वाक्यांश की आवृत्ति करता है। उसी से विरस्त बताने वाली नकारात्मकता का मूल भी है, जैसी अबोयाम् ल्याहि लेस् ए न थिनिअन् सेरव् ए, सिपाही अफ़ग़ानी है (वह) क्या अच्छा (यदि) नहीं सिउराणी है (वह) क्या अच्छा?

लगभग प्रत्येक यह विरोध आज्ञायें या उसके उत्तराधिकारियों सहित 'न' द्वारा प्रकट होता है; म० मा भारोपीय मूल का केवल जिप्सी भाषा (मा) सिन्धी कश्मीरी (म म-स मा ईरद् भी प्रकट करता है) तथा सिन्धी मन् बोली मत्ति (सरद-अनुनासिक मनुष्य ग वर्जित किया जाता है किन्तु इस भाग आवश्यक नहीं है) में मिलता है।

प्रश्नसूचक वाक्यांश स्वीकारात्मक प्रतीत हो सकता है तथा केवल ध्वनि द्वारा उस समय भिन्न हो सकता है जब उसका प्रारंभ प्रश्नवाचक सर्वनामों अथवा क्रिया विशेषणों से नहीं होता। किन्तु—भारतीय ईरानी के अनुकरण पर—एक शब्द जोड़ देना पसन्द किया जाता है जिसका भाव होता है "क्या quod? what ? या ... that" "est-ce-que" के तुल्य होता है गाथा ... का सं० किम् वैदिक० कद्, सं० किम् पा० किं सिंधी मराठी कि पु० ... क्याहु हिंदी क्या म० काय्। नकारात्मकता का ही काम देता है हि० छत्तीस० मा बंगाली किना। सिंहली -द केवल ज्ञात है जो वाक्यांशों को समाप्त कर देता है जो प्रारंभ में 'भी' का पालन भी करता था और जो प्रश्नवाचक से प्रश्न को संबद्ध कर लेता है कद्- quu, who कौन ? न ही कभी मस्तुज खोवार, बिना 'अ' ... न आया हुआ जो आश्चर्यजनक रूप में प्रविष्ट भाषा की याद दिलाता है यह कहा जा सकता है कि वैकल्पिक रूप में बिना कभी की भाँति नकारात्मकता से काम लेती है

... तुमं मिष्टु हइनु ... "जमीन तुम्हारे गाँव की क्या है वह अच्छी अथवा क्या है वह बुरी ?

३ वाक्यांशों का संयोजन

स्वतंत्र वाक्यांशों का संयोजन

संस्कृत में भारतीय ईरानी से प्राप्त कुछ ऐसे निपात हैं जिनसे वाक्यांशों का संयोजन या विरोध ज्ञात होता है एक तो प्रथम शब्द के बाद रखे जाते हैं च ईद्, तु हि वा आदि दूसरे वाक्यांश का प्रारंभ कर सकते हैं अथ अथ आदि आदि प्राचीन में वे अन्य रीतियों के अतिरिक्त अनेक निपातों का सान्निध्य कर, संख्या में वृद्धि कर लेते हैं जैसे अथो यद् कुविद् आदि निपात सुविधानुसार प्राचीन गद्य में भी संकलित हो जाते हैं किन्तु उसमें निश्चित नवीन सान्निध्य-प्राप्त म० 'यथवा पा० इध (महनीति में व्याख्या पृ० ८९८, n. २) की भाँति कम मिलते हैं। वास्तव में ज्यों-ज्यों निपातों की संख्या कम होती जाती है वे प्रचलित रहने पर भी अपनी शक्ति खो जाते हैं महाकाव्यों में वे प्रायः पूरक रूप में आते हैं।

संयोजन का सिद्धान्ततः सामान्य है, वा अनावश्यक दीर्घीकरण मात्र प्रतीत कर सकता है यह विरोधी बातों को तीव्रता प्रदान करता और गद्य-पद्धति का विशेषता-संपन्न बनाता है। इसी प्रकार विरोध प्रकट करने के लिए ही अशोक की भाषा में एक नवीन शब्द उत्पन्न हो गया है चु (च+तु)। अशोक की भाषाओं का अध्ययन करते समय यह देखा जाता है कि शायद ही कभी वाक्यांश संयोजक रहित हैं। यह बात

उदाहरणार्थ गिरनार की पाँचवीं घोषणा के प्रारम्भ में है क(ल्)याणं दु(क)करं यो आदिकरो क(ल)याणस सो दु(क)करं करोति वाक्यगत शैली के कारण ऐसा होते हुए देखा जाता है तथा बाद में सर्वनाममूलक निपात के अनुकूल है (रूप की दृष्टि से वैदिक तद् अथवा तात् के तुल्य) जिसका अनुवाद करना कठिन है—यदि इस वाक्यांश पर जो आगे है विचार किया जाय त मया बहु क(ल)याणं कतं त मम पु(त्)ता च पो(त्)ता च य् मे अप(च्)चं अनुव(त्)तिसरे तथा सो सुकतं का(स्)सति सेनर्ट ने अनुवाद किया है "अतएव (त) मैंने स्वयं किये हैं बहुत अच्छे काम। इसी प्रकार (त) वे मेरे पुत्र जो अनुसरण करते हैं इस प्रकार मेरे उदाहरण का वे भली भाँति करेंगे।

निपात के अर्थ की अनिश्चितता इस बात का संकेत करती है कि उसका प्रधान कार्य एक वाक्यांश के अंश को दूसरे के अंश से अलग करना था।

जैसा कि उल्लिखित अंतिम उदाहरण में है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्यांशों के बीच का संपर्क एक सर्वनाममूलक शब्द द्वारा संकेतित हो। यह संभवतः वास्तव में सर्वनाम कहा जाने वाला हो जिसका संबंध पूर्ववर्ती वाक्यांश की संज्ञा या संबंधवाचक सर्वनाम से हो यह आवृत्तिमूलक स(त) है उसका प्रयोग प्रायः प्राचीन पद्य को नीरसता प्रदान करता है। यह सर्वनाम भी दुर्बल पड़ जाता है निश्चयवाची की भाँति वह वैदिक गद्य में सामान्य हो जाता है और तब काव्य में उसका सरलतापूर्वक अभाव मिलने लगता है इस प्रकार उसका अर्थ लुप्त हो जाता है और उसमें विभिन्न रूप में वाक्यांश का उच्चारण दृष्टिगोचर होने लगता है, और जो अधिक-से-अधिक उसे क्रमागत सूक्ष्म भेद प्रदान करता है सं० स यदि स यद् या सचे पा० सेय्यथा अथवा यथा अशोक० स से सो पा० से में कर्ता० पु० एक० स पूर्णतः पूरक हो जाता है यह अवसर इस बात के स्मरण करने का है कि महाकाव्यों की भाषा में वह एक मुख्य उत्पन्न प्रदान करने वाला हो जाता है—प्रवृत्ति किन्तु, जैसा कि देखा जा चुका जिसका अंत नहीं हुआ है।

आधुनिक भाषाओं में आवृत्तिमूलक सर्वनामों द्वारा लुप्त समुच्चयबोधक और संयोजन अब भी प्रमुख स्थान ग्रहण किये हुए हैं। निपात वाला कोष बहुत क्षीण है। सिन्धी च -न् ही सम्भवतः च का अकेला उत्तराधिकारी है, क्योंकि वैसे यह म० ए(इ) एतौस० ए जो प्रा० च्चय से है, तुल० मारवाड़ी देस् गु० सिंधी न् या प्रा० एवम से है की भाँति आग्रहमूलक निपात से नहीं होता। कुछ नवीन शब्द समुच्चयबोधक उत्पन्न हो जाते हैं जिसका आशय होता है "और भी अन्य बातें" पु० हि० अवर, हि० और नेपाली अरु असमी आरु (अपरम्) म आणि -न् गु० अने नेपाली अनि सिंधी

अमा (अन्यद्) इसी प्रकार हि॰ सि॰ पर् (सं॰ परम्) जिप्सी-भाषा से क्द॰ स नेपाली त (संभवतः तथा से संबंधित) सिंहली हा (सह) सिमा म् (?) की उत्पत्ति कम स्पष्ट है। विरोधवाची क्रियाविशेषण जो उत्तर-वैदिककालीन है तथा जो स्पष्ट नहीं किया जा सकता पुनः मध्यकालीन भारतीय भाषा के काल में दीर्घ हो जाता है (पा॰ पन पुन 'नये' के अर्थ में बना रहता है) सिंधी उड़िया पुणि गु॰ म॰ पण् नेपाली पनि पु॰ हिं॰ पुनि (सिंहली पन पुन एक प्रकार से "फिर से" का अर्थ प्रकट करते हैं यह पाली का प्रभाव हो सकता है) आदि में आने वाले को वह ज्यों-का-त्यों बनाये रखती है जो भूत के प्रयोग का चिह्न है। 'या' को प्रकट करने का ढंग अत्यन्त विशेषता संपन्न है सर्वनाममूलक विकल्प से काम चला लिया जाता है हिं॰ व॰ नेपाली कि सिंधी प॰ गु॰ के (अन्यथा संस्कृत अथवा अरबी से उधार लिए गये द्वारा स्थानापन्न) अन्य शब्दों में समुच्चयबोधक नहीं मिलते प्रश्नवाचक वाक्यांश अलग से बनाना पड़ता है।

आश्रित वाक्य-योजना

प्राचीन संस्कृत में आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने की दो रीतियाँ मिलती हैं

(१) संशयार्थसूचक (लेट्-लकार) का प्रयोग जिसमें इस परिस्थिति के अंतर्गत किसी क्रियार्थ-भेद का भाव नहीं होता और जो व्याकरण का एक साधन मात्र हो जाता है वह संबंधवाचियों द्वारा अथवा संबंधवाची क्रिया-विशेषणों द्वारा अथवा नकारात्मक नेद् द्वारा जो मुख्य पूर्वसर्ग में निश्चयार्थ के साथ आता है, प्रवर्तित होता है

ऋ॰ १॰ ८५, २५ २९

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाम् अमुतस् करम्

यथेयम् इन्द्र मीढ्वः, सुपुत्रा सुभगासति।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः ।

१॰ ५१ ४

आयम्

नेद् एव मा युनजन् अत्र देवाः।

(२) क्रिया का स्वरित होना। उपर्युक्त उदाहरणों में "यदि' संभाव्य के अर्थ में च का विशेष प्रयोग जोड़ा जा सकता है

२ ४१, ११

इन्द्रश् च मृळयाति नः

न नः पश्चाद् अघं नशत्।

इसी प्रकार पूर्विय "यदि" (प्रश्नवाचक) है जो असाक्षात् प्रश्न संकेतित करता है और साथ ही हि (क्यों) है जो स्वभावतः स्वीकारात्मक है या निश्चयार्थ के साथ आता है

३ ५३ १८

यर्द मेहि तनूपु म स्व हि बबर्ता यदि।

स्वराघात मनोवैज्ञानिक आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने के काम आता है जो इसके सिवाय और कुछ प्रकट नहीं करता (दे मेहए, बी० एस० एल० XXXIV पृ० १२२) मै० स तस्माद बधिरों वाचां वदति न शृणोति ऋ० सुयम् वा यदि कर्णेषु मु सखा निद तै० स० उत्तानरुपिष्यम् वर्धयत एव।

दोनों रीतियों का संबंध केवल प्राचीन भाषा से है। समयार्थसूचक (केन्-प्रकार) से जहां तक संबंध है ब्राह्मण ग्रन्थों में उसका प्रयोग काफी कम हो गया था अशोक० में केवल कुछ शेष रहते हैं जहां तक स्वराघात से संबंध है न केवल पाणिनि ने इसे नवीन आश्रित वाक्य-योजना-युक्त में (पुरा सहित) देखा है किन्तु वे मुख्य पूर्वसर्ग के अनेक रूपों में उसे स्वीकार करते हैं उदाहरणार्थ किम् सहित या रहित प्रश्नवाचक में यहां तक कि उस युग के अंत में जब कि वह हमारा ध्यान आकृष्ट करता है स्वराघात अपना वाक्य-विचार-संबंधी भाव करीब-करीब खो चुका था।

वर्गनीकृत संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में आश्रित वाक्य-योजना बताने की कोई व्याकरणीय पद्धति नहीं मिलती।

संबंधवाची यद् द्वारा तथा अन्य संबंधवाची क्रियाविशेषण यावत् यदि यथा आदि द्वारा प्रवर्तित पूर्वसर्गों की रचना इस प्रकार होती है मानो वे स्वतंत्र हों और निश्चयार्थ आदरत्व के आधार पर प्रगति प्राप्त करता है। निपातों का अर्थ मुश्किल ही मे विकसित हुआ था स्वम यत् में जो एक वास्तविक निपात के अधिक निकट पहुंच जाता है संबंधवाची अर्थ अब भी समझना ही होता आता है "कहना विश्वास करना जानना' क्रियाओं के बाद उसका प्रयोग सामान्य नहीं हो पाता इसी प्रकार अशोक० में तथा पार्ली म 'किति' मन्तव्य बताता है किन्तु उसका अनुवाद केवल "अपने से क्या करते हुए ? किसलिए ?" होता है और संभवतः अनूदित होना भी चाहिए क्योंकि लोकप्रिय भाषा में बातचीत के मध्य रहने वाक्य स्पष्टों को बताने के लिये प्रश्नवाचक एक साधन के रूप में रहना है युग० म० जिस जब कि वह अपरम् तथा व की भांति समानार्थ के लिए काम आता है।

प्राचीन भाषा आश्रित वाक्य-योजना प्रदान करने वाले साधन प्रस्तुत करती है। भारतीय परंपरा के अनुसार, उनकी महत्ता में ही इतनी की पात्र स्थिति है। एर

संज्ञा की दूसरी संज्ञा के साथ साधारण पार्श्व स्थिति में अभिप्राय की भावना निहित रह सकती है और समकक्ष हो सकती है उदाहरणार्थ "क्योंकि ,यद्यपि के इसके अतिरिक्त कृदन्त के कारण एक क्रियामूलक भाव का प्रवेश हो जाता है जो फिर पूर्वसर्ग के तुल्य हो जाता है।

इस प्रकार के प्रयोग में वह उद्देश्य या पूरक की पार्श्व स्थिति प्राप्त करता है विशेषतः मुख्य कर्मकारक में। उसकी अनुरूपता इसमें मिलती है

ऋ० अरुणों मा यन्तुं ददर्श हिं

इसमें विरोध मिलता है

ग्री० सं० मित्र सन् क्रूरम् अक

समान्य रूप इसमें है

कौटिल्य त्वया पृष्ठपुरुषा हन्यु ।

भावना अथवा विचार-संबंधी क्रियाओं सहित

ग्री० सं० परामविष्यन्ती मन्ये कालैसीकस्य प्रहरन् न शक्नसे आणदं चिरम् आत्मानम् परिश्रान्तम्।

पाली जातक के इस वाक्यांश में क्रियामूलक विशेष्य के कृन्दती कर्मकारक के लिये फ्रेंच में अप्रत्यक्ष में सुसज्जित संबंधवाचक होगा

कुमारो कम्मारेन कत रूपकं सुवण्णगब्भे लिपापेत्वा ।

कृदन्त से विकृत कारक (विशेषतः अधिकरण) के विशेष्य से साम्य होने पर उस उपसर्गात्मक अव्यय की तुल्यता प्राप्त होती है जो पहले अप्रत्यक्ष रहता है, तत्पश्चात् उसमें मनोवैज्ञानिकता निहित रहती है जो मुख्य में स्थान प्राप्त कर लेती है किन्तु अपने में पूर्ण रहती है और उसका स्वतंत्र वाक्यांश में व्यवहार होता है रघु० मा मेति व्याहृतम् एव तस्मिन्।

इसी प्रकार के निष्कर्ष और भी प्राप्त होते हैं

(१) कारक के अनुसार व्यक्त क्रियात्मक संज्ञा सहित उद्देश्य (कर्म० में अथवा संप्रदान म ऋ० अहये हन्तवै "अहि के लिए, मारने के लिए" पारम् एतवे) अथवा हेतु (अपादान में ब्राह्म कर्तोः अवपदः अधस्ता "जानना चाहिए हमें गड्ढे को गिरने से" मुर्योत मो अनपस्पानि गन्तो")

(२) मूल परिस्थिति और उस समय मानसिक गुंजन में प्रकट करने वाले पूर्व कालिक क्रियापद सहित (दे० पीछे)

(३) अन्त में नामजात रचना द्वारा तुल्य अनुकूलता प्रकट करते हुए, और विशेषतः जब उसमें कृदन्त रहता है

रघु० मृत-देहविसर्जन पितु ।
काद० प्रतीहार्या गृहीतपञ्जर ।
पा० कुमारिकाय अङ्गभाव।

मध्यवर्ती असुकूलता तथा नित्यसंबंधी वाक्यांश का थोड़ा-बहुत विरोध ये ही साधन हैं जिनके द्वारा दो क्रियामूलक तत्त्व एक-दूसरे के आश्रित किये जाते हैं फलत संस्कृत में जटिल पूर्वसर्ग नहीं है।

और भी उसमें असाक्षात् उक्ति नहीं है कथित या सोची गयी बात को व्यक्त करने वाला वाक्यांश साक्षात् उक्ति होता है अथवा भली भाँति पृथक होता है अथवा यद् द्वारा प्रवर्तित होता है अथवा और यह बहुत अधिक प्रचलित है इति द्वारा समाप्त होता है जिसकी अल्प-व्युत्पत्ति (डे० वाइटा) यह प्रदर्शित करती है कि प्राचीन अर्थ "ainsi, इस प्रकार, इसलिए" है ऋ० ४ २५,४ य इन्द्राय सुनवामेत्य् आह "कौन—चार में के लिये इन्द्र इस प्रकार कहता है" अर्थात् 'कौन कहता है और में क लिय इन्द्र" १ १६१ ८ इदम् उदक पिबतेत्य् अब्रवीतन "यह पानी पियो इस प्रकार तुमने कहा है" १० १७ १ त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीद् इद विश्वम् भुवन सम् एति "त्व० करता है रस्म विवाह के लिये अपनी पुत्री इस प्रकार फलत समस्त संसार इकट्ठा होता है इस प्रकार सुनायी पड़ता है "संसार इकट्ठा होता है यह कहते हुए कि क्योंकि त्व ।

साक्षात् या तर्क-पूर्ण उक्ति प्रवर्तित करते समय इति मूलत अपना प्राचीन भाव सुरक्षित रखता है (इससे अशोक के अभिलेखों का अन्त्य ति तथा सिंहली के एक संयोजक के तुल्य -यि भी स्पष्ट हो जाता है) और संक्षेप में केवल लुप्त समुच्चयबोधक को महत्त्व प्रदान करता है। किन्तु आश्रय का यह एक बहुमूल्य साधन है पा० आहाय नं गमिस्सामीति आगतो म्हि ऐसे ही क्रम में लैटिन में उद्देश्यार्थसूचक की क्रिया के संबंध में प्रमुख स्थान रखने वाला संबंधवाची था। पाली में फिर यह संक्षिप्तता देखने को मिलती है सुवण्णवण्णं ति सञ्ञं अकत्वा।

अस्तु, मध्यकालीन भारतीय भाषा और आधुनिक भारतीय भाषाओं को संस्कृत से वाक्य-विचार-संबंधी आश्रय और असाक्षात् उक्ति के उचित साधन प्राप्त नहीं होते ये भाषाएँ इस दिशा में विकसित भी नहीं हुईं। लुप्त समुच्चयबोधक क्रियामूलक विशेष्य तथा पूर्व के स्थान नित्य संबंधवाची पूर्वसर्ग केवल ये ही साधन हैं जिनका वे आज भी आश्रय ग्रहण करती हैं। स्पष्ट रूप रचना-विहीन भाषाओं में असुकूलता (पार्श्व स्थिति) सभव नहीं थी इसके अलावा पूर्व विशेष में ही अधिक मिलता है। नामधातु रचना से भी कुछ है उसकी दृष्टि से निम्न-शास्त्रीय विकास जो संस्कृत

साहित्य में मिलता है, अपने वास्तविक इतिहास से साम्य नहीं रखता। अशोक के जैसे प्रामाणिक पाठ, महाकाव्यों में, माध्यम नाटकीय कथोपकथन तथा अंत में आधुनिक भाषाओं में केवल दो शब्दों का समास प्रचलित है। अस्तु, सभी भारोपीय भाषाओं की भाँति भारतीय भाषाओं में यही परिस्थिति है। संस्कृत में इस रीति का असाधारण प्रसार व्याकरण की दृष्टि से नहीं, साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से रोचक है। यह प्रसार विशेषतः उस समय से प्रारंभ होता है जब से जीवित भाषाओं के प्रत्यय अस्पष्ट हो गये, इससे वर्णनों में शिथिल संबंध आ गया। इसी के द्वारा वह असम्बद्ध वाक्य विन्यास वाली भाषा की सामान्य प्रकृति के साथ साम्य स्थापित करता है।

कुछ समुच्चयबोधक निरंतर मिलता है, विशेषतः अपरिमार्जित भाषाओं में उदा॰ अरकुन

तू वांते अस्त्-न कितात् प्रस्तिम् (जब) कल तू आये मैं (तुझे) एक किताब दूँगा।

उम्मीद् सेइ वांते अलेस् "आशा है (कि) कल तुम आओ।"

तु वाकुर दिरेस् का कोस् (जब) तू वाकर के पास जायगा तू क्या करेगा ?"

कुँइ व मोस् कल चेइ मक्तुम् तो विरेंद्र संचारिये मिसे वेरी कसेम् "कुछ माग (जो) तू चाहता है (इस) समय (और जो) कोई (जो) वस्तुएँ तुमसे देखा जाय उसके साथ तू बात करेगा।"

अत्यधिक परिष्कृत भाषाओं में मनोवैज्ञानिक संयोजन प्रायः सर्वनामों द्वारा अथवा सर्वनाममूलक विकरण में अव्ययों द्वारा व्यक्त होता है।

निश्चयवाचक

सिंधी तूं ईमान्-ए[उ] मार्डुं आही, वैहि-करे तो-खे माड्स्[उ] काजी मुकरिर्[उ] कार्यो भी निश्चयवाचक की भाँति मराठी की रूप रचना में दृष्टिगोचर होता है, हरि घोडे मानि बैल् दाखि बारा बाता इसी प्रकार है रामा चला अस त्याने एकने इसी प्रकार गुज॰ ते गयो हतो ए मैं सम्भव्यूं।

सम्बन्धवाचकों अथवा संबंधवाचकों से निकले जो सुविधानुसार (जैसा संस्कृत में था ही) उन्हीं व्युत्पत्ति के निश्चयवाचकों के विरोध में आते हैं और उन्हें बताते हैं

म॰ जो मुलगा मी काल् पाहिला तोच् हा आहे
"यह बच्चा है (२) जो मैंने कल देखा है (१)।"

हि॰ सुरा जो चाहे सो करे।
"सुरा करे वह (२) जो वह चाहे (१)।"

जितना चाहिये इतना ले लो।
"इतना ले लो (२) जितना तुम चाहो (१)।"
जहाँ धूम है वहाँ वाष्टा भी है।
जिस रूप में ये ग्रन्थ अब मिलता है वो उसे सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा।
बं० जाहा इच्छा जाइबे ताहा जाइबा मा।
यत्खन् ना तिनि आसेन् तत्खन् बसिया थाक।
केवल संबंधवाचक का ही स्वाधीन प्रयोग हो सकता है
हि० जो आदमी वो पढ़ना नहिं जानता नादान् है।
सिंधी कुचाले वापारि [अ] से पैह [अ] जो माल् [उ] विनो होम् [ए] जो हुं हाथ उन्ह [ए] खां इन्कार् [उ] को-करे।

अनुमान की अभिव्यक्ति समवत क्योंकि उसमें परस्पर संबंध का कोई स्पष्ट चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता कुछ-कुछ अस्थिर है। पंजाबी सिंधी में जे (यदि) मिलता है किन्तु हिन्दी जो (नित्यसंबंधी तो ही) अस्पष्ट है क्या यह सं० यावत् से निकला है? किन्तु प्रमाणतः अस्वाभी जब तब हैं। अन्य कोटि के उधार लिये गये शब्दों का भी प्रयोग होता है बं० हि० जदि हि० सिवा अगर् एक संस्कृत से दूसरा फ़ारसी से केवल मराठी ने और वह ब्राह्मण साहित्य से हाल की उधार लेने की प्रवृत्ति छोड़ कर, वैदिक व यूयम यहि, तर्हि ग्रहण किये हैं जो संस्कृत में केवल पुराणों में आते हैं और जिनका मध्यकालीन भारतीय भाषा में अभाव है

जर् पाऊस् पडल् तरुला तर् पर्ळे सको।

जिन भाषाओं में जैसे सं० और जिप्सी-भाषा में संबंधवाचक नहीं है, प्रश्नवाचक उसका स्थान ग्रहण कर लेता है यह भी उस समय जब कि वह सामान्य निश्चयवाचक के रूप में नहीं होता जैसे सिंधा को मुसे मनुष् आ आदमी (जो) आया है, वह ।"

हेतु, रूप समुच्चयवाचक द्वारा प्रकट होता है बं० कारण् पु० कारन् 'कारण (पर हि)" अथवा प्रश्नवाचक द्वारा सिंधी छो जो हि० प क्यूँ कि अंत में पूर्ववर्ती पात के भाव की आवृत्ति करते हुए क्रियामूलक विशेष्य द्वारा जैसे सं० इति इति कृत्वा पा० इति कत्वा म० (हे) म्हणून् अप० भाणिवि नेपाली भनि पूर्वी हिन्दी बाकुरा व कालिदा सिंधी जिस में वाच्यार्थ में "यह लेने पर" व्यक्त होता है यह अन्तिम रूप भी बराबर द्रविड़ है।

कई भाषाओं में एक विशिष्ट आश्रित वाक्य-योजना का प्रयोग होता है या हो ही

चुका है, जो सं॰ यद् से सादृश्य और रूप के साथ परिवर्तन की प्रवृत्ति रखता है। येन में यह निस्सन्देह प्रभावपूर्ण रूप में दृष्टिगोचर होता है म॰ के गु॰ अ॰ च कद॰ कि। फ़ारसी के प्रभावान्तर्गत सिंधी में त का हिन्दी और बंगाली में कि का मराठी में किं और गुजराती में के (दिवतिया के अनुसार मराठी के अनुकरण पर, 'गुजराती लैंग्वेज एंड लिट्रेचर' पृ॰ २२) का प्रयोग होता है इस निपात (यहाँ तक कि जो प्रविष्ट भाषा माल्तो—malto—तक में पाया जाता है) की उत्पत्ति अथवा प्रश्नवाचक स॰ किम् के साथ गड़बड़ हो जाने से होनी चाहिए

हि॰ खुल जाएगा कि मैं राजा हूँ।
तुम को अवश्य है कि वहाँ जाओ।
गु॰ त्यां में एवी वस्तु जोई के जिथुता सुधि मने साम्भरशे।

हिन्दी में इस निपात का विभिन्नता लिये हुए (फ़ारसी के अनुकरण पर ?) और प्राय अन्य-सादृश्य-युक्त प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि उसका कार्य बड़े विचित्र रूप में वाक्यांश का उच्चारित करना है

हि॰ मालूम हुआ कि चोर कौन् है।
एसी तदबीर कर कि जिस से मेरा पेट भरे।

किन्तु विपर्यस्त रूप में साथ ही कहा जाता है

बहुत् दिन् हुआ बलमान्त् को मैं ने नहीं देखा।
" कि मैंने दे॰ को नहीं देखा।"

लड़कियाँ अपना वक्त् गुड़ियाँ खेलने में खोती हैं बहुतर रहती है "लड़कियाँ (जो) ।"

सस्कृत को जिसमें क्रियार्थ भेद सुरक्षित हैं यथाशक्ति उक्ति स्वीकार नहीं है, मध्य-भारतीय भाषाओं में वा और भी जा केवल अनिश्चित और यथार्थ काल का भेद करती है और वह भी काफ़ी अनिश्चित रीति से साक्षात् रूप सुरक्षित रखने वाले कथन अलग हो जाते हैं

क॰ अ॰ह मनुम् मुभोल्मि म पथहि आमुत् गम्[अ] मकार्[उ]।
बंगाली एक दिन् दगूले छवि तार् मनेर् हल होम् ना।
चीन जिप्सा भाषा मुनेन कलिस केनेन "उन्होंने सुना (कि) भाई माना है।"

अब इस प्रकार की रचनाओं में फ़ारसी समुच्चयबोधकों का बहुत प्रयोग होता है, किन्तु उससे रचना में कोई अन्तर नहीं पड़ता

सिंधी　मूँ खे चयु आईं त पैसा छविहु रुपया बठन्वो सां "वह मुझसे कहता है (कि)　।"

हिं०　मैंने इरादा किया कि चलूँ
गोपाल ने जाना कि तोते में अब जान नहीं है।

ऐसी भी मनोवैज्ञानिक आश्रित वाक्य-योजना सर्वनामों के परस्पर परिवर्तन द्वारा भी कभी-कभी प्रकट होती है

हिं०　क्या तुम समझते हो कि मैं मूर्ख हूँ?
बाबू साहब ने मुझे आपको यें लिखने के लिए कहा था कि वे आपके (अथवा हम उनके) पत्र का उत्तर कुछ विलम्ब से देंगे।

बंगाली　से बोल्छिले जे ताहार् आमार् थाकेर् जन्य ताकाइ बारि जेते होइबे।

जिप्सी भाषा : दिकेल ह रक्लि मने पर्से छसे "वह देखता है　लड़के उसके साथ नहीं है　("कि" अप्रकट है)।

नेपाली (टर्नर, इंडि० ऐंटी०　१९२२, पृ० ४४ तथा नोट पृ० ४८)

हमिहेरु को मालसामान दुवारि तो पुग्नहेरु क गारि मुर्म औन्छ सक्दुन् भनि" (तुर्क) कहते हैं कि हमारा (नेपाली कहने वालों और उनके साथियों का) सामान और हमारी गाड़ियाँ नहीं आ सकतीं।"

अस्तु मध्य भारतीय भाषाओं का वाक्य-विन्यास प्राथमिक है और, जिस हद तक पूर्वसर्ग निरपेक्षवाची रूप के अन्तर्गत परस्पर संबंधित रहते हैं वहाँ तक वह अपरिवर्तनीय और एकरूप है। यह मध्य के अंशों के कारण है जिससे वाक्यांशों में पुरस्सरता आ जाती है　हिन्दी के 'माता मुक्त' मराठी के -णार् युक्त कर्तृवाची संज्ञाएँ, कृदन्ती गुणवाचक विशेषण म०-असा हिन्दी 'आ हुआ' तुल० दे० पीछे　विभिन्न क्रियार्थक संज्ञाएँ
पु० तेने हिंम्बे देखवा पुगी।

हि　उम् में प्रभावसिंह तक वर्णन् मिमूने स यें निश्चित् रूप् स कहा जा सकता है कि　।

क्रियार्थक संज्ञाओं में सामान्यतः ग्रहण किये गए कृदन्त　जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है　इनके अतिरिक्त विकृत कारकों में कृदन्त दे० पीछे　अंत में और विशेष रूप से पूर्वकालिक कृदन्त और पूर्वकालिक कृदन्तों का कार्य करने वाले कृदन्त हैं जिनके पीछे अनेक उदाहरण दिए जा चुके हैं। इन अर्वाचीन पूर्वकालिक कृदन्तों ने एक ऐसा स्थान ग्रहण किया है कि न भाषाओं का न केवल पूर्वसर्ग का ही किन्तु संयुक्त क्रियाओं,

क्रिया-विशेषणों पूर्वसर्गों (बं० होइते छेने हि० लिये भाग्नि) का भी आश्रय प्रगल्भ करते हैं।

कुछ उदाहरणों द्वारा यह दिखा कर कि इन साधनों द्वारा साहित्यिक भाषाएँ किस प्रकार वाक्यांश को लचीला और समृद्ध बनाती हैं इस विषय समाप्त कर देना चाहिए

बं० (टी० गांगोली) आमार विवेचना करे स्थिर करलाम तोमार आर आमादेर काछे थाक कष्ट पावा उचित नाय्।

हि० (हरिऔध) तो क्या व्यासनूकर के यहाँ ब्याह करके लड़की को जन्मभर के लिये मिट्टी में मिला देना ही आप अच्छा समझते हैं। "तो क्या (१) आप अच्छा समझते हैं (५) ब्याह कर के जन्मभर के लिये [illegible] देना ही (४) हमारी लड़की का (३) बं० के यहाँ ब्याह कर के।"

हि० (आधुनिक) रघुवंशम्‌ में तुलसीचरित् [illegible] गोस्वामी जी की जो कुल परम्परा लिखी है वह मानने योग्य है।

अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष में सौ वर्ष से अधिक अनुपयोगी शिक्षा होते हुए भी वाक्य उत्पत्ति जो यथार्थ न कवल पचास वर्षों में अन्यत्र विषय में प्राप्त की है भारतवर्ष के किसी भाग में दृष्टि नहीं आती।

यह देखने की बात है कि यूरोपीय प्रभाव के अन्तर्गत एक ऐसी दुरूह शैली का निर्माण हो रहा है जिसमें परंपरागत वाक्य-विन्यास के बड़ा अस्थायी रूप से गया-गुज़रा बन गया है। स्वभावतः यह तथ्य केवल सम्पन्न परिपुष्ट भाषाओं में ही दृष्टिगोचर होता है: मराठी हिन्दी बंगाली। अन्तिम भाषा के १९वीं शताब्दी के साहित्यिक प्रायोगिक रूपों के कुछ अच्छे उदाहरण डॉ० सो० सेन (बंगाली प्रोज़ स्टाइल्स १८००-१८५७) में मिलेंगे। उनसे पता चलता है कि युग की गति के सम्बन्ध में शैली कितना शीघ्र बदल भी जा सकती है। एक प्रतिक्रिया मानने वाली है [illegible] बंगाली वन-में-अन्य एक ऐसी भाषा है जो जितनी समृद्ध है उतनी ही लचीली होने के बहुत निकट है। किन्तु यह एक अपवाद है।

उपसंहार

भारतीय आर्य भाषाओं में अधिकांशतः संस्कृत और साथ ही फ़ारसी से अनेक पार्टें ग्रहण करने वाली अत्यन्त परिष्कृत भाषाओं में एक अत्यन्त समृद्ध शब्दावली मिलती है जो यूरोपीय भाषाओं के समान है किन्तु उनमें सूक्ष्म भेद और मनोवैज्ञानिक संयोजन की उतनी ही समृद्धि नहीं मिलती। क्योंकि एक दीर्घकालीन संघरण दृष्टिगोचर होते हुए भी विशेषतः रोमन समुदाय के विकास की दृष्टि से भारतवर्ष में संस्कृति न तो यथेष्ट मात्रा में परिवर्तनशील रही है, और न इतने यथेष्ट रूप में प्रसारित रही है कि सार्वजनीन भाषा ग्रन्थकारों की रचनाओं से लाभ उठाती तथा ग्रन्थकारों की भाषा जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर अधिक विकसित होती भाषा और संस्कृति में पार्थक्य रहा।

हमें यह बताया जाता है कि उस समय देशी प्राथमिक पाठशालाएँ थीं किन्तु कोई भी यह कहने का साहस न करेगा कि इन पाठशालाओं में यूरोप की भाँति वह भी वास्तव में अपेक्षाकृत हाल ही से भाषाओं का उनकी समृद्धियों तथा बारीकियों का अध्ययन होता था। संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी जिसका प्रत्यक्ष युग में अध्ययन हुआ वह अल्प-संख्यक लोगों तक सीमित थी और ज्ञान तथा परिष्कृत विचारों के प्रचार का एकमात्र साधन थी। आधुनिक साहित्यों की प्रारंभिक सामग्री क्या है? संक्षिप्त तथा दुष्प्राप्य मराठी अभिलेखों आधे दर्जन राजपूत तथा बंगाली पत्रों एक या दो पद्यात्मक व्यावहारिक नीति-वाक्यों के संग्रहों को छोड़ कर, वह वीर-काव्य अथवा भक्ति या लोक-प्रचलित काव्य के रूप में है कुलीनों तथा जनसाधारण के लिए लिखित ये रचनाएँ ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रायः प्रचार नहीं करतीं जहाँ तक उनका संबंध ब्राह्मण साहित्य से है वह उसके क्रम-परिवर्तन के लिये है, न कि उसका स्थान ग्रहण करने के लिए। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है कुछ साहित्य संस्कृत पर आश्रित मिलते हैं किन्तु वे परिष्कृत अभिजात-वर्ग तक सीमित थे मराठी गीति-काव्य की भाषा वर्नैक्युलर नाटकों की प्राकृतें उनके विपरीत जनसाधारण की भाषाएँ हैं जो साथ ही संस्कृत से प्रभावित थीं जहाँ तक पैशाची में लिखित बृहत्कथा से संबंध है उसके जो थोड़े-से अंश उपलब्ध हैं वे इस बात का प्रमाण नहीं देते कि वह लोकप्रिय रचना थी। इन सब बातों का ध्यान हुए, तो बोलचाल की भाषाएँ मिलती कहाँ हैं? मलोरु क

अभिलेखों में, जिनमें वाक्य-विन्यास कट्टर था, और कुछ हद तक बौद्ध तथा जैन धर्म नियमों से संबंधित ग्रन्थों में, जो कर्मकाण्डों से संबंधित अथवा साधारण हैं, और जहाँ तक संस्कृति से उसका संबंध है, वे संस्कृत में निहित संस्कृति से सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके विस्तृत जन-समूह और निम्न स्तरों में प्रचलित होने पर, भारतीय-आर्य भाषा जो वैदिक और ब्राह्मण ग्रन्थों के अंतर्गत भारतीय के इतिहास में उसी समय विशिष्ट रूप में परिष्कृत हो गयी थी, अपना परिष्करण खो देती है और, यदि यह कहा जा सकता है, असंस्कृत हो जाती है। क्या उस पर और गंभीरतापूर्वक सोचने और उसका मूल्यांकन करने पर कम-से-कम कुछ विस्तार से यह दृष्टिगोचर नहीं होता कि जनसमूह ने, जिसने संस्कृत सीखी, अथवा अत्यधिक समान बोलियों ने तथा इसके अतिरिक्त उसके साथ निरन्तर संपर्क के प्रभाव ने उसे प्रभावित किया ?

सिन्धु की प्रागैतिहासिक सभ्यता को तो छोड़ दीजिए, और अब तक वहाँ की भाषा भी अज्ञात है; सीमान्तवर्तिनी यह सभ्यता निस्सन्देह आर्यों के आगमन के समय ही पतित हो चुकी थी—उत्तर में पंजाब के उपजाऊ भूमि भागों में अच्छी भाँति। यह ज्ञात नहीं है कि इस भूमि-भाग के किन निवासियों पर आर्यों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया तथा इससे भी अधिक मुश्किल से यह ज्ञात है कि बाद में उन्होंने किन लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित किया।

इन लोगों का संबंध जन-समूह के उस भाग से स्थापित करने का प्रलोभन होता है जो उस समय तक स्थापित आर्यों के भूमि-भाग के चारों ओर बसे हुए थे और जिनकी भाषाएँ अब भी जीवित थीं। इन भाषाओं में से केवल तिब्बती भारत में पहुँचती है; जो भाषा बुरुशस्की नाम से भली भाँति ज्ञात है, क्या वह कुछ ऐसे तथ्य प्रदान करती है जो तुलनाओं का समर्थन करें ? इसमें अभी देर प्रतीत होती है। द्रविड़ भाषाओं और मुण्डा बोलियों पर ध्यान से यह ज्ञात होता है कि वे वास्तविक भारतीय-आर्य भाषा के संपर्क में थीं।

द्रविड़ भाषा इस प्रायद्वीप के दक्षिण में और बलूचिस्तान के छोटे से भूमि-भाग में है; मुण्डा गंगा के मैदान और पश्चिम से महान् गिरि-शृंखलाओं की ओर जिसकी सहायक नदियाँ बहती रही हैं उस महानदी के मुहाने के बीच छोटा-नागपुर के पठार में बोली जाती है।

अथवा ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रायद्वीप में आर्यों से पहले कम-से-कम दो बार बाहर की जातियाँ आयीं, एक जो अतिप्राचीन प्रतीत होती है और जिसकी उत्पत्ति भी लोग पश्चिम में खोजने का यत्न करते मालूम होते हैं; द्रविड़ों की होती

दूसरी मुण्डा समूह की जिसकी भाषाएँ हिन्द-चीन की मोन्-ख्मेर से संबंधित प्रतीत होती हैं, अन्यथा जैसा कि कुछ लोग देखना चाहते हैं जिनका संबंध उसी दिशा में और दूर की भाषाओं से है। इन दो समुदायों के संबंध में अप्रत्यक्ष रूप से भी प्राचीन काल के लिये हम कुछ नहीं कह सकते किन्तु इधर हाल के इतिहास में उनका भाग बहुत भिन्न रहा है द्रविड़ लोग सभ्य हैं और ईसवी सन् से पहले ही तमिल-भाषियों ने भू-मध्य सागर की ओर समुद्री व्यापार द्वारा समृद्ध राज्य स्थापित किये और कम-से-कम आंशिक रूप में मौलिक परिष्कृत साहित्य को जन्म दिया इसके विपरीत मुण्डा लोगों के संबंध में मुश्किल ही से कोई समस्या है तथा आधुनिक जाति-विज्ञान ने सभ्य भारत के किनारे किनारे कम-से-कम तीस लाख मनुष्यों के छोटे-छोटे समुदायों के रूप में उनका महत्त्व और अस्तित्व स्थापित किया है। इन दोनों समुदायों की भाषाओं में उनके भारतीय-आर्य भाषा के साथ स्थापित सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं यह बात इस कारण भी बतायी जाती है कि आर्यों के आक्रमण से पूर्व ये ही लोग उत्तर भारत में निवास करते थे।

एक ऐसे प्रागैतिहासिक भारत की बड़ी सरलता के साथ कल्पना की जा सकती है जिसमें द्रविड़ लोग अपने से पहले के तथा बाद के लोगों की भांति सिन्धु की निम्न घाटी में गुजरात में और दक्षिण के समुद्री राज्यों में निवास करते थे और जिस भारत में मुण्डा लोग गंगा नदी द्वारा सिंचित भूमि-भाग में और पंजाब के निम्न हिमालय प्रदेश में निवास करते थे दोनों सभ्यताओं के बीच पंजाब के रेतीले भूमि-भाग और गंगा तथा दक्षिण के बीच के पठार का व्यवधान था और उनमें एक ओर मालवा के निकट, और दूसरी ओर सम्भवतः पूर्व की तरफ संपर्क था। बाद को द्रविड़ लोग धीरे-धीरे दक्षिण की ओर हटा दिये गये एक विकसित सभ्यता की वाहक भाषाओं की प्रतिरोध शक्ति के चिह्न आज तक बने हुए हैं (तुल० मराठी और उड़िया में इस संपर्क के चिह्न, दे० पीछे) मुण्डा लोग जो एक ऐसी सभ्यता के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता नहीं रखते थे जिसमें भरत तलवार और बौद्धिक श्रेष्ठता थी पठार के भीतरी भागों में खदेड़ दिये गये। किन्तु दोनों समुदाय आर्यों के उच्चारण तथा व्याकरण पर अपना प्रभाव छोड़ गये हैं और उनकी शब्दावली समृद्ध कर गये हैं।

कुछ हद तक यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है तो भी यह भूल जाने की बात नहीं है कि उत्तर भारत में कुछ भाषाओं के कुछ पूर्णतः लुप्त हो सकते हैं। किन्तु इसके प्रमाण के संबंध में भारी कठिनाइयाँ होंगी दोनों अर्थों का काल-व्यवधान बहुत अधिक है अर्थात् संकेतित भाषाओं की प्राचीन स्थिति लगभग अज्ञात है। द्रविड़ भाग में साहित्यों द्वारा सुरक्षित अपेक्षाकृत प्राचीन अप्रचलित रूप मिलते हैं तथा इसके

अतिरिक्त ऐसे रूप मिलते हैं जो पुनर्निर्माण के अन्य प्रयास करने की दृष्टि से अस्पष्ट भिन्न हैं। मुण्डा भाग में भाषाएँ, जहाँ तक वे ज्ञात हैं, हमारे अनभिज्ञ नेत्रों के सामने या तो बहुत अधिक या बहुत कम भिन्न हो जाती हैं। केवल कुछ आधुनिक प्रमाण मिलते हैं और हिन्द-चीन की बोलियों पर आधारित समरूप अब भी बहुत कम निश्चित हैं।

तो भी हमें समस्या की वास्तविक स्थिति समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

स्थानीय नामों से संबंधित, जिन्होंने यूरोप की प्रागैतिहासिक भाषाओं के संबंध में इतनी बहुमूल्य बातें प्रदान की हैं, का अभी अध्ययन नहीं हुआ। श्री एस० लेवी ने उत्तर भारत के प्राचीन लोगों के कुछ ऐसे नाम बताए हैं जो युग्म हैं और जो ऑस्ट्रो-एशियाटिक की याद दिलाने वाली प्रणाली से साम्य रखते हैं (पुलिन्द-कुलिन्द, कोसल-तोसल, कलिंग-त्रिलिंग प्रकार)। श्री प्रिजिलुस्की का अनुसरण करते हुए, उनमें पंजाब के उदुम्बर तथा ओम का मानवर्गी वर्ग (द्रविड़ जनसमूह? दे० जे० ए-एस० १९२६ I पृ० २५ से आर० ए० एस १९२९ पृ० २७३) भी जोड़ देने चाहिए। इसमें बिना किसी कठिनाई के यह स्पष्ट किया जा सकता है कि संस्कृत शब्दावली के कुछ तत्त्व मुण्डा बोलियों के कारण हो सकते हैं। अन्य के अतिरिक्त श्री प्रिजीलुस्की ने कुछ पौधों के नाम प्रस्तुत किए हैं (दे० 'प्री-एरियन ऐंड प्री-द्रविडियन इन इंडिया' पी० सी० बागची द्वारा अनूदित): ताम्बूल, कदल- और ऋग्वेद में ही भारतीय इषु का स्थान ग्रहण करने वाला बाण और लाङ्गूल (हल, 'मयूर' उधेड़ और डीना भारतीय हैं किन्तु कौशीन में एक विपरीतता भी है)।

दूसरी ओर, वैदिक संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा की शब्दावली के कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो भारोपीय से अज्ञात हैं किन्तु जिनके लिए द्रविड़ भाषा में साम्य मिलते हैं। वेदों में ही कुछ उधार लिए गए शब्द देखने का प्रमाणन होता है, ऋ० उलूखल- अथर्व० मुसल- श० ब्रा० सदानीरा एक नदी (गण्डक?) का नाम, जो बाद को लुप्त हो गया प्रतीत होता है, ही से बराबर प्रमाणित नाम।

ये तथा अन्य निकट की बातें जो न्यूनाधिक मान्य हैं, यह प्रमाणित करती दृष्टिगोचर होती हैं कि आर्य तथा अन्य भाषाओं में कुछ आदान प्रदान हुआ था, किन्तु हमारे पास न तो काल-क्रम है और न शब्द-व्युत्पत्ति-संबंधी प्रमाण हैं जिनके आधार पर यह निश्चित हो सके कि ये भाषा-संबंधी अनुदान वे ही थे जो हमें ज्ञात हैं, और फिर किन-किन शब्दों का आगमन हुआ? ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल दोनों कुलों में से (या हो सकता है अन्य का कोई अज्ञात स्रोत हो) किसमें स्थापित करना चाहिए, न यही ज्ञात होता है कि किस में यह उधार लिया

गया क्योंकि अधिक कुशल आर्य भाषा ने "देशी" भाषाओं पर जोरों से धावा बोल दिया था।

दो बातें तो भी कही जा सकती हैं

एक ओर तो सथाली की शब्दावली की सरसरी परीक्षा यह प्रदर्शित करती है कि उसका हिन्दी के विशेषतः बंगाली और उड़िया के कुछ रूपों के साथ घनिष्ठ और हाल का सम्बन्ध है विपर्यस्त रूप में बंगाली में ही और ग्रामीण बंगाली में सर्वश्री चटर्जी और बागची ने मुण्डा और आर्य भाषाओं का एक नवीन संबंध खोज निकाला है। अस्तु कुछ समय के लिये ही ऐसा प्रतीत होता है कि मुण्डा से आर्य भाषा द्वारा तत्त्वों का लिया जाना बीच के काल में बन्द हो गया होगा और धार्मिक प्रशासकीय तथा आर्थिक कारणों से अब फिर शुरू हो गया है।

द्रविड़ उसके प्राचीनतम ज्ञात रूप से जहाँ तक सम्बन्ध है प्राचीन तमिल साहित्य में संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा से लिये गये शब्दों की काफी संख्या है आधुनिक युग में आर्य भाषाओं द्वारा द्रविड़ भाषाओं से लिये गये एक प्रकार से आये शब्द पश्चिमी भाग के प्रतीत होते हैं (उदा० बी एस० ओ० एस ४ पृ ७४२) दूसरी ओर संस्कृत में प्रवेश पा गये कुछ शब्द आधुनिक भाषाओं में बने नहीं रह सके। इससे ऐसा विचार मे आता है कि सम्पर्क एक प्रकार से पश्चिम की ओर रहा होगा कहना चाहिए आंध्र देश की अपेक्षा मालवा में क्या यह गौरवपूर्ण उज्जैनी थी जो उस भूमि-भाग का केन्द्र थी जहाँ यह बौद्धिक आदान प्रदान हुआ?

यद्यपि ऐसा भले ही हुआ हो शब्दावली का आदान प्रदान ही केवल जो निश्चित है अन्य प्रकार की बातों की दृष्टि से संभावनाएँ प्रकट करता है। इन संभावनाओं का उपयोग करते और उन्हें स्वीकार करते हुए हम कह सकते हैं कि मुण्डा और द्रविड़ उन लोगों की भाषाएँ रही होंगी जिन्हें आर्य भाषा ग्रहण करनी पड़ी अब देखना यह है कि स्वयं आर्य भाषा पर उनका प्रभाव कहाँ तक पड़ा।

सर्वप्रथम ध्वनि-भाग के परिवर्तन-क्रम मे भाषा में जो परिवर्तन उपस्थित किया उससे जन-समूह का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। और, वास्तव मे व्यंजनों की प्रणाली में परिवर्तन उपस्थित करने की दृष्टि से एक प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा। भारतीय आर्य भाषा में स्पर्शों का एक वर्ग है उससे भाषा के पूर्ववर्ती भाग में उच्चारित व्यंजनों की बाधा की जाती है प्राचीनतम संस्कृत में वे दो हैं जो वास्तविक दन्त्य हैं वे और मूर्धन्य। यदि इन दोनों के उद्गमों का कोनसा पक्ष लिया जाय तो वैदिक भाषा में गौण रूप से निकले ह का अस्तित्व -ड स्वर-मध्यग से मानने का प्रलोभन होता है और आधुनिक भाषाओं के एक महत्त्वपूर्ण समुदाय में -ड़-स्वर-मध्यग से। किन्तु द्रविड़ भाषा

में ड़ है जो मुण्डा में नहीं है। दूसरी ओर ड़ का भौगोलिक विभाजन महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है (सिंधी के अतिरिक्त जिसमें ड़ है मूर्धन्य भी) पश्चिमी बोलियों को छोड़ कर उड़िया में जो द्रविड़ प्रभाव से लगी हुई पूर्व की बोली है वह है। इससे हमारे अनुमान का महत्त्व कम हो जाता है जिसकी पूर्व की ओर फैलते समय मुण्डा में भारतीय-आर्य की भाँति एक प्राचीन ध्वनि-भाग नष्ट हो जानी चाहिए।

जहाँ तक दन्त्यों और मूर्धन्यों के विभाजन से संबंध है यह देखा जा चुका है कि उसमें प्रागैतिहासिक आर्य षकार-ध्वनि के कारण प्रारम्भ में हुए परिवर्तन की एक शृंखला के साथ अनुकूलता और नियमित रूप आता है।

भारतीय-आर्य भाषा की ध्वनि प्रणाली की एक विशेष बात है महाप्राण व्यंजनों का अस्तित्व। किन्तु मुण्डा में अथवा कम-से-कम मुण्डा के खेरवारी समुदाय में (कोरा उसमें नहीं है) महाप्राण हैं द्रविड़ में वे नहीं हैं। इस बात को पिछली बात से मिला देने की दृष्टि से इस बात के जानने का लाभ उठाया जा सकता है कि वैदिक -ड़- का स्थान क्लैसीकल संस्कृत में -ळ ग्रहण कर लेता है और इसमें द्रविड़ प्रभाव के बाद मुण्डा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है मुण्डा द्वारा बचाये जाने के मुकाबले द्रविड़ ही महाप्राणों की प्राचीन प्रणाली को नष्ट करने में यथेष्ट न होगी इसके अतिरिक्त यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि द्रविड़ में उसके सामने दक्षिण के नवीन भूमि भागों में जहाँ देशी प्रभाव प्रमाणित किये जाने योग्य नहीं है और बलूचिस्तान (जहाँ ब्राहुई पूर्वी बोली में हाल के कुछ महाप्राण हैं) में फैलते समय महाप्राण लुप्त हो गये होंगे।

यह विवेचन स्मरण रखने की बात है कि महाप्राणों की परिस्थिति वहाँ नहीं थी जो दन्त्यों की थी पहलों का केवल ह्रास रहा जब कि दन्त्यों को पहले ही से आघात पहुँचा और उतनी ही उनमें परिवर्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। आधारों का प्रभाव अनुकूल परिस्थिति के बिना उत्पन्न नहीं होता यही कारण है कि आर्य भाषा किसी चीज को फिर से याद नहीं दिलाती वे चाहे मुण्डा की विशेषता के सूचक अवरुद्ध स्फोटक हों (अघोष व्यंजन) चाहे द्रविड़ भाषा के तालव्यीय व्यंजनों का वर्ग हो। जो अन्य प्रभाव ऐसे आ सकते हैं वे आधुनिक और पूर्णतः स्थानीय हैं एस समझता है मराठी और तेलुगु में आदि (य्)ए (व्)ओ का संयुक्त स्वर-भाव (नागपुर और दक्षिण में भी मात्र) अथवा नराणी-आर्य भाषा में तमिल तथा कुरुख द्रविड़ भाषाओं में कुछ पृथक हो गयीं मुण्डा बोली में अ ओ साथ ही उ से पूर्व तालव्यों का स्पष्ट हो जाना संभवतः तेलुगु के स्वर-संबंधी साम्य और संघाती तथा अंघाती की प्रस्तुत ध्वनियों का भी निकट से देखना आवश्यक है।

इन प्रमाणों को छोड़ कर, एक और समानता की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिसके बिना प्रतिपादित विषय स्पष्ट न हो सकेगा।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में जो एक यह विशेषता मिलती है कि व्यंजन-समुदायों का उच्चारण करना कठिन होता है, यही विशेषता द्रविड़ में भी मिलती है। आपस्तम्ब के श्रौत सूत्र में संस्कृत में घोड़ का एक नया नाम दृष्टिगोचर होता है, घोट जो निश्चित रूप में अश्व का स्थान ग्रहण कर लेता है। इस उधार लिये गये शब्द से (किस भाषा से ?) अमुक प्रकार की कल्पना की जा सकती है जो मुण्डा की दो छोटी-छोटी बोलियों के रूपों में भी दृष्टिगोचर होता है, घोरा कुर्ता गवत घुगा आदि जो निस्सन्देह द्रविड़ से लिये गये हैं। कठोरत्व से यही निष्कर्ष निकलता है। स्वयं द्रविड़ में एक ओर तमिल कुदिरै, कन्नड़ कुदुरे हैं, दूसरी ओर तेलेगु गुर्रमु। अस्तु, आर्य भाषा की भाँति स्वर संबंधी आगम अथवा समुदाय का समीकरण। इसी प्रकार गधे के नाम सं० गर्दभ के सामने—काफ़ी भिन्न—तेलेगु गाडिदे, तमिल कलुदै, किन्तु कन्नड़ कत्तै नहीं मिलते हैं, तुल तमिल कुदर "बछा" तेलेगु गुड्डु, कन्नड़ कुड्डु, तमिल कन्चु, तेलेगु गड्डू, कन्नड़ मडके [प्रसंगवश यह देखा जा सकता है कि कठोर और आदि मुखर (घोष) ध्वनियों की अनियमित प्रतिकूलता से प्रागैतिहासिक द्रविड़ भाषा में महाप्राण व्यंजनों के अस्तित्व की बात सोची जा सकती है]।

यह समरूप केवल संयोगवश ही मुश्किल से हो सकता है। किन्तु यदि उन भाषाओं में समानान्तर बातें हैं, तो क्या समकालीन बातें भी नहीं हैं ?

उनका समय कुछ भी हो, यह प्रवृत्ति भारतीय-आर्य भाषा की भाँति द्रविड़ भाषा में भी स्वर के गुणों की प्रतीति होती है। इस प्रवृत्ति का महाकाव्यों में और मनु द्वारा ज्ञात पुरुषवाचक नाम द्रविड़ से और उसे बशर्ते कि सम्भवतः केवल उधार लिया गया हो, इतिहास में प्राचीन प्रमाण उपलब्ध करने का लोभ होता है, अथवा प्यूटिंगर (टी० ए०) की तालिका में दिमिरीस (Dimirice) पाली महावंश में (पी० दा०) दमिळ- और प्राचीनतम तमिल व्याकरण में तमिळ मिलता है। किन्तु कौन कह सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में बीच की स्थिति नहीं थी ?

तमिल में स्वर-मध्यग स्पर्श ध्वनियाँ मुखर (घोष) हो जाती हैं (तथा उस हालत में उनका सोष्मीकरण हो जाता है), किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा से उसका संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। कुमारिल ने सातवीं शताब्दी में ही कठोर शब्दों का उल्लेख किया है, तथा इसके अतिरिक्त परिवर्तन द्रविड़ भाषा में सर्वत्र नहीं पाया जाता।

यह देखा जा चुका है कि संस्कृत के ए और ओ केवल दीर्घ हैं, किन्तु धीरे-धीरे इन

स्वरों में दो मात्रा-काल उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् ए तथा ओ द्रविड़ और मुण्डा में ह्रस्व या दीर्घ हो जाते हैं। किन्तु ऐसा एक अत्यन्त सामान्य तथा पहले से दिखायी पड़ने वाले तथ्य द्वारा हो जाता है जिससे कोई अन्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता सिवाय इसके कि दीर्घ शब्दों में प्राचीन दीर्घ ए तथा दीर्घ ओ के सामान्य ह्रस्वीकरण में कोई स्थानीय बाधा नहीं थी।

इन सब बातों में केवल जिसका मूर्धन्यों से संबंध है वह निर्विवाद है। आधार के अन्य चिन्हों को विशेषतः द्रविड़ आधार को ढूंढना ठीक होगा।

क्योंकि द्रविड़ भाषा ही है जिसमें आर्य भाषा की बहुत-सी समान बातें मिलती हैं तथा ये साम्य जितने अधिकांशतः गौण हैं उतने ही महत्त्वपूर्ण।

शब्द में पर प्रत्ययों के लगाने का निरंतर प्रयोग और उपसर्गों (पुर: प्रत्ययों) तथा मध्यवर्ती प्रत्ययों का अभाव (आर्य भाषा से जहाँ तक संभव है, लोप) जो मुण्डा में प्रचलित है समुदाय में उपसर्गात्मक अव्ययों और पूर्व-क्रियाओं का अभाव (लोप) भी ऐसा ही है। रूप-रचना में मुण्डा में प्रचलित द्विवचन का अभाव (लोप)। संज्ञाओं में द्विगुण विकरण विकृत विकरण में सबध० क भाव की प्रवृत्ति होने और न्यूनाधिक वास्तविक अर्थ से हीन शब्दों का अनुसरण करने के कारण दो विकरणों वाले पुरुषवाचक सर्वनाम : कर्ता० वाले और मुख्य तथा गौण कर्म कारक वाले (मुण्डा में केवल एक विकरण)।

क्रिया में नामजात रूप तथा परिवर्तनशील लिंग के तीन पुरुष क्रियामूलक विशेष्य का अस्तित्व (मुण्डा में नहीं है) जो वाक्यांशों के संयोजन में और शैलीगत अथवा व्याकरण-संबंधी भाव वाले संयुक्त या मिश्र वाक्यावली की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है सिंहली किय अप० अणिवि म० मह्णून् मै० बहुलिये बंगाली बोलिया का तमिल ऐनृ तेलेगू अनि कन्नड़ एन्तु "कह कर पर" से स्पष्टीकरण करने के लिये साम्य है यह साम्य केवल दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं द्वारा प्रमाणित है, कुरुख गोंड में मुण्डा की भांति यह नहीं है (इस संबंध में भी सोरा मुण्डा-समुदाय से अलग रहती है दे० आर० वी० राममूर्ति §१७९)। अनुमान की बात है किन्तु इससे ऐसी अन्य बातों की तुलना करने के लिये प्रोत्साहन मिलता है जिनके लिए दक्षिण की भाषाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

जहाँ तक तुलनीय अभिव्यंजनाओं से तथा उदाहरणार्थ द्वित्व-युक्त तथा प्रतिध्वनित (दे० पीछे) शब्दों से संबंध है, द्रविड़ भाषाओं के समस्त कुलों में सरलता पूर्वक एक लंबी सूची बनायी जा सकती है।

नकारात्मक बातें भी हैं कर्मवाच्य उपपद तुलना की श्रेणी का अभाव। किन्तु

जहाँ पूर्वोल्लिखित बातें कुछ सिद्ध हो सकती हैं, वे कुछ भी सिद्ध नहीं होतीं। विशेषतः द्रविड़ और मुण्डा में अज्ञात वर्गों का आर्य भाषा में सुरक्षित रहने की बात पर ध्यान रखना होगा, एक ओर संबंधवाचक तथा सर्वनामवाचक वाक्यांश, दूसरी ओर विशेषण अथवा अन्य संज्ञा से साम्य रखने वाली संज्ञा। कभी-कभी प्रसंगवश यह पूछा जा सकता है कि क्या देशी भाषाओं में विशेषण के भाव वाले अन्वयी विकरणों का अस्तित्व आर्यों की साहित्यिक भाषाओं में समासों के स्थान के लिये नहीं है। हर हालत में स्थानीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, मराठी, उड़िया, सिंहली में अपने-अपने ढंग से द्रविड़ 'संबंधवाची कृदन्त' वाक्य-विन्यास के अनुकूल हो गया है, कोई रचना हो उसमें अपरिवर्तनशील विशेषण में कर्त्ता कारक कर्ता की सहभागिता रहती है।

इतने महत्त्वपूर्ण और कुछ बातों में इतने निश्चित साम्य होने पर भी भारतीय-आर्य भाषा का विकास अस्वाभाविकता की सीमा पर नहीं पहुँच जाता। आर्य भाषा का ईरानी के साथ केवल संसरण देखना है जिसमें ज्ञात स्थानीय प्रभाव विशेष प्रकार के हैं, लिंग का लोप एक ऐसे आधार का अनुमान कराता है जो भारतीय आधार से भिन्न है।

दोनों क्षेत्रों में जैसा कि देखा जा चुका है अत्यधिक प्रमुख अंतर ध्वनि क्रम का है। यदि ईरानी के आकृति-विज्ञान पर विचार किया जाय तो विशेष्य अपरिवर्तनशील हो कर (भारत की कुछ भाषाओं में ऐसा है) तुलना के लिये उपयुक्त नहीं रहता, किन्तु विशेषण का वर्ग बना रहता है, सर्वनामों में विकृत विकरण के सामान्यीकरण का प्रतिरूप भारत में मिलता है, प्रकाली का सबसे बड़ा अन्तर यह है जिसके अंतर्गत बाद में आने वाले विशेषण की भाँति प्रयुक्त प्राचीन संबंधवाचक का अभाव आता है (यह इज़ाफ़त है, जो भारत में उर्दू में है)। क्रिया में भारत की भाँति ही प्राचीन वर्तमान का और भूत कृदन्त का विरोध क्रिया रूप में प्रमुख स्थान रखता है, सर्वनाममूलक रूप को समाप्त कर देने और सहायकों के योग के अपने-अपने प्रतिरूप भारत में हैं।

दूसरी ओर भाषा-रेखाओं की सीमाओं का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अतिक्रमण यह प्रकट करता है कि उनके मौलिक संबंध वास्तव में भिन्न-भिन्न नहीं हो जाते। हमें और स्पष्ट रूप से देख लेना चाहिए

दोनों समुदायों में ऋ का प्रयोग बिल्कुल एक-सा नहीं है, अफ़ग़ानी (वंगाव) तथा बर्बरी में उसका ह्रस्व स्वर बनता है जब कि अशोक के अभिलेखों के उत्तर पश्चिमी समुदाय में इस बात का प्रमाण मिलता है कि कुछ भारतीय बोलियों में उसका उपयोग स्वर+र् की भाँति था।

अफ़ग़ानी और बर्गली में मूर्धन्य मिलते हैं। जिनका संबंध अफ़ग़ानी और बर्बरी

स है उन पर दूसरे रूप म विचार किया जा सकता है वास्तव में हम जानते हैं कि ये बोलियाँ बाहर स आयी और भारतीय सभ्यता ने इन लोगों में प्रवेश कर लिया था। अस्तु, -तो युक्त बलूची क्रियामूलक विशेष्य तुल० स० -त्वा और अफ़ग़ानी अस्मी तथा जिप्सी का -अन युक्त प्रेरणार्थक भारत स लिये गये हैं। इस प्रकार पूर्वी ईरान में भारतीय आधार का प्रभाव देखा जा सकता है जिप्सी भाषाएँ सम्भवत इसी भूमिभाग स निकली हैं और साथ ही इससे उनकी कुछ ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताओं और शब्दावली का मिलना य बातें स्पष्ट हो जाती हैं (उदाहरणार्थ अफ़ग़ानी और जिप्सी-भाषा लर्ट् हि० छाटी स० यष्टि। इन्हीं कारणों स अफ़ग़ानी म समवायार्थसूचक (म्ट् प्रकार) और तुलनात्मक का अभाव बताया जा सकता है।

स् और से के बीच की सीमा भारत में नहीं रह जाती जैसे पिछले समय में अशोक की उत्तर-पश्चिम और ह० कुश० की बोलियाँ पर तथा यूरोप की जिप्सी-भाषा (एशियाई जिप्सी भाषा भारत के साथ चलती है) म प्राचीन प्रकार ध्वनियाँ सुरक्षित रहती है कश्मीरी और सिन्धी में स् ह हो जाता है और स्प् स् हा जाता है स्र् स हा जाता है, जैस ईरानी म। ईरानी म भी मिलने वाले एक सूत्र के अनुसार कश्मीरी म पहले आने वाले स्पर्श पर थिन् ध्वनि हावी होते हुए देखा जाता है (दे० पीछे)। अफ़ग़ानी अट्म "आठ" में भारतवर्ष में एक महाप्राण की आशा की जाती है किन्तु ध्यान देना चाहिए कि स्त् बना रहता है।

शाफ़िर का ताल्व्यों को दन्त्य रूप प्रदान करना प्रिय है प्राचीन काल स ईरानी विशेषता का चिन्ह।

खरोष्ठी लिपि म लिखित कुषाण युग के अभिलेखों म प्राचीन काल म भारतीय घोष्म के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, दे० पीछे पर म वह आज भी है। दूसरी ओर महाप्राण भाव का अल्पप्राणीकरण जो शेष भारत में कहीं-कहीं मिलता है दर्द और पंजाबी (यहाँ महाप्राणत्व एक स्वर-सम्बन्धी सुर छोड़ जाता है) में ईरानी की भाँति सामान्य है। प्रसंगवश यह जान लेना चाहिए कि पूर्वी बलूची म कुछ हाल ही में उत्पन्न महाप्राण हैं।

कुछ बातें दोनों शाखा में स एक में भी सामान्य हुए दोनों पक्षों का सीमान्त म अलग कर देता है इस प्रकार स्त् जो स्वतंत्र रूप में फ़ारसी और भारत की "प्राकृत" बोलियों में म् प्रदान करता है किन्तु शेष ईरान म तथा भारत के पश्चिम का प्राचीन बोलियों में स्प् [अशोक० स्पमु (स्वम्) ह० कुश० विस्प (विश्व) अभिज्ञ अस्पमिरि स्पिरमिरि]।

आधुनिक काल तक फ़ारसी में द् हो गया आदि -द् शेष ईरान में मिलता है यह

पश्चिमी भारत में भी बना हुआ है, जब कि पूर्व की ओर वह -र्- हो जाता है। बीच के समय में स्वर-मध्यग -र्- से -ल्- का प्रयोग ईरान के उत्तर-पूर्व और भारत के उत्तर पश्चिमी भागों में (अफ़ग़ानिस्तान में) समान रूप से होता है, जहाँ वह जिप्सी भाषा से सम्बद्ध हो जाता है।

रूप-विचार की दृष्टि से यह देखा जा सकता है कि संबंधवाचक य जो भारतवर्ष में बना रहता है और अत्यधिक महत्त्व ग्रहण कर लेता है, उत्तर-पश्चिम और जिप्सी भाषा में नहीं है जैसे ईरान में नहीं है। क्रिया में सर्वनाममूलक पर प्रत्ययों का प्रयोग भारतवर्ष में ईरानी सीमा की ओर स्थानीय हो जाता है, दूसरी ओर भारतीय सीमा की ईरानी भाषाओं में सम्प्रदानसूचक (स्ट्-स्वार) नहीं है। अफ़ग़ानी बलूची तथा बीच की बोलियों में दो विकरणों वाली एक नामधातु प्रणाली है, फ़ारसी और कुर्द में केवल एक रूप है, यह अन्तर, जो विकास की सापेक्षिक तीव्रता के कारण हो सकता है, स्वभावतः पहले वाला की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है।

तत्पश्चात् शब्दावली की बातों को कुछ महत्त्व प्रदान करना भी उपयुक्त है। अब भी दर्द में प्रचलित सं० 'स्त्री' के तुल्य रूप की बलूची में (ऐर्रव) अनुरूपता मिलती है मुत्र में अफ़० मल् परवी मुल् की अनुरूपता है (दे० मौरगैन्सटिएर्न 'एटी० वोक० ऑव पश्तो' पृ० ४८)। थी टवस्की ने सोग्दियन में सिंधी रीम् का सादृश्य देखा है तथा सिंधी बीम् (सं० भ्रम्) कुड़् (सं० क्रुध्) तथा प्राचीन ईरानी में अर्थ-विचार संबंधी सादृश्य देखा है (बी० एस० एस० XXIII पृ० ११४) इसी प्रकार थी टर्नर ने बताया है कि सिंधी बधु अफ़ग़ानी बन की भाँति 'पेन' का अर्थ देता है संस्कृत वन का यह अर्थ वेदों के बाद लुप्त हो गया था। प्राचीनतम वैयाकरणों ने ही काम्बोज में सेर् 'जाना' के अस्तित्व की ओर संकेत किया है तुल० पु० फ़ा० शियव् अ० शैयन् सौग्दियन सेर् (संस्कृत में यही धातु च्यव् रूप धारण कर लेती है और एक दूसरे अर्थ में धारण करती है)। निश्चित रूप से अन्य ऐसे ही सादृश्य हैं और उनसे निस्सन्देह आंशिक रूप में यह ज्ञात होता है कि पूर्व और दक्षिण की ओर फैलने पर संस्कृत शब्दावली में नवीनता आयी किन्तु प्रत्येक युग में उधार लिये गये शब्दों को अलग करना कठिन है वैदिक बार् जिसमें आदि महाप्राण दृष्टिगोचर होता है संभवतः, जैसा कि श्री हर्टेल ने संकेत किया है एक ईरानी शब्द है। इतिहास ने वास्तव में दो सभ्यताओं में एक स्थायी सम्पर्क स्थापित और कार्यान्वित होने में सहायता प्रदान की है एक दूसरे से ग्रहण किये जाने की जिस प्रवृत्ति का यहाँ उल्लेख हुआ है वह इस बात से और भी सुगम हो गयी कि दोनों क्षेत्रों के शब्दों की ध्वनि-संबंधी प्रणाली एक-दूसरे के बहुत निकट है तथा निस्सन्देह हमारी शब्द-व्युत्पत्तियों का एक भाग ऐसे क्रम-

परिवर्तनों की सरलतापूर्वक गणना नहीं करता जो ठीक है, किन्तु जो ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या सिद्ध होते हैं।

अस्तु, इस प्रकार स्थानीय प्रभाव चाहे जितने गहरे रहे हों, उनसे भारतवर्ष की आर्य भाषा ईरान की आर्य भाषा से वास्तव में अलग नहीं हो गयी तथा अन्य भारतीय भाषाओं से बहुत अधिक भिन्न नहीं हो गयी। भारतीय-ईरानी की आन्तरिक शक्ति, संस्कृत का सम्मान, पश्चिम से ऐतिहासिक सम्बन्ध, फ़ारसी का प्रभाव एक ही क्रम में कार्यान्वित हुए हैं। निस्सन्देह अंगरेजी के प्रभाव ने न केवल शब्दावली में किन्तु वाक्य-विन्यास में भी, भारोपीय समुदाय और भारत की परिष्कृत भाषाओं के बीच संबंधों को एकदम और भी अधिक दृढ़ करने में सहायता पहुँचायी है।

पारिभाषिक शब्द-कोश

हिन्दी-अँगरेज़ी

अंत	Desinence
अंत का	Terminal
अंतरंग स्फोट	Implosion
अंतरंग स्फोटक	Implosive
अंतर्भूत स्वयंवाची	Inclusive
अंतर्वर्ती	Intermediary, Internal
अंतस्थ	Liquid
अंत्य रूप	Termination
अंत्य लोप	Apocope
अंश, श्रेणी, मात्रा	Degree
अकर्तृक भाववाचक क्रिया	Impersonal
अकर्तृक कर्मवाच्य	Impersonal Passive
अकर्मक	Intransitive
अकर्मक विकरण	Intransitive Theme
अ-क्रियामूलक	Non-verbal
अक्षरात्मक	Syllabic
अग्रागम	Prothesis
अघोष	Surd
अघोषत्व	Surdity, Unvoicing
अचेतन	Inanimate
अतिरिक्त	Redundant
अतिशयता, तीव्रता, उत्कटता	Intensity
अतिशयार्थक, उत्कर्षमूलक	Intensive
अतीत काल	Preterite

अदर्शन	Elision
अधिकरण कारक	Locative
अनद्यतन भूत सातत्यार्थक भूत	Durative Past
अनन्वित तमबन्त (विशेषण)	Absolute Superlative
अनन्वित संबंध कारक	Absolute Genitive
अनासिक्य	Denasalised
अनियमित क्रिया	Irregular Verb
अनिर्धारण	Indetermination
अनिश्चयवाचक	Indefinite
अनिश्चित क्रियार्थ भेद	Eventual Mood
अनिश्चितता	Eventuality
अनुकूल रूप	Adaptation
अनुकूलता समानता	Apposition
अनुकूलन अनुकूल रूप	Adaptation
अनुधारणात्मक	Conclusive
अनुनासिक	Nasal
अनुनासिकताविहीन अनासिक्य	Denasalised
अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय	Nasal Infix
अनुबंधता योग	Adjunction
अनुमतिबोधक	Permissive
अनुमान	Hypothesis
अनुलेखन-पद्धति	Orthography
अनुसर्ग	Postposition
अनेकाक्षर	Polysyllable
अननिहिति	Epenthesis
अपरिवर्तनीय विकरण	Non-alternant Theme
अनवर्य समुदाय	Multiple Group
अपश्रुति	Ablaut
अपादान	Ablative
अपूर्ण घटनान	Imperfect
अपूर्ण या घटमान कृदन्त रूप	Imperfect Participle

अप्राण तालव्य	Non aspirate Palatal
अभिनिधान	Elision
अभिव्यंजक	Expressive
अभिव्यंजक रूप	Expressive Form
अमूर्त	Abstract
अमूर्तत्व	Abstraction
अयथार्थ	Unreal
अयथार्थ संभाव्य	Unreal Conditional
अर्थ-विचार-संबंधी	Semantics
अर्थानुकूल कर्त्ता	Logical Subject
अर्द्ध-स्वर	Semi vowel
अल्पप्राणीकरण	Deaspiration
अल्पार्थक	Diminutive
अवरुद्ध व्यंजन	Checked Consonant
अवरोध	Obstruction
अवस्थावाची या स्थानवाची पर प्रत्यय	Suffix of Position
अ-विकरणयुक्त	A thematic
अव्यय	Indeclinable
अव्यय कर्म/ उपसर्ग	Preposition
असमापिका	Conjunction, Conjunctive
असमापिका क्रिया	Infinite Verb Conjunctive Participle
असमापिका (धातु)	Infinitive
असम्पन्न भूत	Pluperfect
असाक्षात्	Indirect
असावर्ण्य	Dissimilation
अस्तित्वमूलक क्रिया	Verb of Existence
आकृति-विचार, रूप-विचार	Morphology
आगम	Augment
आगम निवेश	Insertion

आगम संयोग	Affixation
आघात स्वरित होना	Accentuation
आज्ञार्थ	Imperative
आदरसूचक	Honorific
आदरार्थ संभावक प्रकार	Optative
आदर्श	Norm
आदि या मूल या प्रधान स्वराघात	Initial Accent
आदि शब्द	Premier Term
आदेशार्थ	Injunctive
आरम्भिकताबोधक	Inceptive
आर्ष प्रयोग	Archaism
आवृत्ति	Frequency
आवृत्तिमूलक	Anaphoric
आवृत्तिवाला	Redoubled
आशीर्वादात्मक	Precative
आश्रयसूचक क्रियार्थ भेद	Mood of Subordination
आश्रित	Dependent Subordinate
आश्रित वाक्य-योजना	Subordination
आश्रित वाक्य-संयोजक	Subordinating
आश्वसित ध्वनि	Recursive
इच्छार्थक	Desiderative
उच्चरित	Articulated
उच्चारण	Articulation
उत्कर्षता	Intensity
उत्कर्षसूचक	Intensive
उत्कीर्ण लेख	Epigraph
उदात्त	Acute
उदासीन नपुंसक लिंग	Neuter (Gender)
उदासीनता पूर्वकता भाव	Neutralisation

उपपद उपसर्ग	*Article*
उपसर्ग	Affix, Article, Preposition
उपसर्गात्मक अव्यय कर्म प्रवचनीय उपसर्ग अव्यय रूपी उपसर्ग उपसर्ग पूर्वसर्ग	Preposition
ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणति	Mute
एक-मूलक भिन्नार्थी दो शब्दों में से एक युग्मक	Doublet
एकरूपता	Accord
एकांतरकरण	Alternance
एकाक्षरात्मक	Monosyllabic
एकीकरण	Unification
ऐतिहासिक वर्तमान	Historic Present
ओष्ठ्य	Labial
औपम्य सादृश्य	Analogy
कंठद्वारीय	Glottal
कंठ्य	Guttural
कंठ्यौष्ठ्य	Labio-Velar
कंपन	Vibrations
कठोर	Solid
कठोर, अघोष	Surd
कठोरत्व अघोषत्व	Surdity
करण-कारण	Instrumental
कर्ता	Subject
कर्ता कारक	Nominative

कर्तृ कारक	Subject Case
कर्तृवाची	Agent
कर्तृवाची क्रिया	Active Verb
कर्तृवाची संज्ञा	Noun of Agency
कर्तृवाच्य	Active
कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Active Participle
कर्तृ॰ पूर्ण॰	Active Perfect
कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Active Present Participle
कर्म कारक	Accusative, Regime, Objective (Regime)
कर्मणि	Passive
कर्म प्रवचनीय उपसर्ग	Preposition
कर्मवाच्य कर्मणि	Passive
कर्मवाच्य-गत विकरण या मूल रूप	Passive Theme
काकलाघात	Stroke of Glottis
काकल्य	Glottal
कारक	Case
कार्य का न्यायानुकूल कर्ता	Logical Subject of Action
कार्यवाची संज्ञा	Noun of Action
कृत्प्रत्यय	Primary Suffix
कृदन्त क्रियामूलक विशेषण	Participle
कृदन्त-विशेष्य (संज्ञा)	Participle-Substantive
कृदन्ती	Participial
कृदन्ती काल	Participial Tense
कृदन्ती गुणवाचक विशेषण	Participial Epithet
कृदन्ती विकरण या मूल रूप	Participial Theme
कोमल	Sonant
क्रिया की रूप-रचना	Verbal Flexion
क्रियाजात मूल	Verbal Radical

क्रिया-भाव	Verbalisation, Mood
क्रियामूलक	Verbal
क्रियामूलक प्रत्यय	Verbal Desinence
क्रियामूलक वर्तमान	Verbal Present
क्रियामूलक विशेषण	Participle Verbal Adjective
क्रियामूलक विशेष्य	Gerund Gerundive
क्रियामूलक संज्ञा	Verbal Noun
क्रिया-रूप तिङन्त प्रकरण	Conjugation
क्रिया-विशेषण	Adverb
क्रिया-विशेषणमूलक	Adverbial
क्रिया-विशेषणमूलक कर्म कारक	Adverbial Accusative
क्रिया-विशेषणमूलक पर प्रत्यय	Adverbial Suffix
क्रियार्थ-भेद	Mood
क्रियार्थ-भेद-रूप	Modal Form
क्रियात्मक रूप	Verbal Form
क्रियार्थक संज्ञा पूर्वकालिक क्रिया असमापिका (धातु) क्रियामूलक संज्ञा तुमन्त	Infinitive
क्रियामूलक संज्ञा	Infinitive
क्षीणता	Atrophy
गण	Group
गत्यपक	Statical
गुणारोपण	Attribution
गुरु	Long
गौण	Secondary
गौण समासात्	Indirect
गौण धातु	Secondary Root
गौण प्रत्यय	Secondary Desinence
गौण या विकृत संक्षिप्ति	Secondary Abridgement

कर्तृ कारक	Perfect Progressive
कर्तृवाची	Future Progressive
कर्तृवाची क्रिया	Present Progressive
कर्तृवाची संज्ञा	Spirant
कर्तृवाच्य	Sonore
कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रि- पद	Voicing
कर्तृ० पूर्ण०	Animate
कर्तृवाच्य वर्तमान क्रियामूलक	Living Subject
कम कार…	Scansion
कर्म…	Tsigane (Fr)
	Causative
तत्पुरुष समास	Determinative Compound
तद्धित प्रत्यय	Secondary Suffix
तमबन्त (विशेषण)	Superlative
तालव्य	Palatal
तालव्यपूर्वीय	Prepalatal
तिङ्	Paradigm
तिङन्त-प्रकरण	Conjugation
तीव्रता	Intensity
तुमन्त	Infinitive
तुलना	Comparison
तुलनात्मक (विशेषण)	Comparative
दीर्घ	Prolonged
दीर्घ गुरु	Long
दीर्घ मात्रा	Long Degree
दीर्घ रूप	Long Form

दीर्घस्वता	Elongation
दीर्घ श्रेणी दीर्घ मात्रा	Long Degree
दुरूह	Complex
दुरूह परसर्ग	Complex Postposition
दुर्बलता	Neutralisation
द्वन्द्व समास	Co-ordinative Compound
द्वयक्षरात्मक	Disyllabic
द्विकर्मक धातु-संबंधी	Factitive
द्विगु	Collective Compound
द्विगुण	Double
द्विगुणन	Gemination
द्वित्व	Doubling
द्वित्वयुक्त पुनरावृत्त आवृत्तिवाला	Redoubled
द्वित्वयुक्त परिवर्तन-क्रम	Double Alternance
धातु	Root
ध्वनि-तत्त्व	Phonology
ध्वनि-ग्राम ध्वनि-श्रेणी स्वनग्राम	Phoneme
ध्वनि-लोप	Haplology
ध्वनि-श्रेणी	Phoneme
ध्वनि-संबंधी	Phonetic
नकारात्मक	Negative
नपुंसक लिंग	Neuter (Gender)
नामजात सामान्य	Nominal
नामजात पर प्रत्यय	Nominal Suffix
नामजात पूरक	Nominal Compliment
नामजात रूप	Nominal Form
नामजात रूप-रचना	Nominal Flexion
नामजात विकरण	Nominal Theme
नामजात विकृत रूप	Nominal Oblique

नामधातु श्रेणीसूचक	Denominative
नाम प्रत्यय	Nominal Desinence
नाश	Neutralisation
निकला हुआ	Derivated
निजवाचक	Reflective
नित्य	Primary
नित्य संबंधी	Co-relative
निपात	Particle
नियम	Formula
नियमित रचना	Regular Formation
निरंतरता बोधक	Continuative
निर्देशक	Definite
निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निर्धारक महत्त्व	Determinate Value
निर्धारण	Determination
निर्धारित	Determined
निर्बल	Weak
निवेश	Insertion
निश्चयवाचक	Demonstrative
निश्चयार्थ निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निश्चयार्थ वर्तमान	Definite Present
निश्चित	Definite
न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्ता	Logical Subject
न्यून	Reduced
न्यूनत्व परिवर्तन प्रह्रासन	Reduction
पद	Term
पद-समष्टि	Phrase
पर-प्रत्यय (अथवा केवल प्रत्यय)	Suffix
परसर्ग अनुसर्ग	Postposition

परिवर्तन	Reduction, Alteration
परिवर्तन-क्रम एकान्तरकरण	Alternance
परिवर्तनीय मूल	Alternant Radical
परिस्थितिसूचक कारक	Circumstantial Case
पश्चगामी	Regressive
पुनरावृत्त	Geminated, Redoubled
पुनरावृत्ति (जोर देने के लिये) द्वित्व, मम	Gemination
पुनरावृत्तिमूलक	Iterative
पुनर्निर्मित रूप	Refection
पुरःप्रत्यय	Prefix
पुराघटित	Perfect
पुराघटित अतीत	Past Perfect
पुराघटित कृदन्त पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पुराघटित भविष्य	Future Perfect
पुराघटित वर्तमान	Present Perfect
पुरुष (उत्तम मध्यम प्रथम)	Person (First, Second Third)
पुरुषवाचक	Personal
पुरुषवाचक क्रिया	Personal Verb
पुरोगमन	Progression
पुरोगामी	Progressive
पुरोगामी सामान्यीकरण	Progressive Normalisation
पूरक	Complement
पूर्ण	Absolute
पूर्ण पुराघटित	Perfect
पूर्णकारी	Perfective
पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पूर्ण (या अनन्वित) तमवन्त (विशेषण)	Absolute Superlative
पूर्णताबोधक	Completive
पूर्ण संबंधकारक अनन्वित संबंधकारक	Absolute Genitive

पूर्व	Anterior
पूर्वकालिक कृदन्त	Absolutive
पूर्वकालिक क्रिया	Infinitive
पूर्व क्रिया	Preverb
पूर्व-प्रत्यय-संबंधी	Pre-desinencial
पूर्वसर्ग	Preposition
पृच्छापरोक्ष प्रश्नोत्तर	Interpellation
प्रकार, क्रियार्थ-भेद क्रिया भाव	Mood
प्रकार-विषयक	Modal
प्रगतिबोधक वर्तमान पुरोगामी	Progressive
प्रगृह्य	Hiatus
प्रतिध्वनित शब्द	Echo-Word
प्रत्यक्ष	Direct
प्रत्यक्ष रूप में	*Directly*
प्रत्यय अंश	*Desinence, Suffix*
प्रत्ययांश	Enclitic
प्रधान	Initial
प्रधान स्वर	Cardinal Vowel
प्रभाव	Rection
प्रयोगार्थक	Tentative
प्रवेशसूचक वर्तमान	Ingressive Present
प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक	Interrogative
प्रश्नोत्तर	Interpellation
प्रह्रासन	Reduction
प्राचीन वर्तमान	*Ancient Present*
प्राणागम	Aspiration
प्रातिपदिक	Radical
प्रातिपदिक संज्ञा	Radical Noun
प्राथमिक	Primary
प्रारम्भिक क्रिया	Inchoative Verb
प्रेरणार्थक धातु, णिजन्त	Causative

प्रेरणार्थक धातु-मूलक संज्ञा	Causative Noun
फुसफुसाहट वाली ध्वनि	Whispered
बंधन	Obligation
बंधनद्योतक या बंधनसूचक	Adjective of Obligation
बल	Reinforcement, Accent
बलाघात	Stress, Accent
बहुपदी समुदाय अपवर्त्य समुदाय	Multiple Group
बहुव्रीहि	Compound of Appurtenence
भविष्यत्कालिक कृदन्त	Future Participle
भाववाचक अमूर्त	Abstract
भाववाचकत्व अमूर्तत्व	Abstraction
भाववाचक क्रिया	Impersonal
भाववाचक संज्ञा	Abstract Noun
भावे प्रयोग	Neuter Participle
भाषा-रेखा समभ्रंश-रेखा	Isogloss
भूतकालिक क्रियामूलक रूप	Past Verbal Form
भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Past Participle
भूत संभाव्य	Past Conditional
मंद	Dull
मध्य कृदन्त	Middle Participle
मध्यवर्ती	Interior
मध्यवर्ती अन्तर्वर्ती	Intermediary
मध्यवर्ती परिवर्तन क्रम	Internal Alternance
मध्यवर्ती प्रत्यय	Infix
मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)	Interior Aspirate
मध्यवर्ती समानता	Internal Apposition

मध्य स्पर्श	Mi-occlusive
महत्व	Value
महाप्राण	Aspirate
महाप्राण तालव्य	Aspirate Palatal
मात्रा	Degree
मात्रा-काल	Quantity
मात्राकालिक	Quantitative
मिश्र यौगिक संयुक्त	Periphrastic
मिश्र संयुक्त दुरूह	Complex
मुखर	Sonore
मुखरता	Sonority
मुख्य निर्देशक या निश्चित	Definite
मुख्य मूल साक्षात् प्रत्यक्ष	Direct, Proper
मुख्य कर्म कारक	Direct Regime
मुख्यतः	Directly
मुख्य प्रत्यय	Primary Desinence
मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद	Definite Article
मूर्द्धन्य	Cerebral
मूर्द्धन्यत्व	Retroflexion
मूल	Initial Direct
मूल प्रातिपदिक	Radical
मूल प्राथमिक, नित्य	Primary
मूल का स्वरात्मक अंश	Vocalic Degree of Radical
मूल क्रिया	Radical Verb
मूल धातु	Primary Root
मूल या प्रातिपदिक संज्ञा	Radical Noun
मूल रूप में साक्षात् रूप में प्रत्यक्ष रूप में मुख्यतः	Directly
मूलवाला परसर्ग	Postposition of Origin
मूल विकरण	Radical Theme
मूल स्वर	Radical Vowel

मूल स्वर-पद्धति	Radical Vocalism
मूल्य	Value
मौलिक	Simple
मौलिक काल	Simple Tense
यथार्थ	Real
यम	Gemination
युग्म	Couple
युग्मक	Doublet
योग या संयोग उपस्थित करना	Agglutinate
योग समुच्चयबोधक असमापिका संभाव्य	Conjunction or Conjunctive
योगात्मक	Agglutinating
यौगिक	Periphrastic, Derivated
रचना	Composition, Formation
रूपमात्र	Morpheme
रूप-रचना	Flexion
रूप-विचार	Morphology
लघु	Short
लङ्-लकार	Aorist
लय-परिवर्तन	Modulation
लयात्मक	Rhythmic
लहजा	Tone, Intonation
लिंग	Gender
लुप्त समुच्चयबोधक	Asyndet
लेखन-प्रणाली	Graphy
लेट्-लकार	Subjunctive
लोकोक्ति-संबंधी वर्तमान	Gnomic Present

वचन	Number
वर्ग	Group
वर्णनात्मक भूत	Narrative Past
वर्ण-विपर्यय	Metathesis
वर्तमान	Present
वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Present Participle
वर्तमान विकरण या मूल रूप	Present Theme
वर्तमान संभाव्य	Present Conditional
वाक्य-रचना	Syntax
वाक्य-विचार	Syntax
वाक्य-विन्यास वाक्य रचना वाक्य विचार	Syntax
वाक्य-विस्तार	Periphrase
वाक्यांश या पद-समष्टि	Phrase
वाक्यों आदि का असम्बद्ध विन्यास	Parataxis
वाच्य	Voice
विकरण	Theme
विकरण-युक्त	Thematic
विकरण-युक्त रूप-रचना	Thematisation
विकरण-युक्त स्वर	Thematic Vowel
विकल्प	Alternative
विकार	Variation
विकृत कर्म कारक	Oblique Regime
विकृत कारक	Oblique Case
विकृत रूप	Oblique
विकृत रूप-संबंधी मूल्य	Oblique Values
विकृत संक्षिप्ति	Secondary Abridgement
विच्छेद	Hiatus
विग्रतापूर्ण वैकल्पिक	Facultative
विधेय	Predicate

विधेयात्मक	Predicative
विधेयात्मक पर प्रत्यय	Predicative Suffix
विपर्यस्त	Inverse
विप्रकर्ष स्वर-भक्ति	Anaptyxis
विभाजक	Disjunctive
विराम	Stop
विरोधवाची या प्रतिरोधक क्रिया-विशेषण	Adversative Adverb
विवृत्ति विच्छेद प्रसृष्ट	Hiatus
विवेचन-सूचक क्रियार्थ-भेद	Mood of Deliberation
विशेष	Forte
विशेषण	Adjective, Epithet
विशेषणमात्र या विशेषण की रूप-रचना	Adjectival Flexion
विशेषणबोधक शब्द	Epithet
विशेष्य संज्ञा	Substantive
विषमीकरण असावर्ण्य वैषम्य	Dissimilation
विस्तार	Extension
वैकल्पिक	Facultative
वैकल्पिक सामान्यीकरण	Facultative Normalisation
वैषम्य	Dissimilation
व्यंजन-संबंधी विकरण या मूल रूप	Consonantal Theme
व्याकरण का प्रत्यय शब्द-रूप शब्द रूपावली	Accidence
व्याकरणीय कर्ता	Grammatical Subject
व्याप्ति	Enlargement
व्युत्पत्ति	Derivation
व्युत्पन्न	Derivated
व्युत्पन्न रूप	Derivative
शकार ध्वनि	Hissing Sound
शक्यताबोधक	Potential
शब्द, पद	Term

शब्द-बाहुल्य युक्त, स्वार्थिक	Pleonastic
शब्द-रूप	Inflexion
शब्द-रूपावली	Accidence
शब्द-रेखा	Isogloss
शब्द-व्युत्पत्ति शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र	Etymology
शब्दांश	Syllable
शिन्-ध्वनि	Sibilant
शून्य	Zero
शून्य पर-प्रत्यय	Zero Suffix
शून्य प्रत्यय	Zero Desinence
शून्य रूप	Zero Form
शून्य श्रेणी	Zero Degree
श्रेणी	Degree
श्रेणी-सूचक	Denominative
श्लेष पद	Amphibology
षष्ठी तत्पुरुष	Possessive Compound
संकेत चिन्ह	Notation
संक्षिप्त	Gnomical
संक्षिप्ति	Abridgement
संज्ञा	Noun, Substantive
संज्ञा-रूप सुबन्त प्रकरण	Declension
संज्ञा-रूप-योग्य	Declinable
संध्यक्षर	Diphthong
संप्रदान	Dative
संबंध	Appurtenance, Alliance
संबंध कारक	Genitive
संबंधवाचक	Relative
संबंधवाचक क्रियाविशेषण	Relative Adverb
संबंधवाचक सर्वनाम	Relative Pronoun

संबंधवाची कृदन्त	Participle of Obligation
संबंधवाची तमबन्त (विशेषण)	Relative Superlative
संबंधवाची विशेषण	Adjective of Appurtenance
संबंध-सूचक संज्ञा	Related (Parented) Noun
संबद्ध	Affixed
संबोधन कारक	Vocative
संभावक प्रकार	Optative
संभावनात्मक विशेषण	Adjective of Possibility
संभाव्य	Conditional, Conjunctive
संयुक्त	Complex Group, Periphrastic
संयुक्त क्रियापद	Compound Verb
संयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली	Compound Location
संयुक्त-स्वर, सन्ध्यक्षर	Diphthong
संयोग-रहित पद-क्रम वाक्यों आदि का असंबद्ध विन्यास	Parataxis
संयोजक	Copula
संवृत	Closed
संशयार्थसूचक, लेट्-लकार	Subjunctive
संहिति	Combination
सकर्मक	Transitive
सकर्मक विकरण	Transitive Theme
सकारात्मकता	Affirmation
सततासूचक	Durative
सततासूचक वर्तमान	Present Durative
सबल	Strong
स-भविष्यत्	Sigmatic
समानता	Apposition
समान-वाक्य संयोजक	Co-ordinating
समानाश्रय	Co-ordination
समापिका क्रिया	Finite Verb
समास	Compound

समीकरण	Assimilation
समुच्चयद्योतक	Cumulative Conjunction, Conjunctive
समुदाय वर्ग संयुक्त गण	Group
स-युक्त भविष्यत्	Sigmatic Future
स-युक्त सामान्य अतीत	Sigmatic Aorist
सरल किया हुआ	Simplified
सरल या मौलिक काल	Simple Tense
सरल या सामान्य या मौलिक	Simple
सरलीकरण	Simplification
सर्वनामजात	Pronominal
सर्वनामजात प्रत्यय	Pronominal Suffix
सर्वनामजात विकरण	Pronominal Theme
सर्वनामजात विकृत रूप	Pronominal Oblique Case
सर्वनामजात विशेषण	Pronominal Adjective
सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण	Pronoun-Adjective
सहायक (क्रिया)	Auxiliary
सांख्यिक	Statistic
साक्षात्	Direct
साक्षात् रूप में	Directly
सातत्यार्थक भूत	Durative past
साधारण	Normal
साधारण विकरण	Simple Theme
साधित यौगिक व्युत्पन्न निकला हुआ साधित शब्द व्युत्पन्न रूप	Derivative
साधित धातु, गौण धातु	Secondary Root
सान्निध्य	Juxtaposition
सामर्थ्यबोधक	Acquisitive
सामान्य	Nominal, Simple, Common, Normal
सामान्य (विशेषण)	Positive

सामान्य अतीत लुङ्-लकार	Aorist
सामान्य अतीत-संबंधी विकरण या मल रूप	Aorist Theme
सामान्य कर्मवाच्य	Medio Passive
सामान्यीकरण	Normalisation
सामासिक रूप	Compound Form
सिद्ध धातु मूल धातु	Primary Root
सुप्प्रत्यय उपसर्ग	Affix
सुबन्त प्रकरण	Declension
सुर, लहजा	Intonation Tone
सूक्ष्म भेद	Nuance
सूत्र नियम	Formula
सूत्र या कहावत-संबंधी संक्षिप्त	Gnomical
सोष्म वर्ण	Spirant
स्थान-पूर्ति	Substitution
स्थानवाची पर-प्रत्यय	Suffix of Position
स्थानीय नामों से संबंधित	Toponomastic
स्पर्श	Occlusive
स्पर्शता	Occlusion
स्फोट	Release
स्फोटक ध्वनि	Explosive
स्वरांत वर्ण, कोमल	Sonant
स्वनग्राम	Phoneme
सर्ववाची	Inclusive
स्वर-पद्धति या प्रणाली, स्वरोच्चार पद्धति स्वरान्विति	Vocalism
स्वर-भक्ति विप्रकर्ष	Anaptyxis
स्वर भेदक चिह्न	Diacritical Mark
स्वर-मध्यग	Intervocal
स्वरयंत्रमुखी काकल्य कण्ठद्वारीय	Glottal
स्वर वर्ण या शब्दांश-लोप अदर्शन अभिनिधान	Elision

स्वर-संधि	Contraction
स्वर-संबंधी	Vocalic
स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम या स्वरात्मक एकान्तरण	Vocalic Alternance (Fr)
स्वर-संबंधी प्रत्यय	Vocalic Desinence
स्वराघात	Pitch Accent
स्वराघात बल	Accent
स्वराघात-विहीन शब्दांश	Proclitic
स्वरात्मक एकान्तरण	Vocalic Alternance
स्वरात्मक विकरण या मूल रूप	Vocalic Theme
स्वरान्विति	Vocalism
स्वरित	Circumflex
स्वरित करना	Accentuate
स्वरित होना	Accentuation
स्वरोच्चार	Vocalism
स्वार्थिक	Pleonastic
हेतुक	Causal

अँगरेजी—हिन्दी

Ablative	अपादान
Ablaut	अपश्रुति
Abridgement	संक्षिप्ति
Absolute	पूर्ण
Absolute Genitive	पूर्ण संबंध कारक अनन्वित संबंध कारक
Absolute Superlative	पूर्ण (या अनन्वित) उत्तमावस्था (विशेषण)
Absolutive	पूर्वकालिक कृदन्त
Abstract	भाववाचक अमूर्त
Abstract Noun	भाववाचक संज्ञा
Abstraction	भाववाचकत्व अमूर्तत्व
Accent	स्वराघात बल
Accentuate	स्वरित करना
Accentuation	आघात स्वरित होना
Accidence	व्याकरण का प्रत्यय शब्द-रूप शब्द-रूपावली
Accord	एकरूपता
Accusative	कर्म कारक
Acquisitive	सामर्थ्यबोधक
Active	कर्तृवाच्य
Active Participle	कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रियामूलक विशे
Active Prefect	कर्तृ॰ पूर्ण॰
Active Present Participle	कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त क्रियामूलक विशेषण
Active Verb	कर्तृवाची क्रिया

Actual Present	यथार्थ वर्तमान
Acute	उदात्त
Adaptation	अनुकूलन, अनुकूल रूप
Adjectival Flexion	विशेषणजात या विशेषण की रूप-रचना
Adjective, Adjective Epithet	विशेषण
Adjective of Appurtenance (Possession)	संबंधवाची विशेषण
Adjective of Obligation	संबंधजात या अवश्यसूचक विशेषण
Adjective of Possibility	संभावनात्मक विशेषण
Adjunction	अनुबंधता योग
Adverb	क्रिया-विशेषण
Adverbial	क्रिया-विशेषणमूलक
Adverbial Accusative	क्रिया-विशेषणमूलक कर्म कारक
Adverbial Suffix	क्रिया-विशेषणमूलक पर-प्रत्यय
Adversative Adverb	विरोधवाची या प्रतिषेधक क्रिया-विशेषण
Affirmation	सकारात्मकता
Affix	पुरःप्रत्यय उपसर्ग
Affixation	आगम संयोग
Affixed	संबद्ध
Agent	कर्तृवाची
Agglutinate	योग या संयोग उपस्थित करना
Agglutinating	योगात्मक
Alliance	संबंध
Alteration	परिवर्तन
Alternance	परिवर्तन-क्रम एकान्तरकरण
Alternant Radical	परिवर्तनीय मूल
Alternative	विकल्प
Amphibology	श्लेष पद
Analogy	औपम्य सादृश्य
Anaphoric	आवृत्तिमूलक

पारिभाषिक शब्द-कोश

Anaptyxis	स्वर-भक्ति विप्रकर्ष
Ancient Present	प्राचीन वर्तमान
Animate	चेतन
Anterior	पूर्व
Aorist	सामान्य अतीत लुङ्-प्रकार
Aorist Theme	सामान्य अतीत-संबंधी विकरण या मूल रूप
Apocope	अंत्य वर्ण-लोप
Apposition	अनुकूलता समानता
Appurtenance	संबंध
Archaism	आर्ष प्रयोग
Article	उपपद उपसर्ग
Articulated	उच्चरित
Articulation	उच्चारण
Aspirate	महाप्राण
Aspirate Palatal	महाप्राण तालव्य
Aspiration	प्राणागम (हकार) महाप्राणीकरण
Assimilation	समीकरण
Asyndet	लुप्त समुच्चयबोधक
A-thematic	अ-विकरणयुक्त
Atrophy	क्षीणता
Attribution	गुणारोपण
Augment	आगम
Auxiliary	सहायक (क्रिया)
Cardinal Vowel	प्रधान स्वर
Case	कारक
Causal	हेतुक
Causative	प्रेरणार्थक धातु णिजन्त
Causative Noun	प्रेरणार्थक धातुमूलक संज्ञा
Cerebral	मूर्धन्य

Checked Consonant	अवरुद्ध व्यंजन
Circumflex	स्वरित
Circumstantial Case	परिस्थितिसूचक कारक
Closed	संवृत
Collective Compound	द्विगु
Combination	संहिति
Common	सामान्य
Comparative	तुलनात्मक (विशेषण)
Comparison	तुलना
Complement	पूरक
Completive	पूर्णताबोधक
Complex	मिश्र संयुक्त दुरूह
Complex Postposition	दुरूह परसर्ग
Composition	रचना
Compound	समास
Compound Form	सामासिक रूप
Compound Locution	संयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली
Compound of Appurtenance	बहुव्रीहि समास
Compound Verb	संयुक्त क्रियापद
Conclusive	अनुधारणात्मक
Conditional	संभाव्य
Conjugation	क्रिया-रूप तिङन्त-प्रकरण
Conjunction, Conjunctive	योग समुच्चयबोधक, असमापिका, संभाव्य
Conjunctive Participle	असमापिका क्रिया
Consonantal Theme	व्यंजन-संबंधी विकरण या मूल रूप
Construction	रचना
Continuative	निरन्तरताबोधक
Contraction	स्वर-संधि
Co-ordinating	समान-वाक्य संयोजक
Co-ordination	समानाश्रय

Co-ordinative Compound	द्वन्द्व समास
Copula	संयोजक
Co-relative	नित्य संबंधी
Couple	युग्म
Cumulative	समुच्चयबोधक
Dative	संप्रदान
Deaspiration	अल्पप्राणीकरण
Declension	संज्ञा-रूप सुबन्त प्रकरण
Declinable	संज्ञा-रूप-योग्य
Definite	मुख्य निर्देशक निश्चित
Definite Article	मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद
Definite Present	निश्चयार्थ वर्तमान
Degree	अंश श्रेणी मात्रा
Demonstrative	निश्चयवाचक
Denasalised	अनुनासिकत्वविहीन अनासिक्य
Denominative	नामधातु, श्रेणीसूचक
Dependent.	आश्रित
Derivated	साधित यौगिक व्युत्पन्न निकला हुआ
Derivation	व्युत्पत्ति
Derivative	साधित शब्द, व्युत्पन्न रूप
Desiderative	इच्छार्थक
Desinence	प्रत्यय अंत
Determinate Value	निर्धारक महत्त्व
Determination	निर्धारण
Determinative Compound	तत्पुरुष समास
Determined	निर्धारित
Diacritical Mark	स्वर-भेदक चिन्ह
Diminutive	अल्पार्थक
Diphthong	संयुक्त-स्वर, संध्यक्षर
Direct	मुख्य मूल साक्षात्, प्रत्यक्ष

Directly	मूल रूप में, साक्षात् रूप में, प्रत्यक्ष रूप में मुख्यतः
Direct Regime	मुख्य कर्म कारक
Disjunctive	विभाजक
Dissimilation	विषमीकरण असावर्ण्य वैरूप्य
Disyllabic	द्वयक्षरात्मक
Double	द्विगुण
Double Alternance	द्वित्वयुक्त परिवर्तन क्रम
Doublet	एक-मूलक विभिन्नार्थी दो शब्दों में एक युग्मक
Doubling	द्वित्व
Dull	मंद
Durative	सततता-सूचक
Durative Past	अनद्यतन भूत सातत्यार्थक भूत
Echo Word	प्रतिध्वनित शब्द
Elision	स्वर-वर्ण या पदांश-लोप, अवर्जन, अभिनिधान
Elongation	दीर्घरूपता
Enclitic	प्रत्ययांश
Enlargement	व्याप्ति
Epenthesis	अपनिहिति
Epigraph	उत्कीर्ण लेख
Epithet	विशेषणबोधक शब्द
Etymology	शब्द-व्युत्पत्ति शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र
Eventuality	अनिश्चितता
Eventual Mood	अनिश्चित क्रियार्थ-भेद
Explosive	स्फोटक ध्वनि
Expressive	अभिव्यंजक
Expressive Form	अभिव्यंजक रूप
Extension	विस्तार

Factitive	द्विकर्मक धातु-संबंधी
Facultative	विकल्पपूर्ण वैकल्पिक
Facultative Normalisation	वैकल्पिक सामान्यीकरण
Finite Verb	समापिका क्रिया
Flexion	रूप-रचना
Formation	रचना
Formula	सूत्र नियम
Forte	विशेष
Frequency	आवृत्ति
Future Participle	भविष्यत्कालिक कृदन्त
Future Perfect	पुराघटित भविष्य
Future Progressive	घटमान भविष्यत्
Geminated	पुनरावृत्त
Gemination	पुनरावृत्ति (जोर देने के लिये) द्विगुणन यम
Gender	लिंग
Genitive	संबंध कारक
Gerund, Gerundive	क्रियामूलक विशेष्य
Glottal	स्वर-यंत्रमुखी काकल्य कंठद्वारीय
Gnomical	सूत्र या कहावत-संबंधी संक्षिप्त
Gnomic Present	लोकोक्ति-संबंधी वर्तमान
Grammatical Subject	व्याकरणीय कर्ता
Graphy	लेखन-प्रणाली
Group	समुदाय वर्ग संयुक्त गण
Guttural	कंठ्य
Haplology	ध्वनि-लोप
Hiatus	विवृत्ति विच्छेद प्रगृह्य
Hissing Sound	षकार ध्वनि
Historic Present	ऐतिहासिक वर्तमान

Honorific	आदरसूचक
Hypothesis	अनुमान
Imperative	आज्ञार्थ
Imperfect	अपूर्ण वर्तमान
Imperfect Participle	अपूर्ण या वर्तमान कृदन्ती रूप
Impersonal	अकर्तृक भाववाचक क्रिया
Impersonal Passive	अकर्तृक कर्मवाच्य
Implosion	अंतरंग स्फोट
Implosive	अंतरंग स्फोटक
Inanimate	अचेतन
Inceptive	आरम्भिकताद्योतक
Inchoative Verb	प्रारंभिक क्रिया
Inclusive	अन्तर्भूत सर्वनामी
Indeclinable	अव्यय
Indefinite	अनिश्चयवाचक
Indetermination	अनिर्धारण
Indicative	निश्चयार्थ निर्देशक क्रिया-भाव
Indirect	गौण असाक्षात्
Infinite Verb	असमापिका क्रिया
Infinitive	क्रियार्थक संज्ञा पूर्वकालिक क्रिया असमापिका (तुमुन्) क्रियासूचक संज्ञा तुमन्त
Infix	मध्यवर्ती प्रत्यय
Inflexion	शब्द-रूप
Ingressive Present	प्रवेशसूचक वर्तमान
Initial	प्रधान मूल
Initial Accent	आदि या मूल या प्रधान स्वराघात
Injunctive	आदेशार्थ
Insertion	आगम निवेश
Instrumental	करण कारक

Intensity	अतिशयता तीव्रता उत्कटता
Intensive	अतिशयार्थक उत्कर्षसूचक
Interior	मध्यवर्ती
Interior Aspirate	मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)
Intermediary, Internal	मध्यवर्ती अन्तर्वर्ती
Internal Alternance	मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम
Internal Apposition	मध्यवर्ती समानता
Interpellation	पृच्छावरोध प्रश्नोत्तर
Interrogative	प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक
Intervocal	स्वर-मध्यग
Intonation	सुर, लहजा
Intransitive	अकर्मक
Intransitive Theme	अकर्मक विकरण
Inverse	विपर्यस्त
Irregular Verb	अनियमित क्रिया
Isogloss	भाषा-रेखा शब्द-रेखा
Iterative	पुनरावृत्तिमूलक
Juxtaposition	सान्निध्य
Labial	ओष्ठ्य
Labio-Velar	कंठ्योष्ठ्य
Liquid	अंतस्थ (द्रव वर्ण)
Living Subject	चेतन कर्ता
Locative	अधिकरण कारक
Logical Subject	न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्ता
Logical Subject of Action	कार्य का न्यायानुकूल कर्ता
Long	दीर्घ गुरु
Long Degree	दीर्घ श्रेणी दीर्घ मात्रा
Long Form	दीर्घ रूप

Honorific	आदरसूचक
Hypothesis	अनुमान
Imperative	आज्ञार्थ
Imperfect	अपूर्ण वर्तमान
Imperfect Participle	अपूर्ण या वर्तमान कृदन्ती रूप
Impersonal	अकर्तृक भाववाचक क्रिया
Impersonal Passive	अकर्तृक कर्मवाच्य
Implosion	अंतरंग स्फोट
Implosive	अंतरंग स्फोटक
Inanimate	अचेतन
Inceptive	आरम्भिकताबोधक
Inchoative Verb	प्रारंभिक क्रिया
Inclusive	अन्तर्भूत सर्ववाची
Indeclinable	अव्यय
Indefinite	अनिश्चयवाचक
Indetermination	अनिर्धारण
Indicative	निश्चयार्थ निर्देशक क्रिया-भाव
Indirect	गौण असाक्षात्
Infinite Verb	असमापिका क्रिया
Infinitive	क्रियार्थक संज्ञा पूर्वकालिक क्रिया असमापिका (धातु), क्रियासूचक संज्ञा तुमन्त
Infix	मध्यवर्ती प्रत्यय
Inflexion	शब्द-रूप
Ingressive Present	प्रवेशसूचक वर्तमान
Initial	प्रधान, मूल
Initial Accent	आदि या मूल या प्रधान स्वराघात
Injunctive	आदेशार्थ
Insertion	आगम निवेश
Instrumental	करण कारक

Intensity	अतिशयता, तीव्रता, उत्कर्षता
Intensive	अतिशयार्थक उत्कर्षसूचक
Interior	मध्यवर्ती
Interior Aspirate	मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)
Intermediary, Internal	मध्यवर्ती अन्तर्वर्ती
Internal Alternance	मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम
Internal Apposition	मध्यवर्ती समानता
Interpellation	पृच्छावरोध प्रश्नोत्तर
Interrogative	प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक
Intervocal	स्वर-मध्यग
Intonation	सुर, लहजा
Intransitive	अकर्मक
Intransitive Theme	अकर्मक विकरण
Inverse	विपर्यस्त
Irregular Verb	अनियमित क्रिया
Isogloss	भाषा-रेखा शब्द-रेखा
Iterative	पुनरावृत्तिमूलक
Juxtaposition	सान्निध्य
Labial	ओष्ठ्य
Labio-Velar	कंठ्योष्ठ्य
Liquid	अंतस्थ (द्रव वर्ण)
Living Subject	चेतन कर्ता
Locative	अधिकरण कारक
Logical Subject	न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्ता
Logical Subject of Action	कार्य का न्यायानुकूल कर्ता
Long	दीर्घ गुण
Long Degree	दीर्घ श्रेणी दीर्घ मात्रा
Long Form	दीर्घ रूप

Honorific	आदरसूचक
Hypothesis	अनुमान
Imperative	आज्ञार्थ
Imperfect	अपूर्ण घटमान
Imperfect Participle	अपूर्ण या घटमान कृदन्ती रूप
Impersonal	अकर्तृक भाववाचक क्रिया
Impersonal Passive	अकर्तृक कर्मवाच्य
Implosion	अंतरंग स्फोट
Implosive	अंतरंग स्फोटक
Inanimate	अचेतन
Inceptive	आरम्भिकताद्योतक
Inchoative Verb	प्रारंभिक क्रिया
Inclusive	अन्तर्भूत स्वयंवाची
Indeclinable	अव्यय
Indefinite	अनिश्चयवाचक
Indetermination	अनिर्धारण
Indicative	निश्चयार्थ निर्देशक क्रिया-भाव
Indirect	गौण असाक्षात्
Infinite Verb	असमापिका क्रिया
Infinitive	क्रियार्थक संज्ञा पूर्वकालिक क्रिया असमापिका (धातु) क्रियासूचक संज्ञा तुमन्त
Infix	मध्यवर्ती प्रत्यय
Inflexion	शब्द-रूप
Ingressive Present	प्रवेशसूचक वर्तमान
Initial	प्रधान मूल
Initial Accent	आदि या मूल या प्रधान स्वराघात
Injunctive	आदेशार्थ
Insertion	आगम निवेश
Instrumental	करण कारक

Intensity	अतिशयता तीव्रता उत्कर्षता
Intensive	अतिशयार्थक उत्कर्षसूचक
Interior	मध्यवर्ती
Interior Aspirate	मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)
Intermediary, Internal	मध्यवर्ती अन्तर्वर्ती
Internal Alternance	मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम
Internal Apposition	मध्यवर्ती समानता
Interpellation	पृच्छावरोध प्रश्नोत्तर
Interrogative	प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक
Intervocal	स्वर-मध्यम
Intonation	सुर, लहजा
Intransitive	अकर्मक
Intransitive Theme	अकर्मक विकरण
Inverse	विपर्यस्त
Irregular Verb	अनियमित क्रिया
Isogloss	भाषा-रेखा शब्द-रेखा
Iterative	पुनरावृत्तिमूलक
Juxtaposition	सान्निध्य
Labial	ओष्ठ्य
Labio-Velar	कंठ्यौष्ठ्य
Liquid	अंतस्थ (द्रव वर्ण)
Living Subject	चेतन कर्ता
Locative	अधिकरण कारक
Logical Subject	न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्ता
Logical Subject of Action	कार्य का न्यायानुकूल कर्ता
Long	दीर्घ गुरु
Long Degree	दीर्घ श्रेणी दीर्घ मात्रा
Long Form	दीर्घ रूप

Medio Passive	सामान्य कर्मवाच्य
Metathesis	वर्ण-विपर्यय
Middle Participle	मध्य कृदन्त
Mi-occlusive	मध्य-स्पर्श
Modal	प्रकार-विषयक
Modal Forms	क्रियार्थ-भेद-रूप
Modulation	रूप-परिवर्तन
Monosyllabic	एकाक्षरात्मक
Mood	प्रकार, क्रियार्थ-भेद, क्रिया-भाव
Mood of Deliberation	विवेचनसूचक क्रियार्थ-भेद
Mood of Subordination	आश्रयसूचक क्रियार्थ-भेद
Morpheme	रूपमात्र
Morphology	आकृति-विचार, रूप-विचार
Multiple Group	बहुपदी समुदाय, अपवर्त्य समुदाय
Mute	ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणति
Narrative Past	वर्णनात्मक भूत
Nasal	अनुनासिक
Nasal Infix	अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय
Negative	नकारात्मक
Neuter (Gender)	उदासीन, नपुंसक लिंग
Neuter Participle	भावे प्रयोग
Neutralisation	उदासीनता, दुर्बलता, नाश
Nominal	नामजात, सामान्य
Nominal Complement	नामजात पूरक
Nominal Desinence	नाम प्रत्यय
Nominal Flexion	नामजात रूप-रचना
Nominal Form	नामजात रूप
Nominal Oblique	नामजात विकृत रूप
Nominal Suffix	नामजात पर-प्रत्यय
Nominal Theme	नामजात विकरण

Nominative	कर्त्ता कारक
Non-alternant Theme	अपरिवर्तनीय विकरण
Non aspirate Palatal	अप्राण तालव्य
Non-verbal	अ क्रियामूलक
Norm	आदर्श
Normal	सामान्य साधारण
Normalisation	सामान्यीकरण
Notation	संकेत-चिह्न
Noun	संज्ञा
Noun of Action	कार्यवाची संज्ञा
Noun of Agency	कर्तृवाची संज्ञा
Nuance	सूक्ष्म भेद
Number	वचन
Objective Case (Regime)	कर्म कारक
Obligation	बन्धन
Oblique	विकृत रूप
Oblique Case	विकृत कारक
Oblique Regime	विकृत कर्म कारक
Oblique Values	विकृत रूप-संबंधी मूल्य
Obstruction	अवरोध
Occlusion	स्पर्शता
Occlusive	स्पर्श
Optative	आपरार्थ संभावक प्रकार
Orthography	अनुलेखन-पद्धति
Palatal	तालव्य
Paradigm	तिङ्
Parataxis	संयोग-रहित पद क्रम वाक्यों आदि का असम्बद्ध विन्यास
Participial	कृदन्ती

Participial Epithets	कृदन्ती गुणवाचक विशेषण
Participial Tense	कृदन्ती काल
Participial Theme	कृदन्ती विकरण या मूल रूप
Participle	कृदन्त क्रियामूलक विशेषण
Participle of Obligaton	संबंधवाची कृदन्त
Participle-Substantive	कृदन्त-विशेष्य (संज्ञा)
Particle	निपात
Passive	कर्मवाच्य कर्मणि
Passive Theme	कर्मवाच्य-गत विकरण या मूल रूप
Past Conditional	भूत संभाव्य
Past Participle	भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Past Perfect	पुराघटित अतीत
Past Verbal Form	भूतकालिक क्रियामूलक रूप
Perfect	पूर्ण पुराघटित
Perfect Participle	पुराघटित कृदन्त पूर्ण कृदन्त
Perfective	पूर्णकारी
Periphrase	वाक्य-विस्तार
Periphrastic	मिश्र यौगिक संयुक्त
Permissive	अनुमतिद्योतक
Person (First, Second, Third)	पुरुष (उत्तम मध्यम प्रथम)
Personal	पुरुषवाचक
Personal Verb	पुरुषवाचक क्रिया
Phoneme	ध्वनि-मात्र ध्वनि-श्रेणी स्वनग्राम
Phonetic	ध्वनि-संबंधी
Phonology	ध्वनि-तत्त्व
Phrase	वाक्यांश या पद-समष्टि
Pitch Accent	स्वराघात
Pleonastic	शब्द-बाहुल्य-युक्त स्वार्थिक
Pluperfect	असंपन्न भूत
Polysyllable	अनेकाक्षर

Positive	सामान्य (विशेषण)
Possessive Compound	षष्ठी तत्पुरुष
Postposition	परसर्ग अनुसर्ग
Postposition of Origin	मूलवाला परसर्ग
Potential	शक्यताबोधक
Precative	आशीर्वादात्मक
Pre-desinencial	पूर्व प्रत्यय-संबंधी
Predicate	विधेय
Predicative	विधेयात्मक
Predicative Suffix	विधेयात्मक पर-प्रत्यय
Prefix	पुरःप्रत्यय
Premier Term	आदि शब्द
Prepalatal	तालव्याग्रीय
Preposition	उपसर्गात्मक अव्यय कर्मप्रवचनीय उपसर्ग अव्ययरूपी उपसर्ग उपसर्ग पूर्वसर्ग
Present	वर्तमान
Present Conditional	वर्तमान संभाव्य
Present Durative	सततासूचक वर्तमान
Present Participle	वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Present Perfect	पुराघटित वर्तमान
Present Progressive	घटमान वर्तमान
Present Theme	वर्तमान॰ विकरण या मूल रूप
Preterite	अतीत काल
Preverb	पूर्वक्रिया
Primary	मूल प्राथमिक नित्य
Primary Desinence	मुख्य प्रत्यय
Primary Root	सिद्ध धातु, मूल धातु
Primary Suffix	कृत्प्रत्यय
Proclitic	स्वराघातविहीन पूर्वांग

Progression	पुरोगमन
Progressive	प्रगतिबोधक अग्रगामी पुरोगामी
Progessive Normalisation	पुरोगामी सामान्यीकरण
Prolonged	दीर्घ
Pronominal	सर्वनामजात
Pronominal Adjective	सर्वनामजात विशेषण
Pronominal Oblique Case	सर्वनामजात विकृत रूप
Pronominal Suffix	सर्वनामजात प्रत्यय
Pronominal Theme	सर्वनामजात विकरण
Pronoun-Adjective	सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण
Proper	मुख्य
Prothesis	अग्रागम
Quantitative	मात्राकालिक
Quantity	मात्रा-काल
Radical	मूल या प्रातिपदिक
Radical Noun	मूल या प्रातिपदिक संज्ञा
Radical Theme	मूल विकरण
Radical Verb	मूल क्रिया
Radical Vocalism	मूल स्वर-पद्धति
Radical Vowel	मूल स्वर
Real	यथार्थ
Rection	प्रभाव
Recursive	आस्वलित ध्वनि
Redoubled	द्वित्वयुक्त पुनरावृत्त, आवृत्ति वाला
Reduced	न्यून
Reduction	न्यूनत्व परिवर्तन प्रह्रासन
Redundant	अतिरिक्त
Refection	पुनर्निर्मित रूप

Reflective	निजवाचक
Regime	कर्म कारक
Regressive	पश्चगामी
Regular Formation	नियमित रचना
Reinforcement	बल
Related (Parented) Noun	संबंधमूलक संज्ञा
Relative	संबंधवाचक
Relative Adverb	संबंधवाचक क्रिया-विशेषण
Relative Pronoun	संबंधवाचक सर्वनाम
Relative Superlative	संबंधवाची उत्तमावस्था (विशेषण)
Release	स्फोट
Retroflexion	मूर्धन्यत्व
Rhythmic	लयात्मक
Root	धातु
Scansion	छन्द-मात्रा-गणना
Secondary	गौण
Secondary Abridgement	गौण या विकृत संक्षिप्ति
Secondary Desinence	गौण प्रत्यय
Secondary Root	साधित धातु, गौण धातु
Secondary Suffix	तद्धित प्रत्यय
Semantic	अर्थ-विचार-संबंधी
Semi-vowel	अर्द्ध-स्वर
Short	लघु
Sibilant	शिस्-ध्वनि
Sigmatic	स-भविष्यत्
Sigmatic Aorist	स-युक्त सामान्य अतीत
Sigmatic Future	स-युक्त भविष्यत्
Simple	सरल सामान्य मौलिक
Simple Tense	सरल या मौलिक काल
Simple Theme	साधारण विकरण

Simplification	सरलीकरण
Simplified	सरल किया हुआ
Solid	कठोर
Sonant	स्वनंत वर्ण कोमल
Sonore	घोष मुखर
Sonority	मुखरता
Sonore Whispered	मुखर फुसफुसाहटवाली ध्वनि
Spirant	सोष्म वर्ण
Statical	गत्यर्थक
Statistic	सांख्यिक
Stop	विराम
Stress Accent	बलाघात
Stroke of Glottis	काकलाघात
Strong	सबल
Subject	कर्त्ता
Subject Case	कर्तृ कारक
Subjunctive	संशयार्थसूचक लेट्-लकार
Subordinate	आश्रित
Subordinating	आश्रित वाक्य-संयोजक
Subordination	आश्रित वाक्य-योजना
Substantive	विशेष्य संज्ञा
Substitution	स्थान-पूर्ति
Suffix	पर-प्रत्यय (अथवा केवल प्रत्यय)
Suffix of Position	अवस्थानवाची या स्थानवाची पर-प्रत्यय
Superlative	तमवन्त (विशेषण)
Surd	कठोर, अघोष
Surdity	कठोरत्व अघोषत्व
Syllabic	अक्षरात्मक
Syllable	शब्दांश
Syntax	वाक्य-विन्यास वाक्य-रचना वाक्य विचार

Tentative	प्रयोगार्थक
Term	शब्द पद
Terminal	अंत का
Termination	प्रत्यय रूप
Thematic	विकरण-युक्त
Thematic Vowel	विकरण-युक्त स्वर
Thematisation	विकरण-युक्त रूप-रचना
Theme	विकरण
Tone	सुर, लहजा
Toponomastic	स्थानीय नामों से संबंधित
Transitive	सकर्मक
Transitive Theme	सकर्मक विकरण
Tsigane (Fr.)	जिप्सी-भाषा
Unification	एकीकरण
Unreal	अयथार्थ
Unreal Conditional	अयथार्थ संभाव्य
Unvoicing	अघोषत्व
Value	महत्व मूल्य
Variation	विकार
Verbal	क्रियामूलक
Verbal Adjective	क्रियामूलक विशेषण
Verbal Desinence	क्रियामूलक प्रत्यय
Verbal Flexion	क्रिया की रूप-रचना
Verbal Form	क्रियात्मक रूप
Verbal Noun	क्रियामूलक संज्ञा
Verbal Present	क्रियामूलक वर्तमान
Verbal Radical	क्रियाजात मूल
Verbalisation	क्रिया-भाव
Verb of Existence	अस्तित्वमूलक क्रिया

Vibration	कंपन
Vocalic	स्वर-संबंधी
Vocalic Alternance (Fr)	स्वर-संबंधी परिवर्तन क्रम या स्वरात्मक एकान्तरण
Vocalic Degree of Radical	मूल का स्वरात्मक अंश
Vocalic Desinence	स्वर-संबंधी प्रत्यय
Vocalic Theme	स्वरात्मक विकरण या मूल रूप
Vocalism	स्वर-पद्धति या प्रणाली स्वरोच्चार पद्धति स्वरान्विति
Vocative	संबोधन कारक
Voice	वाच्य
Voicing	घोषत्व
Weak	निर्बल
Whispered	फुसफुसाहटवाली ध्वनि
Zero	शून्य
Zero Degree	शून्य श्रेणी
Zero Desinence	शून्य प्रत्यय
Zero Form	शून्य रूप
Zero Suffix	शून्य पर-प्रत्यय

अनुक्रमणिका

लेखकानुक्रमणिका—

ग्रन्थ लेख तथा पत्रिकानुक्रमणिका—